# प्रगतिवाद की रूपरेखा

( साहित्य और समाज के विभिन्न पक्षो तथा
रचनाओ का प्रगति-परक विश्लेषण )

लेखक
मन्मथनाथ गुप्त

१९५२
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली ६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट दिल्ली ६

मूल्य सात रुपये

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्स रोड दिल्ली ६

# चुनौती

प्रगतिवादी साहित्य के इर्द-गिर्द जिस वाद-विवाद का सूत्रपात हिन्दी में आज से कोई बीस वर्ष पहले हुआ था। उसके सम्बन्ध में राग-द्वेष-वर्जित होकर (पर निष्पक्ष होकर नहीं) जिस प्रकार से विचार होना चाहिए, वह अब तक नहीं हो सका। नहीं हो सका इसका कारण यह है कि लोग अपनी-अपनी डफली बजाने के लिए तो तैयार थे दूसरों की सुनने के लिए तैयार नहीं थे। ऐसी परिस्थिति में तत्त्व का निर्णय कैसे होता?

फिर इस बीच में जो राजनैतिक उथल-पुथलें हुईं (जो अब भी जारी है) उनसे साहित्य के वास्तविक लक्ष्य के सम्बन्ध में प्रगतिवादी दृष्टिकोण को अन्तिम रूप से बल मिलते रहने पर भी, कई बार ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे प्रगतिवाद की तरफ लोगों को उँगली उठाने का मौका मिल गया। परिणाम यह हुआ कि प्रगतिवाद के शत्रु तथा मित्र दोनों ऊपर-ऊपर की बातों में ही रह गए। गहराई तक जाने का विशेष मौका ही नहीं आया।

इस पुस्तक में संगृहीत लेखों में (जिनमें से कई नये हैं) मैंने प्रगतिवादी साहित्य के विभिन्न पहलुओं के साथ ही उसके मूल स्रोतों तक जाने की चेष्टा की है। एक तो मैंने इसमें साहित्य को उसके बृहत्तर अर्थ में लिया है जिससे उसमें रेडियो से बोला जाने वाला साहित्य तथा फिल्म पर अभिनय किया जाने वाला साहित्य आ जाय। दूसरा थोड़े में संस्कृति के मूल तत्त्वों पर प्रकाश डालने के लिए कथित भारतीय संस्कृति की जीवित शव-परीक्षा भी की है, तीसरा यह भी दिखलाया है कि सृष्टि-क्रम में मनुष्य का स्थान क्या है? क्योंकि सत्य की यह परिभाषा कुछ बुरी नहीं है कि—

सबार उपरे मानुष सत्य
ताहार उपरे नाई

यानी सबसे बढ़कर मनुष्य ही सत्य है उससे ऊपर कुछ नहीं है, बशर्ते कि मनुष्य अपने को ठीक-ठीक समझे।

पर प्रगतिवाद की विशेषता यह है कि मनुष्य को अपना कच्चा माल मानने पर भी वह भावुकतामय मानवतावाद में बहकर वर्ग-संघर्ष के प्रति अन्धा नहीं है, केवल इतना ही नहीं वह इस संघर्ष में क्रान्तिकारीवर्ग की ओर से हाथ बढ़ाता है।

इच्छा यह थी कि मेरे सारे वक्तव्य के स्पष्टीकरण के लिए यूरोपीय साहित्य के महान् लेखकों के सम्बन्ध में अलग-अलग लेख इस संग्रह में डाल दूँ, कुछ लेख भी तैयार थे, पर यों ही पुस्तक का कलेवर अधिक बढ़ गया देखकर इतने से ही सन्तोष करना पड़ा। लेख अलग-अलग लिखे जाने के कारण कहीं-कहीं पुनरावृत्ति दोष आ गया है, जिससे मैं अपरिचित नहीं हूँ।

**मन्मथनाथ गुप्त**

## विषय-सूची


| | | |
|---|---|---|
| १. | साहित्य में प्रगतिशीलता | १ |
| २. | गुड़िया का घर | ११ |
| ३. | प्रेमचन्द की कला पर सरसरी दृष्टि | २८ |
| ४. | रवीन्द्रनाथ का 'गोरा' | ३६ |
| ५. | प्रेमचन्द का असमाप्त उपन्यास 'मंगल सूत्र' | ४६ |
| ६. | बच्चों के लिए साहित्य की रचना | ६१ |
| ७. | साहित्य का वास्तविक रूप | ६७ |
| ८. | आधुनिक हिन्दी और बंगला-साहित्य | ७१ |
| ९. | कलाकार की स्वतन्त्रता | ८४ |
| १०. | विश्व-साहित्य पर एक सरसरी दृष्टि | ९५ |
| ११. | आधुनिक बंगला-उपन्यास | १०९ |
| १२. | पत्रकार-कला में प्रगतिशील दृष्टिकोण | ११६ |
| १३. | शरच्चन्द्र का उपन्यास | १२१ |
| १४. | क्रान्तिकारी साहित्यकार वाल्टेयर | १२६ |
| १५. | साहित्य का नया कर्तव्य | १३८ |
| १६. | राष्ट्र-निर्माण और रेडियो | १४५ |
| १७. | स्वतन्त्र भारत में अंग्रेजी और अन्य भाषाएँ | १५३ |
| १८. | आंद्रे जिद | १६० |
| १९. | भारतीय संस्कृति | १६६ |
| २०. | सृष्टि-क्रम में मनुष्य का स्थान | १७७ |
| २१. | वर्तमान जगत् में समाचार-पत्र और लोकतन्त्र | १९१ |
| २२. | विद्रोही कवि काज़ी नजरूल | १९७ |
| २३. | ताराशंकर के उपन्यास और कहानियाँ | २०४ |
| २४. | उदयशंकर की | २११ |
| २५. | विज्ञान में बढ़ती हु अनास्था | २१५ |
| २६. | प्रगतिवाद और यौन आचार | २२२ |
| २७. | भारतीय फ़िल्मों में धींगा-धींगी | २३१ |

२८. साहित्यकार और राजनीति २३४
२९. अतीत का मोह २४४
३०. महापुरुषवाद और प्रतिभा का जन्म तथा विकास २५१
३१. टालस्टाय का क्रायटसेर सोनटा २६४
३२. त्याग की झूठी धारणा २७६
३३. विकासवाद और धर्म २८४
३४. प्रगतिवाद की चतुःसीमा ३०५
३५. शरच्चन्द्र की अन्तिम कृति 'जागरण ३१४
३६. गोर्की-साहित्य का सिंहावलोकन ३३३
३७. आक्षेपों का उत्तर ३६६

# प्रगतिवाद की रूपरेखा

## १

## साहित्य में प्रगतिशीलता

कुछ लोगों के निकट प्रगतिशील साहित्य एक हौवा हो चुका है। इसका नाम लेते ही वे ऐसा मुंह बिचका देते हैं मानो यह कोई गर्हित विषय है, जिसका साहित्यिकों के सभ्य समाज में उल्लेख नहीं होना चाहिए था। यह परिस्थिति काफी मजेदार है, क्योंकि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ लेखक श्री प्रेमचन्द केवल प्रगतिशीलों की व्याख्या के अनुसार ही प्रगतिशील नहीं थे, बल्कि वह स्वयं भी अपने को प्रगतिशील कहने लगे थे। १९३६ में अखिल भारतीय प्रगतिशील-संघ का जो प्रथम अधिवेशन हुआ था, वह उसके सभापति थे। उन्होंने इस पद से गर्जना की थी :

"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं•••"

यह तो प्रेमचन्द द्वारा प्रगति की परिभाषा हुई। हम इस पर बाद को आयेंगे कि प्रगतिशीलता क्या है और क्या नहीं, पर यहाँ पर प्रारम्भिक रूप से इस बात को समझ लेना जरूरी है कि प्रगतिशील होना या प्रगतिशीलता का तकाजा करना उतना बड़ा पाप नहीं है जैसा कि कुछ साहित्यकारों ने प्रचार कर रखा है।

प्रगतिशीलता के विरुद्ध जो वातावरण उत्पन्न हुआ है, उसके कारण को भी ढूँढ़ना पड़ेगा, क्योंकि ऐसा किये बिना हम प्रगतिशीलता को उसके उचित उच्चासन पर प्रतिष्ठित करने में समर्थ न होंगे। प्रगतिशीलता पार्टीबन्दी से परे की चीज है; पर भारतवर्ष में कई ऐतिहासिक कारणों से इसको एक अंश तक कम्युनिस्ट पार्टी के साथ एक करके देखा गया था। यही इसके लिए काल साबित हुआ, क्योंकि यह दल कई वर्षों तक जनप्रियता से दूर था।

एक पार्टी के नाते कम्युनिस्ट पार्टी के लिए यह स्वाभाविक था कि वह

जिस भी क्षेत्र में जो भी आन्दोलन चले, उसको अपने दल के लिए काम में लगाने की चेष्टा करे। पर इसका अर्थ यह नहीं कि प्रगतिशील साहित्य का आन्दोलन कम्युनिस्ट पार्टी का आन्दोलन है। प्रेमचन्द किसी पार्टी के नहीं थे, पर वे इस समय तक हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रगतिशील लेखक बने हुए हैं। इस कारण प्रगतिशील साहित्य से इस आधार पर बिदकना कि यह कम्युनिस्ट साहित्य है बिलकुल ऊल-जलूल बात है, और ऐसा करके हम कम्युनिस्टों को बेकार वह महत्व देते हैं जो किसी भी तरह उनको प्राप्य नहीं है।

### कम्युनिस्टों की बपौती नहीं है

यहाँ पर एक बात यह साफ कर दी जाए कि मैं इस लेख में किसी भी तरह भारतीय कम्युनिस्ट दल के विरुद्ध कोई फैसला नहीं दे रहा हूँ। कम्युनिस्ट दल एक राजनैतिक दल है। राजनैतिक सहीपन की कसौटी पर ही उसका ठीक मूल्य कूता जा सकता है और यह इस लेख का विषय नहीं है। मेरा कहना केवल इतना ही है कि प्रगतिशील साहित्य किसी पार्टी विशेष की बपौती नहीं है। 'हरि को भजे सो हरि का होई।' जो प्रगतिशील उद्देश्यों को साहित्य में अपनी जान में या अनजानमें बल पहुँचाता है, उसकी विरोधी प्रवृत्तियों को क्षति पहुँचाता है, वही प्रगतिशील साहित्यिक है ········चाहे वह कम्युनिस्ट हो, चाहे वह सोशलिस्ट हो, चाहे कांग्रेसी हो या कुछ भी न हो। प्रगतिशील दृष्टिकोण को बल पहुँचाने के लिए सबसे पहले इसी बात का स्पष्टीकरण जरूरी है।

प्रेमचन्द ने उसी भाषण में कहा था : '······हम इसका दोष उस समय के साहित्यिकारों पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पन्दित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं, या अध्यात्म और वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका एक-एक शब्द नैराश्य में डूबा, समय की प्रतिकूलता के रोने से भरा और शृङ्गारिक भावों का प्रतिबिम्ब बना हो, तो समझ लीजिए कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाकी नहीं रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं और उसमें से दुनिया को देखने-समझने की शक्ति लुप्त हो गई है।

"परन्तु हमारी साहित्यिक रुचि बड़ी तेजी से बदल रही है। अब साहित्य केवल मन बहलाने की चीज नहीं है, मनोरंजन के सिवा उसका कुछ और भी उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं

सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओं पर भी विचार करता है और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्‌भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूंढता और न अनुप्रास का अन्वेषण करता है, किन्तु उसे उन प्रश्नों से दिलचस्पी है जिससे समाज या व्यक्ति प्रभावित होते हैं। उसकी उत्कृष्टता की वर्तमान कसौटी अनुभूति की वह तीव्रता है जिससे वह हमारे भावों और विचारों में गति पैदा करता है।''

इस लेख के उद्देश्य के लिए इस पहलू का इतना ही स्पष्टीकरण यथेष्ट है; पर जब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की बात छिड़ गई, तो एक बात और साफ कर दी जाय। द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर जब समाजवादी रूस पर हिटलर ने आक्रमण कर दिया, तो यहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी ने छः महीने बाद जन-युद्ध का नारा दिया। इस नारे के अनुसार कुछ कहानियाँ, कविताएँ आदि हिन्दी, बंगला में लिखी गईं। कहा जाता है कि यह साहित्य कम्युनिस्ट पार्टी का साहित्य था, पर इसे साहित्य में स्थान नहीं मिला। दलगत साहित्य और साहित्य हर समय एक ही होंगे ऐसी कोई बात नहीं।

उन दिनों भारतीय जनता जिसमें कांग्रेसी, क्रांतिकारी, सोशलिस्ट...... सभी शामिल थे, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ जीवन-मरण के संग्राम में लिप्त थी। पर कम्युनिस्टों तथा रायिस्टों के द्वारा उत्पादित इस साहित्य में भिन्न ही नारे दिये गए। ऐसी कहानियों, कविताओं को सही रूप से साहित्य में स्थान नहीं मिला। सच तो यह है कि वह सारा साहित्य कूड़ेखाने में पहुँच चुका है। श्री भैरवप्रसाद गुप्त के 'मशाल' नामक उपन्यास से, जिसकी साम्यवादियों ने प्रशंसा की है पता लगता है कि आज़ाद हिन्द फौज के एक भूतपूर्व सैनिक को नायक बनाकर साम्यवादी उपन्यास लिखे जा सकते हैं। स्मरण होगा कि 'पीपुल्स एज' की एक संख्या में आज़ाद हिन्द फौज के प्राण सुभाष बाबू को टोजो का कुत्ता करके दिखाया गया था। भारतीय साम्य-वादियों में कठमुल्लेपन का अन्त नवयुग का सूचक है।

मैंने ऊपर का ऐतिहासिक उदाहरण इस बात को प्रमाणित करने के लिए पेश किया कि प्रगतिशील साहित्य कोई बन्दर नहीं है कि कोई दल अपनी थीसिस बदलने के साथ ही उसको जैसा चाहे वैसा नचाए। यहाँ पर हम इसको भी ध्यान में रख लें कि इसी नाच नचाने की जिद के कारण ही बहुत से बड़े प्रगतिशील साहित्यिक, जैसे ताराशंकर, सुमित्रानन्दन, जोश आदि कम्यु-निस्टों से या तो हट गए या मुंह से उनके साथ एक हद तक बने होने पर भी उनका साहित्य यहीं से उनसे मुक्त हो गया। कई क्षेत्रों में तो इन साहित्यिकों

पर इसकी प्रतिक्रिया इतनी खराब हुई कि वे रहस्यवाद, अश्लीलता, हालावाद आदि के चक्कर में फँस गए। इस ऐतिहासिक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगतिशीलता को किसी दल के पहिए के साथ बाँधकर चलाने की चेष्टा एक व्यर्थ तथा हास्यास्पद प्रयास है, खासकर ऐसे समय में जबकि दल क्रान्तिकारी जनता की विद्रोही भावनाओं के विरुद्ध चल रहा हो। साहित्य जनता से, इस कारण जनता के दल से स्वतन्त्र नहीं हो सकता, क्योंकि तब तो वह कल्पना-विलासी हो जायगा, पर उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित होते ही वह अपने नियमों से गतिशील होकर चलेगा। साहित्य और क्रान्तिकारी का आदर्श सम्बन्ध वह था जो गोर्की और लेनिन के बीच था। क्या इन दोनों में कोई किसी के अधीन था ? बिलकुल नहीं, फिर भी उनमें एक संयोग तथा सम्बन्ध था। वह संयोग तथा सम्बन्ध जनगण के साथ एकात्मता पर अवलम्बित था। दोनों जनगण के अनन्य प्रेमी थे, फिर वे मिलते नहीं तो जाते कहाँ ?

कथित प्रगतिशील लेखक-संघ के १९४३ के अधिवेशन के घोषणा-पत्र को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उसमें बड़े विस्तार के साथ फासीवाद के विरुद्ध युद्ध-घोषणा है, पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद को क्रूर और नालायक कहकर ही साफ निकाल दिया गया है। जब नेतृत्व-हीन भारतीय जनता अपने जीवन-मरण के संग्राम में लिप्त थी, और लाखों व्यक्ति जेलों में सड़ रहे थे, उस समय इस प्रकार के साहित्य की सृष्टि करना, जिसमें जापान तथा जर्मनी के विरुद्ध संग्राम करना ही शौर्य माना गया था, प्रगतिशीलता के साथ बलात्कार था। इसी कारण इस युग में कम्युनिस्टों ने जो साहित्य उत्पन्न किया उसे कूड़ेखाने में ही स्थान मिला। यह उचित ही था। आज उसका कहीं पता नहीं है। हिन्दी के कई अच्छे लेखक जो उन दिनों इस बहाव में बह गए थे, बाद को सँभल गए, यहाँ तक कि उन लोगों ने उस युग की अपनी रचनाओं को दबा दिया।

प्रगति क्या है, अब मैं इस विषय पर आता हूँ, क्योंकि जब तक यह बात स्पष्ट नहीं होगी, तब तक प्रगतिशील साहित्य की पहचान सम्भव नहीं है। प्रगति माने आगे की तरफ गति। जो लोग विकासवाद के सिद्धान्त को चाहे उसके हेगेलीय रूप में, डार्विनीय जीव वैज्ञानिक रूप में अथवा मार्क्सवादी समाज-शास्त्रीय रूप में मानते हैं, उनको प्रगति क्या है·········यह समझना कठिन न होगा। पर ऐसे भी लोग हैं, जो प्रगति के तत्त्व को नहीं मानते।

फासीवादी दार्शनिक समाज की गतिशीलता को आवश्यक नहीं समझते। उनको यह डर है कि कहीं गतिशीलता या अग्रगति के सिद्धान्त को मान लें,

तो फिर यह मानना ही पडेगा कि पूँजीवाद खत्म होगा। जैसे इसके पहले आदिम समाज, फिर गुलाममूलक समाज, फिर सामतवाद और फिर पूँजीवाद आया, उसी प्रकार पूँजीवाद भी एक दिन विनष्ट होगा। इस महाप्रलय से बचने के लिए भाडे के टट्टू दार्शनिको ने कहा कि समाज पर अग्रगति का सिद्धान्त लागू ही नही है, कम-से-कम अब वह सिद्धान्त लागू नही रहा। उन्होने कहा स्थितिशील होकर भी पूँजीवाद रह सकता है।

वाल्टर आयकन ने कहा कि पूँजीवाद बिलकुल स्थितिशील हो जाय, उसे लकवा मार दे, उद्योग-धधो पर नौकरशाही का नियन्त्रण हो, सब आविष्कार तथा उन्नति करीब-करीब रुक जाय, फिर भी पूँजीवाद जी सकता है, उन्होने लिखा है कि "मार्क्स के समय से एक धारणा की उत्पत्ति हुई है कि विस्तारोन्मुख गतिशीलता ही पूँजीवाद का प्राण है। इस गतिशीलता का अन्त हुआ कि पूँजीवाद का अन्त हुआ। बात यह है कि मार्क्स १९ वी सदी के मध्य भाग मे थे, जिस समय पूँजीवाद की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति हो रही थी। इसी से इस प्रवाद की उत्पत्ति हुई। इसके बाद के लोगो के लिए मार्क्स के इस सिद्धान्त की भूल को समझना कठिन न होगा।"

फासीवादियो के मुख्य दार्शनिक नीत्से ने साफ-साफ कहा है कि शोषक और शोषित, भेडिया और बकरी, दोनो ही हमेशा रहेगे यही प्रकृति का नियम है। उनके निकट किसी ऐसे समाज की कल्पना करना, जिसमे मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण नही रहेगा, हास्यास्पद था। उन्होने ही अतिमानव सुपरमैन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। हिटलर और मुसोलिनी मे ससार ने उसका रूप देख लिया है।

मै प्रगति की बात कर रहा था। स्पेगलर ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'पाश्चात्य का ह्रास' मे कहा था कि पाश्चात्य अब आगे नही जा रहा है न जा सकता है। सच तो यह है कि पूँजीवाद का पतन हो रहा था, और हर दस साल, यहाँ तक कि उससे भी पहले आने वाली मन्दी से यही निष्कर्ष निकलता था। इसी को उन्होने पाश्चात्य का ह्रास बताया। जो कुछ भी हो फासीवादी लेखकों ने स्पेगलर के इस उपसहार को मरोडकर कहा कि उन्नति या प्रगति नही हो रही है, तो न हो। इसकी कोई आवश्यकता भी नही। उन्होने कहा कि हमारे फ्यूहरर नेता बरकरार रहे, हम यो ही जी सकते है।

फासीवाद कुछ भी कहे, प्रगति एक सामाजिक सिद्धान्त है, और वह हर समय क्रियाशील है, था और रहेगा। मैने प्रगति को सामाजिक सिद्धान्त कहा, इसका अर्थ यह नही कि वह और क्षेत्रो मे लागू नही होता। मैने इसलिए उसे

एक सीमित रूप मे कहा है कि हमारे वर्तमान विषय प्रगतिशील साहित्य से इसी का सीधा सम्बन्ध है ।

यह स्पष्ट है कि समाज मे निरन्तर विकास हो रहा है। इसका यह अर्थ कदापि नही है कि समाज का मानवीय उपादान यदि कुछ भी प्रयास न करे, तो भी प्रगति होगी । प्रगति मे प्रयास तो अर्तनिहित है। यदि किसी कारण से प्रयास न होगा तो वह समाज प्रगति नही करेगा । पर इसका अर्थ यह नही है कि उसके पहिए अडे रहेगे, और समाज स्थितिशील होकर रहेगा । वह समाज विनष्ट हो जायगा । इतिहास मे ऐसे कई समाज विनष्ट हो गए, दूसरो ने उन पर अधिकार कर लिया, उनको अपने मे जज्ब कर लिया ।

इस कारण प्रगति का एक अनिवार्य उपादान प्रयास है। प्रयास मे विचार-धारा एक बहुत बडी चीज है, और साहित्य, कला आदि विचार-धारा मे ही आ जाते हे । विचार-धारा क्रान्ति अथवा प्रतिक्रिया का एक प्रधान साधन हो सकती है, इसलिए साहित्य प्रगति अथवा प्रतिक्रिया का अस्त्र हो सकता है । स्वाभाविक रूप से वह साहित्य, जो समाज को आगे की ओर ले जाने में मदद देता है, प्रगतिशील है । जो साहित्य समाज को पीछे ढकेलता है, वह प्रतिक्रियावादी है ।

### *क्या अश्लीलता प्रगति है ?*

जो लोग साहित्य-सम्बन्धी प्रगतिशील दृष्टिकोण को नही मानते, वे यह तो मानते ही है कि साहित्य मे कुछ विषयो का प्रोत्साहन नही होना चाहिए, जैसे अप्राकृतिक व्यभिचार । उग्र जी ने इस विषय को लेकर अन्य सभी दृष्टि से अच्छी कुछ कहानियाँ लिखी, पर वे साहित्य मे अपाक्तेय ही समझी गईं । फोटोवत वास्तविकता के दृष्टिकोण से शायद ऐसी कहानियाँ वास्तविकता को प्रतिफलित करती है, पर ऐसी कहानियो को लिखना दोष-जनक इस कारण था कि एक गर्हित अपराध को रोमाटिकता से मडित करके दिखाया गया था। यह समाज-विरोधी कार्य था ।

इसी प्रकार सभी इस बात से सहमत होगे कि अश्लीलता साहित्य का उपजीव्य नही हो सकता । इस प्रकार कुछ 'ना' तो हो ही गए, और जहाँ एक 'ना' को मान लिया यानी एक भी क्षेत्र मे यह मान लिया गया कि बस यहाँ तक, आगे न बढना, तब प्रश्न केवल परिमाण या मात्रा का रह जाता है कि कहाँ तक साहित्य का दायरा है, कहाँ तक नही ।

इस प्रकार सभी लोग परोक्ष रूप से यह मानते है कि साहित्य को केवल

लेखक के स्वात. सुख पर नही छोड दिया जा सकता। उग्र जी का स्वांत सुख चर्राया था कि वे एक गर्हित विषय को रोमाटिक रूप दे, इस कारण उन पर समाज के डडे को गिराना पडा। बनारसीदासजी इस डडे की मूठ बने यह ठीक ही था। क्या कोई कहेगा कि कला कला के लिए है, अतएव वैसी कहानियो को प्रोत्साहन दिया जाना उचित था ? मै तो नही समझता।

साहित्य के सम्बन्ध मे यह कल्पना कि वह एक मदमत्त हाथी है, चाहे जिधर झूम जाय, बहुत ही थोथी बात है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो सभी देशो मे साहित्य अपने आदिम काल से कुछ दूसरा ही उद्देश्य सिद्ध करता रहा है। सभी सभ्यताओ मे आदिम साहित्य धार्मिक ढग के थे, और उनका उद्देश्य था एक आदर्श के नाम पर समाज जैसा है, उसे उसी रूप मे कायम रखना। सगठित धर्मो के उदय के पहले जो कबीले का काव्य था, उसमे भी कबीले को कायम रखने की बात ही होती थी। प्रेम भी कबीले के ढग से होता था।

सब-का-सब कबीला साहित्य तथा धार्मिक साहित्य प्रचार साहित्य है। रामायण, महाभारत, बाइबिल, कुरान भी इसके उदाहरण है। इन पुस्तको मे एक विशेष समाज-पद्धति का गुण गाया है, जिनके द्वारा कथित आर्य, क्रिश्चियन तथा मोमिन जीवनादर्श का स्पष्टीकरण किया गया है, जो उनके प्रतिपादको के अनुसार सबसे उच्च आदर्श थे।

यहाँ तक तो सब ठीक है, पर जब हमारे सामने 'मृच्छकटिक', 'शकुन्तला', 'मेघदूत', 'हैमलेट', 'रोमियो जूलियट', 'डीकैमरान' आदि पुस्तके आती है, यानी ऐसे साहित्य का उदय होता है जिसे धार्मिक साहित्य नही कहा जा सकता, तब हमसे पूछा जाता है कि यह साहित्य क्या है ? इसे स्वीकार करना पडेगा कि ऐसे साहित्य की व्याख्या अपेक्षाकृत कठिन है। पर ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होगा कि इस प्रकार के साहित्य मे भी वे ही नियम क्रियाशील थे, जिनका पहले उल्लेख किया गया है। 'मेघदूत' यद्यपि एक विरही की गाथा है, पर उसका विरह समाज के विशेष अनुकूल है। 'शकुन्तला' एक धार्मिक कहानी का ही रोमाटिक रूप है। शेक्सपियर के नाटको मे बहुत से उपादान है, कुछ क्रान्तिकारी उपादान है, कुछ अपरिवर्तनवादी उपादान है, इनका स्पष्टीकरण एक ब्योरेवार आलोचना में ही हो सकता है। किसी भी लेखक को लीजिए, वह कितनी भी उडान भरे, पर उसका एक आधार होता है। यह आधार जिन विचारो से बना है, उनके साथ एक विशेष सामाजिक व्यवस्था की परिकल्पना मिली हुई है।

तो क्या 'मेघदूत' मे भी मनोरजन के अलावा और कोई बात है ? मै

वह नही कहता। पर यह मनोरजन क्या बला है, इसका भी तो विश्लेषण किया जाय। क्या मनोरजन के साथ एक व्यक्ति के अन्य सारे विचारो का कोई सबध नही है ? यदि हजरत मुहम्मद के शत्रु कुरेशियो को वीर बनाकर और मुहम्मद को खलनायक बनाकर कोई काव्य लिखा जाय, और कितना भी अच्छा लिखा जाय, तो क्या उससे एक भक्त मुसलमान का मनोरजन हो सकता है ? यदि गोडसे को महावीर राम तथा गाधीजी को रावण के रूप मे चित्रित किया जाय, तो उससे कुछ अत्यत गुमराह लोगो के अलावा किसी का मनोरंजन नही होगा। अतएव मनोरजन कहिए, अनुभव का विनिमय कहिए या रस की सृष्टि कहिए, इसके साथ हमारे सस्कारो तथा विचारधाराओ का गहरा सबध है। परकीया प्रेम उच्च वर्ग के साहित्य का एक प्रधान उपजीव्य इस कारण रहा है कि इद्र मे लेकर सब शोषक वर्गो के सदस्यो का परकीया-नुशीलन एक प्रधान कार्य रहा है।

अतएव साहित्य की सामाजिक व्याख्या कोई कपोल कल्पना नही है। अवश्य इसका यह अर्थ कदापि नही है कि जिस रचना मे प्रगति का जितना उत्तम प्रचार होगा वह उतना ही साहित्य होगा। नही, इसके लिए जरूरी यह है कि कोई रचना साहित्य होने के साथ ही प्रगतिशील हो, तभी वह उत्तम कही जा सकेगी। जो लोग 'कला कला के लिए'.... इस प्रकार के नारे देते है, उनको यह स्मरण रखना चाहिए। केवल सोवियत रूस के कलाकार ही नही, आधुनिक युग के सबसे ऊँचे साहित्यिक जैसे, इब्सन, शॉ, गैल्सवर्दी, अनातोल फ्रास, रोम्या रोला, टाल्स्टाय, चेकाफ, अप्टन सिक्लेयर, सिक्लेयर लुइस, रवीद्रनाथ, शरत्, प्रेमचद ... अधिकाश रूप मे प्रगतिशील विचारो को लेकर चले, और उनके साहित्य मे किसी-न-किसी विचार का प्रचार किया गया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि माना, पर मोपासा कौन से विचार लेकर चले ? क्या वे साहित्यकार नही थे ?

इसका उत्तर यह है कि वह साहित्यकार अवश्य थे, पर उनका अधिकाश साहित्य पलायनवादी किस्म का है। जब फ्रासीसियो के सामने बड़ी-बडी समस्याए थी, तब केवल अपनी प्रतिभा का व्यय व्यभिचार लीला के वर्णन में करना उचित नही था। पर यह भी समझना गलत होगा कि ये अर्द्ध अश्लील कहानियाँ सामाजिक व्याख्या से वरी है। जिस प्रकार न्यूटन के पहले भी मध्याकर्षण का नियम (ला ऑफ ग्रेवीटेसन) क्रियाशील था, और ऐसे लोगो तथा चीजो पर भी क्रियाशील है, जो उस नियम से सर्वथा अपरिचित है, उसी प्रकार साहित्य की सामाजिक व्याख्या का नियम भी मोपासा पर घटता है।

मोपासा ने आँख खोलकर उच्च वर्ग के पुरुषो और स्त्रियो को जिस प्रकार देखा, उस प्रकार चित्रित किया। मोपासा की कहानियो मे हम इस सडे-गले वर्ग की मरण-दुन्दुभि सुन सकते हैं। मोपासा ने सभव है अश्लीलता के लिए लिखा हो, पर उनकी उत्पत्ति का कारण तो मौजूद है ही। 'डीमकामैरन', 'लदन रहस्य', 'अलिफलैला' का अश्लील भाग इसी प्रकार का साहित्य है।

यहा पर मोपासा के प्रति न्याय करने के लिए यह बता दिया जाय कि उन्होने १८७१-७२ के फ्रेको प्रयसिन युद्ध पर कुछ कहानियाँ लिखी, जो प्रगतिशील कहानियो के सबसे उत्कृष्ट उदाहरणो मे गिनी जा सकती है।

## *कनस्तर पीटना संगीत नहीं*

कोई भी रचना केवल इस कारण प्रगतिशील साहित्य मे शुमार नही की जा सकती कि उसमे जैसे-तैसे क्राति की विजय दिखलाई गई है। जो भी रचना किसी दल का साहित्य है, खुद-ब-खुद प्रगतिशील साहित्य हो ही गया, यह नही कहा जा सकता। एक तो यह आवश्यक है कि दल प्रगतिशील हो, पर यदि दल प्रगतिशील हो तो भी इतने से ही उसका सारा प्रकाशन साहित्य नही हो जाता। दल का प्रचार साहित्य तो बहुत हो सकता है, पर सही माने मे वह प्रगतिशील साहित्य ही होगा ऐसी कोई बात नही, क्योकि शायद वह साहित्य ही न हो।

साहित्य उसी प्रकार से एक अलग विषय है, जैसे सगीत। कोई यदि क्राति के जोश मे आकर कनस्तर पीट दे और साथ-साथ जोर से चिल्लाए, तो उसके चिल्लाने को महज इसलिए कि वह क्रातिकारी जोश से उद्भूत हुआ है, सगीत नही कहा जा सकता। अक्सर प्रगतिशीलता के व्याख्याकार इस सहज सत्य को भुला देते है।

प्रगतिशील साहित्य की यह व्याख्या कि जो साहित्य प्रगतिशील नही है, वह साहित्य ही नही हो सकता, उस प्रकार का कथन है कि जैसे कोई कहे कि जो सज्जन नही, वह आदमी ही नही। जैसे सज्जन के अलावा दुर्जन भी हो सकते है, उसी प्रकार प्रगतिशील साहित्य के अलावा प्रतिक्रियावादी साहित्य, पलायनवादी साहित्य आदि कई तरह के साहित्य हो सकते है।

जैसा कि कहा जा चुका है, सबसे पहले किसी रचना का साहित्य होना आवश्यक है, तभी वह प्रगतिशील साहित्य हो सकती है ·····इस बात को प्रगतिशील लेखक स्मरण रखे, तो बहुत भला हो। प्रगतिशील साहित्य के कई झूठे दावेदार ही अक्सर प्रगतिशील साहित्य के उपहास के कारणीभूत होते

है। यद्यपि प्रगतिशीलता प्रगति की उत्तरोत्तर व्यापक परिभाषा को अपनाती है, पर प्रगतिशीलता किसी भी हालत मे सत् और असत्......सब रोक-थामों से मुक्ति नहीं दिला देती। जो नए समाज का द्योतक है, उसको लाने में सहायक होता है वह सत् है, जो नए समाज को रोकता है, उसके आगमन के मार्ग मे रोडे अटकाता है, वही असत् है।

यह भी हो सकता है कि एक विचार एक समय में क्रातिकारी हो, बाद मे वही प्रतिक्रिया का रूप ग्रहण कर ले। जब तक एक देश पराधीन होता है, तो वहाँ राष्ट्रीयता प्रगतिमूलक होती है। इसलिए राष्ट्रीयतामूलक सारा साहित्य जिसमे विदेशी साम्राज्यवाद के साथ सग्राम अतर्निहित है, प्रगतिमूलक होता है। पर जब एक स्वतन्त्र देश मे राष्ट्रीयता के तथा राष्ट्रीय उद्योगधधो की वृद्धि के नाम पर मेहनतकश वर्ग को दबाया जाता है, तो राष्ट्रीयता प्रतिक्रियावादी हो जाती है, और उसकी दुहाई देने वाला सारा साहित्य प्रतिक्रियावादी हो जाता है। इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

## *आशावाद का प्रचारक*

हमारे नए स्वतन्त्र देश मे इस बात की आवश्यकता है कि साहित्य लोगो म आशा उत्पन्न कर के नए संग्रामो के लिए हमको तैयार करे। और किसी देश मे कुछ भी हो, हमारे यहाँ साहित्य को साहित्य रहते हुए मुस्तैदी के साथ समाज-रचना मे भाग लेना पडेगा। प्रगतिशील मतवाद का केवल इतना ही कहना है। हम अश्लीलता, पलायनवाद, रहस्यवाद, छायावाद में पडकर अपनी कर्म-शक्ति को विघटित नही होने दे सकते।

२

# गुड़िया का घर

आधुनिक नाट्य साहित्य, बल्कि नाट्य-लेखन-पद्धति के जनक इबसेन के नाम से हिंदी के पाठक उतने परिचित नही है, जितना होना चाहिए। बर्नार्ड शा तथा गैल्सवर्दी-जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के स्वनामधन्य नाटककार भी इबसेनवादी समझे जाते है। इसी से इबसेन का महत्त्व स्पष्ट है। बर्नार्ड शा ने तो 'इबसेनवाद' पर एक पुस्तक भी लिखी है। इबसेन मे सबसे पहले यह विशेषता प्रचडता के साथ दृष्टिगोचर होती है कि वे हमारे समाज को उसके नग्नतम रूप मे हमारे सामने पेश करते है। पहले तो आश्चर्य होता है, हम करीब-करीब फतवा देने को तैयार हो जाते है कि इबसेन जिस जगत को हमारे सामने उपस्थित करते है, उसका कही अस्तित्व नही है, किन्तु जब हम आँखे खोलकर अपने चारो ओर देखते है एव अपने अन्दर दृष्टि दौडाते है तो हमे विवश होकर स्वीकार करना पडता है कि हाँ, हमारा समाज इतना ही ढोगी, हमारे कानून इतने ही अधेरे से भरे, हमारा दापम्त्य प्रेम इतना ही थोथा तथा हमारा शिष्टाचार इतना ही दिखावटी है। आत्मदर्शन कराने की इस सामर्थ्य मे ही इबसेन की महत्ता है।

अब प्रश्न यह है कि इस आत्मदर्शन से अर्थात् अपने सच्चे स्वरूप को जान लेने से हमे लाभ है अथवा हानि ? बहुत से लोग इसका उत्तर देते है कि इससे तो हानि है। वे कहते है कि जब हम जानते है कि एक बात सडी-गली है और रहेगी, यानी सडन एक तरफ से निकाल दी जाय तो वह दूसरी किसी जगह पर जाकर कदाचित् उससे अधिक वेग से विकार पैदा करेगी, इस अवस्था मे बार-बार उसे लोगो की आँखो के सामने उपस्थित करने से क्या लाभ होगा ? वे चाहते है कि कवि तथा नाटककार इन बातो पर मिट्टी डालकर ऐसे दृश्य सामने उपस्थित करे, जिससे कि हमारे चित्त पर उदात्त गम्भीर प्रभाव पडे, हम सौन्दर्य को अधिक निविड रूप से अनुभव कर सके, हमारा प्रेम अधिकतर मधुर हो जाय इत्यादि।

ऐसे लोगो के विषय मे हम यही कह सकते है कि ये निराशावादी हैं तथा मनुष्य-चरित्र की सम्भावनाओ से परिचित नही हैं, तभी वे ऐसी बाते करते है। उनका कथन कदाचित् यह है कि It is foolish to be wise where ignorance is bliss अर्थात् जहाँ पर अज्ञान श्रेयस्कर है वहाँ ज्ञानवान् होना मूर्खता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने इस प्रकार की धारणाओ का भडाफोड कर दिया है, मनोविकलन की प्रक्रिया के द्वारा वे बल्कि किसी अनियमितता के निगूढतम कारण तक ही पहुँचने को उद्यत रहते है, और समझते हैं कि इसको जान लेने के बाद ही उस अनियमितता का इलाज सम्भव है। अस्तु।

प्रस्तुत लेख मे हम इबसेन के एक नाटक की आलोचना करेंगे, तथा जो प्रश्न हमने उठाये है, आलोचना के दौरान पर उन पर प्रकाश डालते जायँगे। हमने आलोचना के लिए इबसेन का 'गुडिया का घर' नामक नाटक चुना है। एक तो यह नाटक बहुत छोटा है, दूसरा यह कि समाज के बहुत से पहलुओ पर इससे रोशनी पड़ती है, इसलिए विशेषकर हमने इसको चुना है।

पहले हम इस नाटक के कथा-भाग के विषय मे पाठको को एक धारणा देने की चेष्टा करेंगे, फिर उस पर आलोचना करेंगे। टर्वाल्ड हेलमर एक युवक हैं, जिसकी आर्थिक दशा पहले बहुत खराब थी, किन्तु कथानक के आरम्भ होते समय वह एक बंक का मैनेजर नियुक्त हुआ है, जिससे वह तथा उसकी सुन्दरी स्त्री नोरा आशा करती है कि अब बुरे दिनो का अन्त हो गया। हेलमर और नोरा मे बडा प्रेम है। हेलमर एक कर्तव्यशील युवक है, अर्थात् वह अपने कोट को अपने कपडे के मुताबिक काटने मे विश्वास करता है, परिश्रमी तथा बुद्धिमान है, स्त्री को हमेशा गिलहरी या बुलबुल कहकर पुकारता है, किसी दूसरी स्त्री से वास्ता नही रखता। पहले ही दृश्य मे हेलमर कहता हुआ नजर आता है "...... नोरा, नोरा ? तुम कैसी अजीब स्त्री हो ? तुम जानती हो, इन मामलों मे मेरे सिद्धान्त क्या है। किसी प्रकार का कोई ऋण नही। घर की जिन्दगी याने गृहस्थी तभी से अस्वच्छन्द तथा कुत्सित हो जाती है, जब से उसकी नीव उधार लेने पर अवलम्बित होती है। हम दोनो ने अब तक बहादुरी से मोरचा लिया है, अब हम अन्तिम मुहूर्त मे आकर हिम्मत न हार देंगे।

नोरा बडे दिन के अवसर पर कुछ खर्च करना चाहती है, इसी पर हेलमर के ये उद्गार हैं।

विवाह के पहले वर्ष मे यानी इस समय से कोई आठ वर्ष पहले हेलमर

बहुत बीमार पडा था, क्योकि उन दिनो उस पर बहुत परिश्रम पडा था। उससे इतना परिश्रम सहन नही हुआ, तथा वह खतरनाक तरीके से बीमार हो गया। तब डॉक्टरो ने कहा कि यदि वह आबहवा बदलने के लिए दक्षिण-यात्रा कर सके तभी खैर है। बेचारे हेलमर के पास इतना धन कहाँ था ? इसके अतिरिक्त हेलमर को यह बात गुप्त भी नही रखनी थी कि वह इतना सख्त बीमार है। अब नारा बिचारी क्या करती, प्रियतम पति की जान कोई एक हजार डालर के लिए जा रही थी। विकट समस्या है। पति की जान बरकरार रहे तो न जाने कितने डालर उसकी उँगलियो से निकल जायँगे।

श्रीमती लिंडेन नोरा की एक सहेली है। वह बडी बुरी अवस्था मे फँसकर नौकरी की तलाश मे आती है, और नोरा के यहाँ बातचीत करती है। वह अपने जीवन-सग्रामो का, याने अपने त्याग तथा परिश्रम का, बखान करती है, जिन पर कि उसको गर्व है। इस पर निम्न लिखित रूप मे सखियो मे बात-होती है:

"नोरा—तो तुमने अपने भाइयो के लिए जो कुछ किया है, उस पर तुम्हें गर्व है ?

श्रीमती लिंडेन—क्या मैने उस गर्व के लिए अधिकार अर्जन नही किया ?

नोरा—अवश्य, बेशक। किन्तु जब बात चल पडी तो मै भी कह देती हू खीस्टिना, मुझे भी किसी बात पर गौरव तथा गर्व है।

श्रीमती लिंडेन—मै इसमे सन्देह नही करती, किन्तु खोलकर कहो।

नोरा—धीरे बोलो। यदि टर्वाल्ड इसे सुन ले तो न जाने क्या हो किसी भी हालत मे वह न सुन पावे, नही, खुदा के वास्ते नही। खिरीस्टिना खबरदार इस बात को तुम्हारे सिवा कोई न जाने। हाँ।

श्रीमती लिंडेन—आखिर बात भी तो कहो।

नोरा—आओ यहाँ आओ (सोफे पर अपने पास खीचकर बिठातीहै) हाँ तो मै भी किसी बात पर गौरव तथा गर्व कर सकती हूँ। मैने टर्वाल्ड की जीवन-रक्षा की।

श्रीमती लिंडेन—जीवन-रक्षा की ? कैसे ?

नोरा—मैने तुमसे हमारी इटली-यात्रा की बाबत कहा है। टर्वाल्ड आज दिन इस यात्रा के बगैर जिंदा न होता।

श्रीमती लिंडेन—हाँ, तुम्हारे पिता ने तुमको उसके लिए धन दिया।

नोरा—(मुस्कराकर) हाँ, टर्वाल्ड तथा सभी ऐसा समझते हैं। किन्तु

श्रीमती लिडन—किन्तु ?

नोरा—पिता ने एक कानी कौडी नही दी। मैने धन प्राप्त किया।

श्रीमती लिडेन—तुमने ? इतना धन ?

नोरा—बारह सौ डालर, अड़तालीस सौ क्राउन। हाँ अब क्या कहती हो ?

श्रीमती लिंडेन—प्यारी नोरा, तुमने इतने धन की कैसे व्यवस्था की ? क्या लाटरी मे जीत गई ?

नोरा—(घृणा के साथ) लाटरी मे ? छि कोई भी अहमक उसमे जीत सकता था।

श्रीमती लिडेन—तो फिर कहाँ से मिला ?

नोरा—(गुनगुनाती है तथा रहस्यमय तरीके से हँसती है) ओ नन-न-न-न-न

श्रीमती लिडेन—तुम उधार तो ले नही सकती थी।

नोरा—नही, क्यो नही ?

श्रीमती लिडन—वाह यह भी कोई बात है,एक स्त्री अपने पति की सम्मति के बिना उधार कब ले सकती है ?

नोरा—(सिर को उछालकर) जब स्त्री कुछ कारोबार समझती है, और जानती है क्या करना चाहिए तब ....."

सच बात तो यह है नोरा ने यह धन उधार लिया था। उसने अपने पिता का नाम उस हैंडनोट पर डाल दिया था, अवश्य इस अपराध के करने में उसका मतलब केवल यह था कि ऋण मिल जाय, बराबर वह किश्त भी अदा करती आ रही थी. और उसका इरादा था कि जल्दी-जल्दी ऋण को चुकता कर दे।

"श्रीमती लिंडेन—क्या तुम्हारे पति को कभी तुम्हारे पिता से नही मालूम हुआ कि धन उन्होने नही दिया ?

नोरा—नही, इसका मौका ही कब मिला। पिताजी उसी जमाने में परलोक सिधार गए। मेरा इरादा था कि सब कुछ उन्हे बता देती, और उनसे कह देती कि दामाद से चुप्पी साधे रहे, किन्तु वे दुर्भाग्य से इतने बीमार पड गए। आवश्यकता पेश ही नही आई।

श्रीमती लिंडेन—और तुमने कभी अपने पति से यह बात स्वीकार नही की ?

नोरा—भला कैसे कर सकती थी, जब कि ऋण के नाम से ही उसको चिढ है। इसके अतिरिक्त टर्वाल्ड की पुरुषोचित आत्म-निर्भरता को इस बात से कितनी चोट पहुँचती कि वह किसी बात के लिए मेरे निकट ऋणी है। इससे हम लोगो का पारस्परिक सम्बन्ध ही बिलकुल बदल जाता, तथा हमारा यह सोने का ससार एकदम विध्वस्त हो जाता।

श्रीमती लिंडेन—तो क्या तुम कभी उन्हे यह बात न बताओगी?

नोरा—( सोचकर मुस्कराती है ) हां, शायद कभी बहुत सालो के बाद जबकि मे इतनी सुन्दर न रहूँगी। हँसो मत, मेरा मतलब यह है कि तब, जब टर्वाल्ड मुझ पर इतना आसक्त नही रहेगा जितना कि अब है। अर्थात् जब कि उसे, मुझे नाचती हुई, फुदकती हुई, बनती हुई, अभिनय करती हुई देखकर इतनी खुशी नही होगी।"

ऋण की किश्तो को अदा करने मे तथा सूद गिनने मे नोरा का प्राणान्त हो जाता है। वह बहुत अच्छी पोशाक पहनना चाहती है, पति भी इसके लिए उसे यथासाध्य धन देता है, किन्तु वह सस्ती पोशाक पहनकर ऋण की किस्त अदा करने के लिए पैसा बचाती है। पैसे कमाने के लिए वह लुक-छिपकर नकल नवीसी का भी काम करती है। उसके जैसी तितली स्वभाव वाली सुन्दरी के लिए ये सब बाते बडी कष्टकर है। किन्तु वह सहर्ष इन बातो को झेलती है। अपनी सखी से वह कह रही है. " .... कभी-कभी नकल करते-करते मे इतना थक जाती थी कि चूर-चूर हो जाती थी। फिर भी इस तरह काम करके धन उपार्जन करने मे कितनी बहादुरी थी। मुझे कभी-कभी ऐसा भासित होता था कि मे एक पुरुष हूँ। ओह!"

अब नाटक मे क्रोगस्टाड नामक एक व्यक्ति आता है। बैंक का मैनेजर होते ही हेलमर कुछ कर्मचारियो को निकाल बाहर करता है। उसमे क्रोगस्टाड भी एक है। यह क्रोगस्टाड वही व्यक्ति है, जिससे नोरा ने ऋण लिया था। क्रोगस्टाड पहले तो हेलमर से कहा-सुनी करता है, किन्तु हेलमर एक बात का आदमी है, वह टस से मस नही होता। किन्तु क्रोगस्टाड के लिए यह नौकरी जोवन-मरण का प्रश्न है। तब वह नोरा के पास जाता है, और उस गुप्त रहस्य को प्रकट करने की धमकी देकर नोरा से कहता है कि वह हेलमर से उसकी सिफारिश करे।

"नोरा—श्रीयुत क्रागस्टाड, मे आपको विश्वास दिलाती हूँ कि आपके विषय मे मेरी सिफारिश चल नही सकती।

क्रौगस्टाड—आप करना नही चाहती, किन्तु स्मरण रहे, मैं आपको इसके लिए बाध्य कर सकता हूँ।

नोरा—आपका मतलब यह अवश्य नही है कि आप मेरा गुप्त रहस्य मेरे पति के निकट प्रकट कर देगे।

क्रोगस्टाड—क्यो नही ? यदि करूँ तो ?

नोरा—आपके लिए शर्म की बात होगी ( कुछ रुआसी होकर )। यह रहस्य, जो कि मेरे जीवन का गौरव तथा गर्व है, इस जघन्य तरीके से खुल जाय, और तुमसे। इससे एक मनमुटाव की सृष्टि होगी, जिसका शायद ...

क्रोगस्टाड—केवल मनमुटाव ?

नोरा—(तैश मे) किन्तु करके ही न देख लीजिए। आपके लिए तो और भी खराब होगा। मेरे पति जी जान जायँगे आप किस कदर खराब आदमी है, फिर तो आपकी नौकरी कभी रहेगी ही नही।

क्रोगस्टाड—क्या आप समझ रही है कि पारिवारिक अशान्ति में ही मामला खत्म हो जायगा ?

नोरा—यदि वह जान जायँ तो अवश्य ही आपको उसी वक्त खड़े-खड़े रुपये दे दिये जायगे, किन्तु बस वही से आपसे सब नाता खतम।

क्रोगस्टाड—( एक कदम आगे बढकर ) श्रीमती हेल्मर, सुनिए, या तो आपकी स्मृति शक्ति बहुत दुर्बल है या कारोबार कुछ समझने का माद्दा आपमे है ही नही। मै परिस्थिति को आपके सामने स्पष्ट किये देता हूँ।

नोरा—कैसे ? कैसे ? कीजिए।

क्रोगस्टाड—जब आपके पति महाशय बीमार थे तो आप मुझसे बाहर सौ डालर उधार लेने आई।

नोरा—मै किसी को जानती ही नही थी।

क्रोगस्टाड—मैने आपको यह धन दिलवाने का वादा किया.....

नोरा—और आपने दिलवाया।

क्रोगस्टाड—मैने आपको यह धन कुछ शर्तों पर दिलवाने का वादा किया था। आप उस समय अपने पति की बीमारी के बारे मे व्यस्त थी तथा रुपया पाने की धुन में इस कदर व्यग्र हो रही थी कि शायद इस मामले की तफसील भूल गई है। मै उन्हे याद दिलाता हूँ। मैने एक हैडनोट के बदले आपको यह धन देना स्वीकार किया।

नोरा—मैंने उस पर हस्ताक्षर किया था।

क्रोगस्टाड—बिलकुल दुरुस्त। किन्तु तब मैंने उसमे कई एक पंक्तियाँ जोड दी, जिसमे आपके पिताजी को इसके लिए जमानतदार बदा गया। आपके पिताजी उस पर दस्तखत करने वाले थे।

नोरा—करने वाले थे? उन्होने किया।

क्रोगस्टाड—मैंने तारीख की जगह खाली छोड दी थी। यानी मेरा मतलब यह था कि आपके पिता उसमे तारीख भी डाल देते। क्या मै कोई गलत तो नही कह रहा हूँ।

नोरा—हाँ, मेरा विश्वास है कि…

क्रोगस्टाड—फिर मैंने वह कागज आपको दे दिया कि आप उस पर दस्तखत करवा दे। क्यो है न यही बात?

नोरा—हाँ।

क्रोगस्टाड—माने लेता हूँ कि आपने कागजात उनके पास भेज दिए, पाँच-छ: दिन के अन्दर आपने पिता के दस्तखत करवाकर कागज मुझे वापस दिया और मैंने धन दे दिया।

नोरा—तो? क्या मै बराबर किस्त ठीक समय पर अदा नही करती रही हूँ।

क्रोगस्टाड—हाँ करीब-करीब, किन्तु जिस बात पर कह रहा था, हाँ तो श्रीमती हेलमर, आप उस समय बडी विपत्ति में थी?

नोरा—अवश्य ही मै विपत्ति मे थी।

क्रोगस्टाड—आपके पिता उस समय शायद बहुत बीमार थे?

नोरा—बीमार क्या, वे उस समय मृत्यु शय्या पर थे।

क्रोगस्टाड—और जल्दी ही परलोक सिधार गए?

नोरा—हाँ।

क्रोगस्टाड—अच्छा श्रीमती जी, क्या आपको उनकी मृत्यु-तिथि याद है, यानी महीने का कौन सा दिन था?

नोरा—पिताजी २६ सितम्बर को परलोकवासी हुए।

क्रोगस्टाड—ठीक, मैंने भी खोज की है। यही पर आकर गडबडझाला होने लगता है (एक कागज निकालता है), जिसका सिर न पैर कुछ समझ मे नही आता।

नोरा—गडबडझाला कैसा? मै नही जानती……

क्रोगस्टाड—मामला जाकर इसी बात पर गड़बड होने लगता है कि

आपके पिता अपनी मृत्यु के तीन दिन बाद इस कागज पर दस्तखत करते हैं।

नोरा—क्या ? मेरी समझ मे नही आता।

क्रोगस्टाड—आपके पिताजी का देहान्त होता है २९ सितम्बर को, किन्तु देखिए वे दस्तखत मे २ अक्तूबर की तारीख डालते है, क्या यह आश्चर्य-जनक नही है ?

नोरा—नही, मैने ही पिता का नाम लिखा था।

क्रोगस्टाड—क्या आप जानती है महाशया कि यह एक खतरनाक स्वीकृति है।

नोरा—क्यो ? आपको शीघ्र ही अपना मूलधन मिल जायगा।

इसके बाद फिर क्रोगस्टाड कहता है—श्रीमती हेलमर, आपको कदाचित् यह बिलकुल पता नही कि आपने क्या किया है, किन्तु मै आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि केवल इतने ही के लिए मै समाज से बहिष्कृत किया गया।

नोरा—आप ? आप मुझे विश्वास दिलाना चाहते है कि आपनें अपनी स्त्री का जीवन बचाने के लिए बडी बहादुरी की।

क्रोगस्टाड—महाशया, कानून उद्देश्य की परवाह नही करता।

नोरा—तो ऐसा कानून बडा खराब भी होगा।

क्रोगस्टाड—खराब हो या अच्छा, यदि मै इस कागज को एक अदालत के सामने पेश करूँ तो आपको कानून के अनुसार सजा मिलेगी।

नोरा—मै इसमे विश्वास नही करती। तो क्या इसका मतलब यह है कि लडकी को अपने मुमूर्षु पिता को फिक्र से बचाने का अधिकार नही है ? या एक पत्नी को अपने पति के जीवन को बचाने का कोई अधिकार नही है ? मै कानून के विषय मे अधिक नही जानती, किन्तु कही-न-कही आपको मिलेगा कि यह निषिद्ध नहीं है।

नोरा हेलमर से क्रोगस्टाड के विषय में अनुरोध करती है, किन्तु हेलमर कुछ नही सुनता। सिफारिश करते-करते नोरा कहती है—क्यो इस क्रोगस्टाड ने ऐसा कौन-सा बडा भारी अपराध किया कि विपत्ति मे पड गया ?

हेमलर—कुछ नही, जालसाजी, जानती हो क्या बला है।

नोरा—क्या ऐसा नही हो सकता कि उसने बडी मुसीबत मे ऐसा किया हो।

हेलमर—हाँ, और ऐसा भी हो सकता है कि हजारो की तरह नासमझी

मे यह काम किया हो । मै इतना निष्ठुर नही हूँ कि एक अपराध के लिए किसी आदमी को नीची निगाह से देखूँ ।

नोरा—नही, अवश्य नही, टर्वाल्ड ।

हेलमर—बहुत से आदमियो का पुनरुद्धार हो सकता है, यदि वे अपने अपराध को स्वीकार करे तथा उसकी सजा ग्रहण करे ।

नोरा—अपराध ?

हेलमर—किन्तु क्रोगस्टाड ने ऐसा नही किया। उसने चालाकियो से मक्कारी से काम लिया, इसी से उसका पतन हुआ ।

नोरा—क्या तुम ऐसा समझते हो ?

हेलमर—जरा सोचो, विवेक पर इतना बडा बोझ उठाते हुए एक आदमी क्या करेगा, वह हमेशा डीग मारेगा तथो ढोग रचेगा । अपनी स्त्री तथा बच्चो के सामने भी वह एक चेहरा लगाये रहेगा नोरा, यह बच्चो के हक में सबसे खराब होता है ।

नोरा—क्यो ?

हेलमर—क्योकि झूठो का ऐसा वातावरण घर के तमाम वायु-मण्डल को विषाक्त कर देता है । लडके जो श्वास लेते है, उसमे बुराई के कीटाणु भरे रहते हैं ।

हेलमर के घर मे एक डाक्टर रैंक आते जाते है, जो तपेदिक से पीडित है, तिल-तिल करके वे निश्चित मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहे हैं। रैंक का पिता असच्चरित्र था, उसकी सजा रैंक को मिल रही है । वे नोरा से कह रहे है — अनुपस्थित लोग बहुत जल्दी भुला दिये जाते हैं ।

नोरा—क्या आप ऐसा समझते है ?

रैंक—लोग नया बन्धन पैदा कर लेते है, और फिर

नोरा—कौन नये बन्धन पैदा करते है ?

रैंक—जब मै मर जाऊँगा तो तुम और हेलमर नये बन्धन पैदा कर लोगी। बल्कि तुम उस समय की अगवानी कर रही हो। कल वह श्रीमती लिडेन यहाँ क्या कर रही थी ?

नोरा—अच्छा तो आप ख्रिस्टीना से ईर्ष्या कर रहे है ?

रैंक—अवश्य, मेरे बाद वही इस घर मे मेरी जाँ-नशीन होगी, जब मै चला गया हूँ, तब शायद यही औरत

नोरा मन मे कल्पना करती है कि इस रैंक से रुपये लेकर उस दुष्ट के रुपये दे दिए जायँ। तदनुसार वह प्रस्ताव भी करती है—डाँक्टर रैंक आप

मुझे एक विपत्ति से बचा ले । आप जानते है कि टर्वाल्ड मुझे कितना प्यार करता है । वह मेरे लिए मिनटो मे जान पर खेल सकता है—

रैंक—क्या एक केवल वही ऐसा है, जो

नोरा—(जरा चौककर) कौन ?

रैंक—ऐसा है जो तुम्हारे लिए प्राण अर्पित कर सकता है ?

नोरा—ओह ? अच्छा ?

रैंक—मैने कसम खा ली है कि मेरी मृत्यु के पूर्व तुम इसे जानोगी। मुझे इससे अच्छा और क्या सुयोग मिलता ? हाँ, नोरा, अब तुम जानती हो, अब तुम यह भी जानती हो, कि तुम मुझमें किस सीमा तक विश्वास कर सकती हो।

नोरा—( शात भाव से खडी होकर ) मुझे जाने दीजिए ।

रैंक—( बैठे ही बैठे रास्ता छोड देता है ) नोरा…

नोरा—डाक्टर रैंक, यह आपकी बहुत खराब बात थी ।

रैंक—( खडा होकर ) क्या मेरी यह बात बहुत खराब थी कि मै तुम्हे किसी तरह प्यार करता हूँ ? क्या यह मेरे लिए बहुत खराब थी ? बहुत ?

नोरा—नही, किन्तु आपने कहा यह खराब था, इसकी कोई आवश्यकता नही थी …

रैंक—क्या कहती हो ? क्या तुम इसे जानती थी ? ( नौकर बत्ती दे जाता है । )

नोरा—यह मै कैसे कह सकती हूँ कि मै क्या जानती हूँ, क्या नही जानती हूँ ।

रैंक—इसी से तो मै रास्ता भूल गया, तुम मेरे लिए एक पहेली हो नोरा ! मुझे यह प्रतीत होता था कि तुम मेरा साथ उतना ही पसन्द करती हो, जितना कि हेलमर का।

नोरा—हाँ, क्या आप नही देखते ? कुछ आदमियो से प्रेम करना अच्छा लगता है और कुछ से बाते करना ।

क्रोगस्टाड को अब चैन नही है, किन्तु हेलमर नही सुनता । नतीजा यह होता है कि क्रोगस्टाड एक चिट्ठी मे सब बातें लिखकर हेलमर के नाम डालता है । नोरा चिट्ठी पढने मे देर करा देती है, किन्तु फिर भी चिट्ठी हेलमर के हाथ मे पडती है ।

चिट्ठी पढकर वही हेलमर, जो कि प्रेम की बडी कवित्वपूर्ण बात करता था, एकदम तेवर बदल देता है । वह नोरा से कहता है—'क्या यह सच है, जो इस पत्र में लिखा है ? नही, नही यह सत्य नही हो सकता ।

नोरा—यह सच है, मैने तुम्हे सबसे बढकर प्यार किया है।

हेलमर—रहने दो, इन उड़नघइयो को रहने दो ।

नोरा—टर्वाल्ड ?

हेलमर—अभागिनी नारी, तुमने यह क्या किया ?—ओह कितना दु खमय जागरण है । इस आठ साल मे मैने जिसे प्यार किया, वह एक ढोगिन है, झूठी है और इससे भी खराब मुजरिम है । ओह कितनी घृणा की बात है, छि छि मुझे इसको पहले जान लेना चाहिए था । तुम्हारे पिता से सब बेईमानी, हॉ बेईमानी, चुप रहो, तुममे आई है, कोई धर्म नही, नीति नही, कर्तव्य-बुद्धि नही । मैने वह तुम्हारी ही खातिर की और तुम्ही ने मेरे साथ ऐसा किया । तुमने मेरा सब सुख मिट्टी मे मिला दिया । तुमने मेरा भविष्य नष्ट कर दिया, मै एक बदमाश के वश मे हूँ, वह जैसा नाच नचावे मुझे वैसा ही नाचना पडेगा । और यह सब विपत्ति मेरे ऊपर एक सिद्धान्तहीन औरत के कारण आती है ।

नोरा—यदि मै मर जाऊँ तब तो तुम स्वाधीन हो जाओगे ।

हेलमर—डीग मारना रहने दो । तुम्हारे पिता को भी यह हथकडा खूब याद था । तुम यदि मर जाओ तो मुझे क्या फायदा होगा ? खाक भी नही । वह इस कहानी को प्रकाशित तो फिर भी कर सकता है। सम्भव है, लोग समझे, इसमे मेरी शरकत थी । हाय तुमने, जिसको कि मैने हमेशा प्यार, स्नेह, आदर किया, मुझे कही का भी न रखा ।

हेलमर जब इस तरह कड़े-से-कडे शब्द कडे-से-कडे तरीके से कह रहा है तो नोरा के नाम से एक पत्र आता है । हेलमर उस पत्र को स्वय खोलता है, और पत्र पढकर एकदम हर्ष से उछल उठता है । श्रीमती लिडेन से क्रोगस्टाड का प्रेम था, किन्तु श्रीमती लिडेन ने अपने परिवार को बचाने के लिए प्रेम न होते हुए भी एक रुपये वाले से शादी की थी । अब वह फिर क्रोगस्टाड के साथ जीवन मे हिस्सेदारी करने के लिए तैयार है । उसी के प्रभाव मे आकर क्रोगस्टाड नोरा के द्वारा जाल किया हुआ कागज लौटा देता है। यह पत्र वही था, इसमे उस कागज को देखकर ही हेलमर उछल पडता है ।

हेलमर—नोरा मै बच गया ।

नोरा—और मै ?

हेलमर—तुम भी, हम दोनो बच गए । नोरा मैने अब तुम्हे क्षमा कर दिया, मै जानता हूँ कि जो कुछ भी तुमने किया, वह मेरे प्रेम के लिए किया ।

अब नोरा के बोलने की वारी है, वह कहती है—बैठो टर्वाल्ड, मुझे तुमसे

बहुत-कुछ कहना है। ठीक है, तुम मुझे समझ नही पा रहे हो, आज के पहले मैने भी तुम्हे कभी नही समझ पाया था। ।बम मत बोलो। सुने जाओ। हम गत आठ वर्षो से विवाह सूत्र मे आबद्ध है किन्तु यह पहली ही दफा मैने तुम्हे जाना, क्या यह बात अजीब नही है हम और तुम गम्भीर रूप से बात कर रहे हैं। पहले पिता ने फिर तुमने मुझ पर बडा अन्याय किया।

हेलमर—क्या ? तुम्हारे पिताजी ने तथा मैने ?—उन लोगो ने जिन्होने कि तुम्हे दुनिया मे सबसे अधिक प्यार किया।

नोरा—तुमने मुझे कभी प्यार नही किया। ऐसा सोचने मे तुम्हे आनन्द मिलता था, बस। जब म घर पर पिताजी के यहाँ थी तो वे मुझमे अपने मत कहा करते थे। मै भी उन्ही मतो का पोषण करती थी। यदि मेरे और मत थे तो मै उन्हे छिपाती, उन्हे वे न भाते। वे मुझे अपनी गुडिया बच्ची कहा करते थे। और मुझमे ऐसे खेलते थे जैसे कि मै गुडियो मे खेलती हूँ। फिर मै तुम्हारे घर पर रहने आई—

हेलमर—हम लोगो की शादी के बारे मे कैसा शब्द है ?

नोरा—( न बिचककर ) मेरा मतलब यह है कि मै पिता के हाथ से तुम्हारे हाथ आई। तुम सभी बाते अपनी रुचि के अनुसार नियत करते थे, मै भी वैसी रुचि वाली हो गई थी या यो ही बनती रही। कौन-सा सही है मैं नही जानती। अब मै जब इन बातो पर सोच रही हूँ तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे मै कोई भिखमंगिन थी। मै तुम्हारे लिए तमाशे रचा करती थी। तुमने तथा पिताजी ने मुझ पर बडा अन्याय किया है। यह तुम्हारा ही दोष है कि मेरा जीवन नष्ट हो रहा है।

हेलमर—ये बाते क्यों ? क्या तुम यहां सुखी नही रही ?

नोरा—नही, केवल रगरेलियो मे मग्न रही, बस। हमारा वर एक खिलौनाघर रहा है। मै तुम्हारी गुडिया पत्नी थी, जिस भाँति कि मै पिताजी की गुडिया लड़की थी। और ये लडके यह मेरे गुड्डे थे। यही हमारा विवाह रहा है टर्वाल्ड !

इसके बाद नोरा चली जाने का इरादा जाहिर करती है। तब हेलमर कहता है—क्या तुम अपने पवित्रतम कर्तव्यो की इस प्रकार अवहेलना कर सकती हो ?

नोरा—मेरे पवित्रतम कर्तव्य तुम किसे कहते हो ?

हेलमर—क्यो क्यो ? तुम्हारे पति तथा बच्चो के प्रति कर्तव्य।

नोरा—मेरे उतने ही पवित्र कर्तव्य और भी है।

हेलमर—असम्भव ? भला क्या ?

नोरा—मेरे प्रति मेरा कर्तव्य ।

हेलमर—सब बातो के पहले तुम स्त्री तथा माता हो ।

नोरा—मै अब इन बातो मे विश्वास नही करती । मै समझती हूँ कि सब बातो के पहले मै एक मनुष्य हूँ । से कि तुम हो, कम-से कम मै होने की चेष्टा करूँगी । मै जानती हूँ कि टर्वाल्ड अधिकतर व्यक्ति तुम्हारी राय के हैं और किताबो मे भी ऐसा ही लिखते है । अधिकतर व्यक्ति जिस बात को कहते है अथवा पुस्तको मे जो बात लिखी जाती है, उससे मै सन्तुष्ट नही रह सकती । मुझे इन बातो का उत्तर स्वय सोच निकालना चाहिए ।

हेलमर—क्या तुम निश्चित रूप से जानती हो कि घर मे तुम्हारा स्थान क्या है ? क्या इन प्रश्नो के सम्बन्ध मे तुम्हारे निकट एक ऐसा पथ-प्रदर्शक नही मौजूद है, जो कि कभी भूल कर ही नही सकता ? क्या तुम्हारे निकट धर्म नही है ?

नोरा—मै नही जानती, धर्म ठीक-ठीक क्या है । पादरी ने मुझे बतलाया था कि धर्म यह है, वह है । जब कि मै यहाँ से विदा हो जाऊँ और अपने पैरो पर खडी होऊँ तो देखूँगी कि उसने जो सिखाया है, वह कहाँ तक सत्य है, और मेरे लिए कहाँ तक सत्य है ।

हेलमर—ऐसी बाते कभी सुनी ही नही । किन्तु यदि धर्म तुम्हे मार्ग प्रदर्शन नही करवा सकता तो विवेक क्या कहता है ?

नोरा—देखो टर्वाल्ड, यह कहना मुश्किल है, मै केवल इतना ही जानती हूँ कि मै इन बातो के सम्बन्ध मे तुमसे विभिन्न तरीके से सोचती हूँ । मै देख रही हूँ कानून उनसे भिन्न है । जैसा कि मै उनके बारे मे सोचा करती थी । फिर भी मै विश्वास नही कर सकती कि वे ठीक है । मालूम होता है, कानून मे न एक अपनी लडकी को मुमूर्षु पिता को फिक्र से अलग रखने का अधिकार है, न एक स्त्री को अपने पति के जीवन की रक्षा करने का अधिकार है । मै ऐसी बातो मे विश्वास नही करती ।

हेलमर—तुम एक बच्चे की तरह बाते कर रही हो, तुम उस समाज को नही समझती, जिसमे रहती हो ।

नोरा—नही, मै नही समझती हूँ । मुझे अभी इस बात को तय करना है कि मै सही हूँ कि समाज ।

हेलमर—नोरा, तुम बीमार हो, तुम्हारी बुद्धि ठिकाने नही है ।

नोरा—इसके विरुद्ध मै यह समझती हूँ कि मैने आज के पहले किसी बात

को स्पष्ट ही नही देखा था ।

हेलमर—तो इसकी एक ही व्याख्या है ।

नोरा—क्या ?

हेलमर—कि तुम मुझे प्यार नही करती हो ।

नोरा—बिलकुल सही है ।

हेलमर—क्या तुम ऐसा कह रही हो ?

नोरा—हाँ अवश्य, तभी तो मै यहाँ रहना नही चाहती। मै विवश हूँ मै अब तुम्हे प्यार नही करती हूँ ।

हेलमर—क्या तुम इस विषय पर भी इतनी ही निश्चित हो ?

नोरा— हाँ ।

हेलमर—क्या तुम बता सकती हो कि मै किस भाँति तुम्हारे प्रेम से वचित हुआ ।

नोरा—रोज ऐसे मौके नही आते, आज आया। जब तुमको क्रोगस्टाड की चिट्ठी मिली तो मै यह नही समझती थी कि तुम उसकी शर्तों पर राजी हो जाओगे। मैने सोचा था कि तुम उसे यह कहकर धता बता दोगे कि जा, अपनी बात दुनिया मे फैला। और मैने यह भी सोचा था कि तुम सारी बात अपने ऊपर ले लोगे। कहोगे कि मुजरिम तुम हो। अवश्य ही मै यह प्रकाड बलिदान स्वीकार न करती, किन्तु तुम्हारे मुकाबले मे मेरी बात कौन सुनता ? इसी मौके से तो मै डर रही थी। तभी तो मै आत्महत्या करने जा रही थी ।

हेलमर मै सहर्ष दिन-रात तुम्हारे निमित्त काम करता हूँ। नोरा, तुम्हारे लिए अभावो का सामना कर सकता हूँ, किन्तु कोई भी मनुष्य अपनी आबरू मे प्यार के लिए धब्बा लगाना पसन्द न करेगा ।

नोरा—लाखों स्त्रियों ने ऐसा किया है। खैर, फिर जब तुम्हारा डर कागज लौटने से जाता रहा तो तुमने मुझे क्षमा भी कर दिया, मै फिर तुम्हारी बुलबुल और गिलहरी होगई। उस समय टर्वाल्ड,मुझे मालूम हुआ कि इन आठ सालो में मै एक अपरिचित के साथ रहती आई हूँ, और उसके लिए तीन बच्चे भी जने है। मै इस बात को सोच भी नही सकती, इच्छा होती है शतधा होकर विदीर्ण हो जाऊँ ।

इसके बाद नोरा एक भी पैसा लेने से इन्कार करके तथा यह भी कहकर कि चिट्ठी न लिखना, इस विशाल विश्व मे अकेली अपना पथ आप ढूँढ लेने के लिए तथा अपनी समस्याओ का आप समाधान करने के लिए निकल जाती

है। यही पर नाटक खत्म हो जाता है। सक्षेप मे नाटक का रूप यह है।

हम नाटक के नायक तथा नायिका की अलग-अलग समालोचना करेंगे। पहले नोरा को ही ले। आरम्भ से अन्त तक उसके चरित्र मे हमे कोई खराब बात नही दिखाई देती। नोरा देखती है कि उसका पति मर रहा है; साथ-ही-साथ वह देख रही है कि उसको बचाना सम्भव है, केवल कोई बारह सौ डालर से उसके पति के प्राण बच सकते है। वह चाहती है कि यह रकम उधार मिल जाय, इसलिए उधार लेती है, किन्तु कानून से वह उधार नही ले सकती। क्रोगस्टाड बखेडा खडा करता है, नोरा अपने पिता के द्वारा हस्ताक्षर करा देने का वादा करती है किन्तु दुर्भाग्य से उसी समय उसका पिता सख्त बीमार हो जाता है। नोरा सोचती है, अब खुद ही दस्तखत कर दूँ। वह कर देती है। कानून की दृष्टि मे यह जालसाजी है। क्रोगस्टाड के शब्दो मे कानून उद्देश्यो को नही देखा करता।

यह देखने की बात है कि इस जालसाजी मे नोरा का बिलकुल यह उद्देश्य नही है कि रुपये मार ले, बल्कि वह बडे ही नियम से किस्त अदा करती है। यदि उसके वश मे होता तो वह फौरन रुपये दे देती। वहाँ पर एक समस्या है। किसी देश विशेष की नही, बल्कि सब कानूनो की यह एक बडी निन्दा तथा भर्त्सना है, उनकी अपूर्णता तथा कोताही पर इबसेन की यह फटकार है। यदि क्रोगस्टाड यह जालसाजी प्रकट कर देता, जैसा कि वह इरादा करता था, हेलमर उसकी शर्तें न मान लेता और उसकी प्रेमिका श्रीमती लिडेन हस्तक्षेप न करती, तो नोरा को जेलखाने जाना पड़ता। क्या कोई भी हृदयवान् व्यक्ति अपने हृदय पर हाथ रखकर यह कह सकता है कि नोरा मुजरिम है, तथा उसे जेल जाना चाहिए? कभी नहीं, हम तो जब नोरा को साल के बाद साल कौडी-कौडी जमाकर अपनी विलासिता को काट-छाँटकर ('तितली स्वभाव' वाली सुन्दरी नोरा को अच्छे कपडे कितने पसन्द है) बराबर किश्त अदा करते हुए देखते है तो हमे मालूम देता है कि टर्वाल्ड के लिए यह सचमुच गर्व और गौरव की बात है। हमे तब प्रतीत होता है कि नोरा एक रमणी-रत्न है, और हेलमर का यह सौभाग्य था कि उसने इस रमणी का प्रेम प्राप्त किया था। नोरा हमारे सम्मुख एक गरीयसी महीयसी महिला के रूप मे आती है। उसका यह गौरव अन्तिम मुहूर्त्त तक कायम रहता है। नोरा ने ही प्रेम को समझा है। वह हमारे युग की जूलिएट है, रूप मे दिग्विजयिनी, त्याग मे महीयसी, प्रेम मे गरीयसी। अन्त मे जब उस पर हेलमर का कायरपन खुल जाता है, तो वह उसका घर छोडकर चली जाती है। यह नारीत्व की

विजय है। डाक्टर रैक के साथ नारा के व्यवहार मे विश्व के सनातन मतवादी बहुत आपत्तिजनक बाते पाते है। किन्तु हम उनसे केवल स्वाभिमान। क्या यह बात सही नही है कि "कुछ आदमियों से प्रेम करना अच्छा लगता है कुछ से बाते करना।" हम यौथ सहजात (Nerdinstinct) के वशवर्ती होकर चाहे यह बात खुल्लम-खुल्ला स्वीकार न करे, किन्तु है यह बात सत्य। किसी से बाते करना कोई दोष नही है इस वाक्य के बूते पर नोरा को द्विचारिणी होने का फतवा दिया गया है, किन्तु यह नोरा द्विचारिणी है तो सभी नर तथा नारी द्विचारिणी है। आधुनिकतम मनोविज्ञान इसी बात के पक्ष मे गवाही देगा। अस्तु जब तक पति या पत्नी को धोखा देने का उपादान नही है, तब तक दूसरो के साथ सम्बन्ध सही है।

हेलमर एक भद्र पुरुष है, किन्तु न तो वह कोई प्रेमिका ही है, न हम उसको हृदयवान् व्यक्ति कह सकते है। वह भी अपने समाज के कानून की तरह उद्देश्यो को नही देखता, तथा लोक-लज्जा की (जहाँ कि लोक-लज्जा केवल गले मे बँधे हुए घडे की तरह है) बहुत परवाह करता है। इस आदर्श भद्र पुरुष के चरित्र मे सबसे अधिक जो बात अखरती है, वह यह है कि अप-राध किये जाने पर वह इतना नाराज नही है, जितना कि उसके जग-जाहिर हो जाने के कारण। तभी तो वह जाल किया हुआ कागज मिलते ही बिना माँगे नोरा को क्षमा करने को तैयार हो जाता है। इस कागज के मिलने के पहले वह इतना चिघाड रहा था, कागज मिलते ही वह फिर नोरा को गिलहरी और बुलबुल कहने को तैयार है। यह केवल हेलमर की चारि-त्रिक विशेषता नहीं है, हेलमर के नाम पर जगत् के भद्र पुरुषो को इबसेन ने कोसा है। हेलमर ने कभी कोई जालसाजी नही की, कभी कोई अपराध नही किया, किन्तु जब हम उसको नोरा के साथ मनुष्यता के तराजू पर तौलते है तो निर्विवाद रूप से यही पाते है कि वह नोरा के चरण-चुम्बन करने के उपयुक्त नहीं है।

हेलमर भद्र पुरुष है अर्थात् समाज के उस वर्ग का सदस्य है, जिसका एक अद्भुत (Roll) है। समाज का मगल ऐसे लोगो से होगा या नही यह सदिग्ध है। हेलमर हमेशा मस्तिष्क से परिचालित होता है नोरा हृदय से। इन दोनो मे हमें नोरा चाहिए। हेमलर रूढिवादी है तथा यौथ—सहजात बुद्धि का शिकार, नोरा विद्रोहिणी तथा स्वाधीन है। हेलमर कभी सोचने का कष्ट नही उठाता। जो प्रचलित भद्रमत है वही उसका मत है। नोरा जब सोचती है तो स्वाधीन भाव से सोचती है।

इन बातो के अतिरिक्त इबसेन ने हमारे सामाजिक व्यवहारो मे बहुत ढोग से भरी बातो को लिया है। उदाहरणत एक दफा हेलमर और नोरा साथ है। बाहर से डॉक्टर रैंक पुकारता है—मैं हूँ, क्या मै एक मुहूर्त के लिए अन्दर आ सकता हूँ।

हेलमर—(धीमी आवाज मे खिसियाकर) इसे भला इस वक्त मे कौनसा काम पड गया। (चिल्लाकर) ठहरो अभी खुलता है। (किवाडा खोलकर) आओ, यह बडी अच्छी बात है कि आये।

सवेरे से शाम तक एक भद्र पुरुष को ऐसा अभिनय करते बीतता है। यही हमारे शिष्टाचार की पोल है। यही हमारे समाज की सभ्यता है?

इबसेन के इस सर्चलाइट मे नोरा भी नही बचती। हेलमर का खयाल है, जैसे कि हर एक भद्र पुरुष का खयाल है कि मैकरून नामक मिठाई खाने से दाँत खराब हो जाते है, इसलिए उसकी सख्त हिदायत है कि नोरा मैकरून न खावे, किन्तु नोरा को यह मिठाई बहुत प्रिय है। वह पति से चुराकर कभी कभी मैकरून खा लेती है, और झूठ बोलती है।

यही हमारा समाज है गुडिया-गुड्डो का समाज है।

अब जो प्रश्न मैने लेख के आरम्भ मे उठाया था, उसका उत्तर दिया जाय कि हमारे चरित्र के भडाफोड से हमे लाभ होगा या नही? नोरा को लाभ हुआ और मेरा खयाल है हमे भी होगा। उदाहरण-स्वरूप हम हेलमर की तरह भद्र पुरुष न होकर हृदयवान् हो सकते है। प्रेम के सच्चे अर्थ को हम हृदयगम करके जीवन मे उसे कार्यरूप मे परिणत कर सकते है। प्रेम माने उपभोग, किन्तु प्रेम माने त्याग भी है, बल्कि त्याग-मडित उपभोग ही प्रेम है। हेलमर को तो केवल अपनी धुन थी और कुछ नही। प्रेम उसमे खाक भी नही था। जब मौका आया तो उसने दुम हिला दी। और ये जो छोटे-मोटे ढोग है, जिनको शिष्टाचार कहते है, इनसे क्या हम नही बच सकते? क्या हम अधिक स्पष्टवादी नही हो सकते?

इबसेन की रचना बडी ही मार्मिक है, यद्यपि रवीन्द्रनाथ रोम्याँ रोलाँ आदि की तरह उसमे बात-बात मे कविता नही है। इबसेन शायद वैसी बनी-ठनी भाषा मे विश्वास नही रखते। न मालूम कब हमारे भारतवर्ष मे इबसेन-जैसे लेखक की उत्पत्ति होगी। रवीन्द्रनाथ को छोडकर हमारा साहित्य अब आगे जाने को लालायित हो रहा है। भारतवर्ष को योरप से कही अधिक इबसेन की आवश्यकता है।

३

# प्रेमचन्द की कला पर सरसरी दृष्टि

एक समय था जब यह समझा जाता था कि साहित्य केवल मनोरजन या अवसर विनोद की वस्तु है। पर अब धीरे-धीरे लोग यह समझ रहे है कि साहित्य का प्रयोजन तथा उसका उपयोग और ही है। बहुत दिनो तक यह भी समझा जाता रहा कि साहित्य निष्पक्ष हो सकता है, पर अधिक गहराई तक जाने से यह ज्ञात हुआ कि जो साहित्य बिलकुल तटस्थ ज्ञात होता है, वह उतना तटस्थ नही है। यदि किसी साहित्य में किसी वर्ग विशेष के प्रति पक्षपात नही है, यदि इस सम्बन्ध मे उसका कुछ वक्तव्य नही है, ऐसा प्रमाणित भी किया जा सके, तो भी उस साहित्य के सम्बन्ध मे इतना तो कहा ही जा सकता है कि वह जीवन मे अहरह वर्तमान समस्याओ के प्रति तटस्थता की मनोवृत्ति उत्पन्न करके पाठकों को उन समस्याओ से बे-खबर करता रहता है। इस प्रकार जीवन का समस्याओ के प्रति बे-खबर कर देना शासक वर्ग के लिए ही हितकर होता है। इसलिए जो साहित्य उदासीन या तटस्थ ज्ञात होता है, वह परोक्ष रूप से पक्षपातपूर्ण है।

कुछ लोगो ने ऐसा अद्भुत प्रचार कार्य कर रखा है मानो पक्षपात करना एक अपराध है, और जो साहित्य पक्षपात करता है, उसके प्रति वे इस तरीके से नाक-भौ सिकोडते है, मानो वह दो कौडी का हो। यह प्रचार-कार्य इतना असर कर गया है, और अच्छे-अच्छे लोग इसकी भँवर मे फँस चुके है कि बहुत से क्षेत्रों मे यह साध्य एक स्वय सिद्ध का रूप धारण कर चुका है।

पर क्या पक्षपात इतनी खराब वस्तु है। क्या मृत्यु के मुकाबले मे जीवन, द्वेष के मुकाबले मे प्रेम, कायरता के मुकाबले मे साहस, प्रतिक्रिया के मुकाबले मे प्रगति, सामाजिक रूप से अनावश्यक परोपजीवी वर्ग के मुकाबले मे ऐतिहासिक रूप से आवश्यक भविष्ययुक्त वर्ग, प्रतिक्रान्ति के मुकाबले मे क्रांति के साथ पक्षपात हेय तथा निन्दनीय है ? साधारण बुद्धि तो हमे यह बताती है

कि नही । मै तो यह समझता हूँ कि हर हालत मे तटस्थता को बुत बनाकर पूजने की यह मनोवृत्तिही ऐसे लोगो के द्वारा उत्पन्न की गई है जो समाज के स्थिर स्वार्थ वाले लोग है, या ऐसे लोग है, जो उनके पिट्ठू हैं, या उनकी तनख्वाह खाते है, या तनख्वाह नही भी खाते है तो इनके द्वारा उत्पन्न वातावरण मे इस तरह से पाले है कि उनके लिए यह सभव नही है कि वे किसी विषय पर स्वतन्त्र रूप से सोचे ।

प्रेमचन्द मे सबसे बडी बात यह थी कि वे अपने युग के एक बलिष्ठ प्रतीक होने के साथ-ही-साथ स्वतन्त्रता से सोचने का माद्दा रखते थे, और इसी कारण उन्होने समाज की प्रगतिशील शक्तियो के साथ पक्षपात किया । पर यह पक्षपात एक राजनीतिक दल की पुस्तिकाओ के लेखक के तरीके पर नही एक कलाकार की तरह किया यदि मै भूलता नही हूँ तो सुप्रसिद्ध समाजवादी नेता डिमिट्रोफ ने लेखको के सामने बोलते हुए यह कहा था कि लेखक का काम यह नही है कि वह इन्कलाब जिन्दाबाद के ढँग पर चिल्ला पडे, जिस लेखक का इन्कलाब के प्रति पक्षपात जितना सूक्ष्म होगा, वह उतना ही अच्छा इन्कलाबी कलाकार होगा ।

प्रेमचन्द के विषय मे सबसे विशिष्ट बात यह है कि वे अपनी प्रारम्भिक रचनाओ मे उतने आत्मचैतन्य सम्पन्न नही थे, फिर भी उनकी प्रथम रचनाओ मे भी हम बहुत ही परोक्ष रूप से इतने परोक्ष रूप से कि सभी समालोचक उन्हे गलत समझ गए, क्रातिकारी प्रगतिशील शक्तियो की ही विजय दिखाई गई है । शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि एकाधिक समालोचक उन्हे उनकी समग्रता मे सही तरह से न समझ पाकर गान्धीवाद का प्रतिपादक समझते है ।

अवश्य 'गोदान' के सम्बन्ध मे उन सभी का यह मत है कि इस कृति मे वे गांधीवाद से फिर गए, और उनका झुकाव समाजवाद की धारा की ओर हुआ । पर मैने ही इस बात का प्रतिपादन किया है कि 'गोदान' में तो उनकी कला आत्म-सचेतन रूप से समाजवाद की ओर झुक जाती है, पर 'प्रेमाश्रम' 'सेवासदन' आदि सभी रचनाओ मे वे गाधीवाद को व्यर्थता मे पर्यवसित दिखलाते है ।

यह एक बहुत क्रान्तिकारी मत है, इसलिए मैने इस बात को स्थापित करने के लिए एक बृहत् ग्रन्थ लिखा । विराट् पुस्तक प्रकाशित हो गई । यह सम्भव नही है कि इस छोटे से लेख मे उस मत का विस्तार के साथ प्रतिपादन किया जाय, पर संक्षेप मे इतना बता दिया जा सकता है कि एक कलाकार अपनी कला मे जितना देता है, याने सचेतन रूप से जितना देता है, उसकी

कला मे उससे अधिक हो सकता है, और होता है। अवश्य कम भी हो सकता है। यह कोई जरूरी नही है कि एक लेखक अपनी कला का सबसे बडा आलोचक हो, सम्भव है उसकी आलोचना बिलकुल ही गलत हो और वह अपनी कला के सम्बन्ध मे, अपनी विभिन्न रचनाओ की अन्तर्गत वस्तु, उसकी प्रवृत्ति तथा झुकाव के सम्बन्ध मे बिलकुल गलत धारणा रखता हो।

सबसे मजे की बात यह है कि प्रेमचन्द अपने प्रारम्भिक कलात्मक जीवन में सचाई के साथ गाधीवादी थे। १९१७ में ही रूस मे समाजवादी क्रान्ति हो चुकी थी। उससे भी बहुत पहले से याने १८४८ से, जिसे हम वैज्ञानिक समाजवाद कहते है, उसका प्रतिपादन हो रहा था। १८६४ मे इसी विचार को कार्य रूप मे परिणत करने के लिए प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय तथा १८८९ मे द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय की स्थापना हो चुकी थी। इस समय एक विराट साहित्य का उदय हो चुका था, जिसमे से अधिकाश अग्रेजी में मौजूद भी था।

पर न तो समाजवाद की भनक देश मे पहुँची थी न उनके सम्बन्ध मे किसी को कुछ ज्ञान था। अवश्य अस्पष्ट रूप से समानता की चाह लोगो में थी, पर उसको कोई वैज्ञानिक रूप प्राप्त न था। यह परिस्थिति थी जब गाधीजी ने दिग्विजयी की तरह भारतीय राजनीतिक क्षेत्र मे प्रवेश किया। हमे इसके ब्यौरे मे जाने की आवश्यकता नही है कि ऐसा कैसे हुआ कि अपने उदय के साथ ही गाधीजी मध्याह्न रेखा पर पहुँच गए। जो परिस्थिति थी, उसमें यही स्वाभाविक था। प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय मानवता यह आशा कर रही थी कि यदि स्वतन्त्रता नही तो उसे बहुत विस्तृत शासन-सुधार दे दिये जायँगे। पर इसके विपरीत भारतवर्ष को रौलट बिल का तोहफा मिला।

इस विश्वास-घात के दुर्दमनीय प्रहार के मारे भारत की आत्मा कराह रही थी। कांग्रेस के सब राजनीतिज्ञो का दिवाला पिट चुका था। उनके पास कोई ऐसा उपाय नही था जिससे वे सरकार के इस प्रकार का मुकाबला कर सकते। वे सब बगले झाँक रहे थे। ऐसे समय मे गाधीजी ने अपने असहयोग अस्त्र को सबके सामने रखा। यही एक बडी बात थी।

पर गाधीजी ने केवल इतना ही नही किया, उन्होने इससे भी एक बडी बात की। अब तक राजनीति कुछ पढे-लिखे अवकाश प्राप्त लोगो के अवसर विनोद की सामग्री थी पर गाधीजी ने ही, मै अपनी किसी पुस्तक से ही उद्धृत कर रहा हूँ, इस राजनीति को मध्यवित्त श्रेणी के स्वर्ग से उतारकर जनता के मध्य मे लाकर रख दिया। फिर भला वे महात्मा, अवतार, जो कुछ भी समझे गए, वह कोई आश्चर्य की बात नही थी।

ऐसे वातावरण मे जब कि वह बिलकुल गाधीमय हो रहा था, प्रेमचन्दजी के लिए यह स्वाभाविक था कि वे मानसिक रूप से सम्पूर्ण रूप से गाधीजी के पुजारी होते। जिस व्यक्ति ने अपने जीवन मे यह प्रत्यक्ष किया था कि गरीबी क्या है, उस युग मे यदि वह समाजवादी नही हुआ तो उसके लिए गाधीवादी होना आवश्यक था।

इसी कारण इस युग मे (Subjective) रूप से सम्पूर्ण गाधीवादी थे, और यह उनकी कला के लिए अच्छा ही हुआ। यदि वे इस प्रकार गाधीवादी न होते, तो उनकी कला मे युग का सही प्रतिफलन नही हो सकता था। यदि कोई व्यक्ति गाधीवाद के प्रति समाजवादी आलोचनात्मक दृष्टिकोण लेकर लेखनी धारण करता, तो सम्भव है कि वह गाधीवाद के ऐतिहासिक भाग के प्रति न्याय नही कर सकता, पर सम्भव है वह गाधीवाद को उसके पूर्ण गौरव में चित्रित न कर सकता।

पर केवल गाधीवादी होने से ही कोई प्रेमचन्द नही हो सकता था, यदि वह उसके साथ ही कलाकार भी न होता। मैंने इसी को अपने उल्लिखित ग्रन्थ मे यो लिखा है कि यद्यपि प्रेमचन्द गाधीवाद, शान्तिवाद, आदि न मालूम कौन-कौन से वाद-विवादो से आँख लडाते रहे, यह एक गाधीवादी के नाते जरूरी था, पर इसके साथ ही वे अपनी कला के लगोट के प्रति सच्चे रहे।

यही कारण है कि प्रारम्भिक रचनाओ मे भी याने 'प्रेमाश्रम', रगभूमि', 'कर्मभूमि' के कथानक देखने मे तो गाधीवादी है, पह वे अपनी कहानी को जिस नतीजे पर पहुँचा देते है, उसे यदि ध्यान से देखा जाय और गहराई के साथ उसकी जाँच की जाय तो यह ज्ञात होगा कि उन्होने गाधीवाद की जो जय दिखलाई है, वह वास्तव मे कोई जय नही है; बल्कि उसकी पराजय ही है।

उदाहरणार्थ 'प्रेमाश्रम' को लिया जाय, इसमे प्रेमचन्द ग्राम-जीवन की समस्याओ को लेकर चलते है। समस्याएँ बिलकुल आर्थिक राजनीतिक है, समस्याओ की प्रबलता हमारे सामने है। एक समस्या तो सयुक्त-परिवार प्रथा भी है। नये युग की नई जरूरतो को यह पूरी करने मे असमर्थ है। जिस युग मे जमीन में ही सम्पत्ति थी, और वही उत्पादन का मुख्य जरिया था, उसे युग मे सयुक्त-परिवार-प्रथा ठीक थी, और चलती भी थी, पर जिस युग मे सब लोगो के रोजगार भिन्न-भिन्न है, कोई कम कमाता है कोई अधिक, उस युग मे इस प्रथा का सफल होना या वर्तमान रहना कठिन ही नही, बल्कि असम्भव है।

प्रेमचन्द ने यह दिखलाया था कि सयुक्त-परिवार प्रथा रह नहीं पाती। प्रभाशंकर ऐसे व्यक्ति के रहते हुए भी जो इस प्रथा के अनन्य उपासक है,

यह प्रथा रह नही पाती। प्रेमचन्द इस बात को तो दिखलाते है, पर उनको सहानुभूति किस पद्धति से है यह स्पष्ट कहा जाता है। इसीलिए 'प्रेमाश्रम' एक तरफ तो सयुक्त-परिवार-प्रथा के टूटकर गिर पडने का एक महाकाव्य है, पर उसमे हम इस टूटने-बिखरने वाली पद्धति की मरण यन्त्रणा को सुन सकते है, और ऐसे सुन सकते है मानो हमारा कोई प्रियजन मर रहा हो। प्रेमचन्द की कला-प्रकृति के द्वन्द्वधर्मी होने का यह परिणाम है।

गाँधीवाद अन्तिम विश्लेषण मे सामन्तवाद का ही एक परिष्कृत आदर्श रूप है, स्वाभाविक रूप से गाधीवाद मे सयुक्त-परिवार-प्रथा के लिए बडा मोह है, और उसके सम्बन्ध मे एक Idyllic या गो-चारण और वेणु-वादन-मूलक धारणा मौजूद है। पर मेरा इशारा इस समस्या से नही है, गाँव की जो समस्या है, वह आर्थिक सामाजिक है, उसका समाधान भी आर्थिक सामाजिक होना चाहिए। लखनपुर मे जमीदार, कारिन्दे, पुलिस लश्कर की ज्यादती तो दिखाई गई है, पर इनका समाधान क्या दिखलाया गया है? यही न कि प्रेमाश्रम बनता है, और कुछ सदुद्देश्यपूर्ण व्यक्ति एक आश्रम बनाकर बैठ जाते है। इससे यह तो मालूम होता है कि समस्या सुलझ गई है, पर जरा गहराई में जाइये तो ज्ञात होगा कि यह कोई समाधान नही समाधान की मृग मरीचिका-मात्र है।

इसी प्रकार हम 'रगभूमि' मे भी देखते है। इसमे सूरदास की सृष्टि तो मानो गाँधीजी के नमूने पर हुई है। यह पुस्तक गाँधीवाद के अच्छे तथा अन्य पहलुओं के चित्रणो के कारण अमर रहेगी। पर इसमे भी हम क्या देखते है? क्या सूरदास अपने असख्य गुण, परोपकार आदि के बावजूद आक्रमणकारी कारखाने वाद के अभियान को रोक पाता है? इसमे संदेह नही कि सूरे की लडाई बडी मार्मिक है, और हमारी श्रद्धा को बरबस अपनी तरफ खीच लेती है, पर श्रद्धा और गौरव की बात नही है। किसी राजनीतिक मतवाद की सफलता या विफलता को हम केवल दयाभावमूलक श्रद्धा या गौरव की भावना से कैसे नाप सकते है? हम उसकी सफलता को उसके द्वारा प्राप्त राजनीतिक सामाजिक सफलता से ही नाप सकते है।

इस दृष्टि से देखने पर सूरे के सारे संघर्षों का परिणाम देखते है? यही न कि गाँव से गाँव वाले खदेड दिए गए है, और उनके गाँव मे आग लगी हुई है लोग कराहते हुए भाग रहे है। थोड़े दिन मे इस गाँव मे कारखाने दिखाई पडते है या पड़ेंगे।

क्या इसको हम सूरदास के मतवाद की विजय कह सकते है? अवश्य

हमारा यह कहना नही है कि हमेशा हार अन्तिम असफलता का सूचक है। नही नही, कभी-कभी पराजय के जरिये से ही विजय का मार्ग पाया जाता है। कभी-कभी पराजय आसानी से प्राप्त ऊपरी विजय से अधिक अर्थपूर्ण हो सकती है,यदि उसके ऊपरी चेहरे के भीतर विजय के बीज निहित हो। पर यदि हम आत्म-प्रवचना न करे, और अपनी दृष्टि को 'रगभूमि' की कथा तक ही वास्तविकता के अन्दर सीमित रखे, और कल्पना के पर लगाकर उडान न भरने लगे, तो हमे आसानी से ज्ञात हो जायगा कि सूरदास की हार पूँजीवाद के मुकाबले मे सामन्तवाद की अर्थात् एक अधिकतर प्रतिक्रियावादी पद्धति के मुकाबले मे कम प्रतिक्रियावादी पद्धति की विजय है।

श्री अचल जी का कहना है कि "प्रेमचन्द की दृष्टि गाधीवादी आदर्शवाद को भेदकर आगे नही जाती। उनका मशीन-विरोध नैतिक और आचारिक मूल्यों पर अधिकाधिक जोर, राजनीतिक और सामाजिक माँगो के वैधानिक और साम्यवादी आग्रहो की ओर से उनकी उदासीनता, हृदय-परिवर्तन की आशा पर उनका विश्वास ये सब उनकी दृष्टि को धूमिल किये हुए है। इसलिए प्रेमचन्द का साहित्य एक क्रान्तिकारी ढग पर राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल मचवाने के बजाय सामाजिक और मानवीय सेवा पर ही अधिक जोर देता है। परन्तु जीवन की उन बुनियादी शक्तियो को, जो पूँजीवाद को नष्ट करने और समाजवाद को स्थापित करने के लिए काम कर रही है, मौजूदा समाज के ह्रास और जनक्रान्ति की अनिवार्यता की जड़े जमाने वाली कोई सगठित योजना वे नही दे सके।"

इसमे सन्देह नही कि प्रेमचन्द की दृष्टि गाधीवादी आदर्श पर डटी हुई या निबद्ध है, पर जैसा कि मैने बताया कि अपनी कला के प्रति सच्चे रहने के कारण वे वास्तविकता से अपने को अलग नही कर पाए, इसलिए इस Subjective पहलू का असर इतना ही हुआ है कि वे इस वाद के अच्छे पहलुओ को बहुत खूबी के साथ दिखला सके। यह भी सही है कि मशीन-विरोध आदि भावनाओ से उनकी मानसिक सहानुभूति है, पर ऐसा होते हुए भी वे ( 'रगभूमि' को ही लीजिये, जो उनके गाधीवाद के पुटयुक्त उपन्यासो मे बृहत्तम और सर्वश्रेष्ठ है ) मशीन-विरोध की विजय नही दिखलाते है, बल्कि उसकी स्पष्ट पराजय दिखलाते है।

कला की जाँच मे कलाकार का निजी मत, झुकाव, प्रवृत्ति तथा उसकी Tendencies का बहुत महत्त्व है, पर यदि कलाकार की कला इतनी शक्तिशाली है कि वह निजी मतो के बावजूद सत्य और तथ्य के प्रति अन्त

मे जाकर सच्चा साबित होता है, तो उसके निजी मत आदि को बहुत महत्त्व नही दिया जा सकता। उदाहरणस्वरूप आजकल लेखको मे यह फैशन हो गया है कि वे सब-के-सब प्रगतिवाद, यहाँ तक कि समाजवाद की कसम खाते है, पर इनमे से बहुतो की कला की जाँच की जाय तो उसमे स्पष्ट प्रतिक्रिया-वाद, गतानुगतिकवाद या जो—है—सो—रहे—वाद मिलेगा। जैसे इन लेखको को केवल इनके मतो के कारण समाजवादी तथा इनकी कला को प्रगतिवादी कहना सम्भव न होगा, उसी प्रकार से प्रथम युग के प्रेमचन्द को उनके निजी मत के लिए ही क्रान्तिकारी न कहना सम्भव न होगा।

कलाकार का सही परिचय उसकी कला मे है न कि उसके अन्य तरीके से प्रकाशित मतवाद मे। साधारण समालोचना मे प्रेमचन्द के साहित्य को दो भागो मे बाँटा गया है, एक गाधीवादी प्रेमचन्द, जिसमे 'गोदान' के अतिरिक्त उनकी सभी रचनाएँ आ जाती है, और दूसरा समाजवादी प्रेमचन्द, जिसमे केवल उनका 'गोदान' आता है।

मै प्रेमचन्द-साहित्य को इस तरीके से विभाजित नही करता, मै तो उसे यो विभाजित करता हूँ '' एक तो अचेतनायुक्त समाजवादी रचना, जिनमें 'गोदान' के अतिरिक्त उनकी सभी रचनाएँ आती है, और आत्म सचेतन समाज-वादी रचना, जिसमे 'गोदान' आता है।

मै जानता हूँ कि मेरा यह मतवाद बहुत ही अभिनव है और प्रेमचन्द-समालोचना मे एक क्रातिकारी युगान्तर उपस्थित करता है। मै इस बात को मानता हूँ, इसी कारण मुझे इस मत को स्थापित करने के लिए एक विराट ग्रंथ लिखना पड़ा, और जिसके निष्कर्ष सूत्र रूप मे इस लेख में पेश करने की चेष्टा की गई है। सच तो यह है कि इस दृष्टिकोण को ग्रहण करने के बाद ही हम प्रेमचन्द की कला का क्रातिकारित्व समझ सकते है। हमे दुःख है कि अचल जी जैसे गहराई तक जाने वाले समालोचक भी उनकी कला में वास्तविकता की विजय के इस उपादन को सम्यक् रूप मे नही समझ सके, तभी वे यह कहकर रह गए कि वे सामाजिक उथल-पुथल मचवाने के बाद सामाजिक और मानवीय सेवा पर ही अधिक जोर देते है।

इसमे सन्देह नही कि वे जोर देते है; पर इसका नतीजा किस रूप में दिखाया जाता है, क्या यह कुछ भी महत्त्व नही रखता? गाँधीवाद में तो खैर वहाँ तक तो प्रगतिशील उपादान भी था ही, जहाँ तक और जिस हद तक उसने साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियो को सगठित किया, और उसके लिए जनता की शक्ति को आगे बढ़ाया, पर यदि कोई कलाकार फासिस्टवाद को

चित्रित करे, और इसमे बहुत रग भी भरे, पर उसका अन्त ऐसा दिखलाये कि अनिवार्य ऐतिहासिक शक्तियो के सामने वह परास्त हो गया, और यह भी दिखलाये कि उसका परास्त होना स्वाभाविक था, तो क्या उस लेखक को हम फासिस्टवादी कह सकते है ?

प्रेमचन्द के प्रारम्भिक युग की रचनाओ मे गाधीवाद का मोह-जाल दृष्टिगोचर होता है, पर यह जाल कितना भी घना हो, उसके अन्दर से वास्त-विकता का सूर्य अपनी औपादानिक शक्ति के साथ प्रकाशित होने मे बाधाग्रस्त नही होता ।

अब हम इस पहलू को छोडकर प्रेमचन्द-साहित्य के एक दूसरे पहलू पर आते है जिसमे वे हिन्दी-साहित्य मे ही नही, सारे भारतीय साहित्य में अपराजेय है । रवीन्द्रनाथ के उपन्यासो मे हम बहुत-सी समस्याएँ देखते है । उनमे सघर्ष भी चित्रित है, पर वर्ग-सघर्ष नही । उनका साहित्य परिपूर्ण रूप से केवल ऐसे वर्ग का साहित्य है, जिसे रोटी-दाल की फिक्र नही है । उनके समय मे भी निम्न मध्य-वित्त वर्ग मे रोटी के लाले पडने लगे थे, फिर भी इन छोटी-मोटी बातो के मुकाबले रोटी तथा आर्थिक ढाँचे का बहुत महत्त्व रखने पर भी वे उस पर ध्यान नही देते ।

शरच्चन्द्र रवीन्द्रनाथ के मुकाबले मे निम्नतर वर्ग को लेकर चलते है, पर वे अधिकाश रूप मे इस वर्ग की वैवाहिक और हृदय-सम्बन्धी समस्याओ तक ही अपनी लेखनी को सीमित रख सके । 'अभागी का स्वर्ग' तथा 'महेश' कहानी मे वर्ग-सघर्ष को वे बहुत सुन्दर रूप मे चित्रित करते है, पर उनके विराट साहित्य मे ऐसी दो-एक कहानियो की क्या हैसियत है ? 'अभागी का स्वर्ग' नामक की तुलना कहानी प्रेमचन्द के 'कफन' से की जा सकती है । 'अभागी का स्वर्ग' यह तो हमे दिखलाता ही है कि वर्तमान समाज मे गरीबो को जीने का अधिकार नही है, साथ ही वह यह भी दिखलाता है कि मरने के बाद भी शोषक और शोषित वर्ग के लोगो मे फर्क है । 'महेश' कहानी भी बहुत ऊँचे दर्जे की है । मैं अपनी 'शरच्चन्द्र' नामक पुस्तक मे 'महेश' के सम्बन्ध मे लिख चुका हूँ कि शरत बाबू की रचनाओंमे एक यह 'महेश' ही ऐसी कहानी है, जिसमे गरीब की आह का स्वरूप पूर्णत स्पष्ट हुआ है । यदि इस गल्प का शीर्षक 'प्रोलेटेरियट का जन्म' होता तो शायद यह एक सोवियट गल्प हो जाता ।[1]

पर हम प्रेमचन्द की तरफ जब दृष्टि डालते है तो उनके सारे साहित्य मे

---

१ शरच्चन्द्र······पृष्ठ १६८

हमे वर्ग-सघर्ष दृष्टिगोचर होता है। किसान, जमीदार, मजदूर, पूँजीपति का सघर्ष उनकी प्रत्येक महत्त्वपूर्ण पुस्तक मे है। उनके साहित्य मे हम जन-गण का अभिमान सर्वदा देखते है, साथ ही हम यह भी देखते है कि जनगण सही मार्ग पर है, और उसकी विजय अनिवार्य है। इधर बगला आदि भाषाओ मे बहुत से लेखको ने सघर्ष को अपना उपजीव्य बनाया है, पर अपनी मृत्यु तक प्रेमचन्द इस क्षेत्र मे अकेले थे, यदि यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

यद्यपि हमारे दुर्भाग्य से आत्मसचेतन समाजवादी प्रेमचन्द हमें केवल 'गोदान' ही दे सके, फिर भी अकेला 'गोदान' साहित्य का कुतुबमीनार है। इसमें हम उनकी कला को सम्पूर्ण रूप से गाधीवाद के मोह से मुक्त देखते हैं। भाषा, शैली, अन्तर्गत वस्तु, कथानक जिस दृष्टि से भी देखा जाय, यह हिन्दी साहित्य मे बेजोड है। इसमे हमे एक ऐसे कलाकार का दर्शन होता है जो सब तरह से सचेतन, आत्मस्थ तथा सन्देह-मुक्त हो चुका है। उनकी दृष्टि निखर चुकी है, अब उन्होने मार्ग का सन्धान कर लिया है।

यह कहना गलत होगा कि उनके बाकी सभी उपन्यास एक ही कोटि के है। 'कायाकल्प' मे निश्चित रूप से एक प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति है। उसमें जन्मान्तरवाद को लेकर एक अजीब गडबडझाले की सृष्टि हुई है, और इस प्रकार की बाते कतई समझ मे नही आती। उसी उपन्यास मे उसका वस्तुवाद उनके भाववाद के सामने दब जाता है। अवश्य इस उपन्यास मे अन्य उपादान तथा हिस्से ऐसे है, जो उनके साधारण उपन्यासो का तरह प्रगति की प्रवृत्तियाँ लिये हुए है।

भाषा की दृष्टि से उन्होंने बोल-चाल की भाषा ही अधिक अपनाई। वे पहले उर्दू के लेखक थे, सरशार की शैली के प्रशसक थे, इस कारण उनकी भाषा अक्सर उर्दू की ओर झुकी हुई है। प्रसाद गण अधिक न होने पर भी ओज में वे उसकी कमी को पूरा कर लेना चाहते है।

यद्यपि प्रेमचन्द हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र मे एक नये युग का प्रवर्तन करते है, फिर भी उनके अनुकरणकारी के रूप मे हम किसी को नही देखते। बात यह है कि जिस कथावस्तु को उन्होने उठाया था, उसे उन्होने खुद ही समाप्त-सा कर दिया। बाद को कई अच्छे उपन्यासकार उपस्थित हुए। पर जिस भी दृष्टि से देखा जाय, कोई उनकी ऊँचाई तक न जा सका। अवश्य कुछ लोग गहराई तक गए, और कदाचित् एकाध क्षेत्र मे अधिक गहराई तक गये, पर उनकी सृष्टि शक्ति इतनी सीमित तथा दुर्बल रही कि वे विशेष आगे न जा सके, यहाँ पर हम ब्यौरे मे जाकर पचड़े में न पड़ेगे, पर इतना तो सत्य है कि

अभी तक जब हमसे कोई अहिन्दी-भाषी हिन्दी-उपन्यास के विषय मे पूछता है तो हम प्रेमचन्द के बाद किसी इतर के लेखक का नाम लेते हिचकिचाते है। बात बनाना और विचार-धारा बघारना बहुत आसान है, पर कला के रूप मे अपने वक्तव्य को पेश करना बहुत कठिन है। नही तो कोई भी राजनीतिक पुस्तिका का लेखक किसी भी क्रातिकारी कलाकार से अधिक क्रातिकारी होने का दावा कर सकता था।

हमने इस बात को छोड दिया कि प्रेमचन्द ने जिस कथावस्तु को लिया उसे खत्म-सा करके रख दिया, इसलिए इस पर दो एक बात और कह देनी चाहिएँ। १६३५ मे याने प्रेमचन्द के निधन वर्ष तक गाधीवाद का जो रूप खुला था, अब गत कई सालो मे इतिहास के पन्ने उलट चुकने के कारण उसका रूप और अधिक खुल चुका है। भारतवर्ष को स्वराज्य मिल चुका है। डके की चोट अब यह कहा जा रहा है कि गाधीवाद के कारण ही हमे जो कुछ प्राप्त हुआ है सो प्राप्त हुआ, आपात दृष्टि से जो लोग ऐसा कह रहे है, वे ऐसा कह सकते है। मै यहाँ पर इस तर्क मे नही पड़ना चाहता कि असली बात क्या है, पर यहाँ केवल इतना बता देना चाहता हूँ कि बहुत से ऐसे लोग भी मौजूद है जो यह समझते है कि जब तक काग्रेस तथा जनता गाधीवाद के दायरे मे रही, तब तक कोई विशेष अग्रगति नही हुई, पर ज्यो ही जनता ने १६४२ की क्रान्ति के रूप मे गाधीवाद की रस्सी तुडाकर भागना शुरू किया, और साम्राज्यवाद पर हमला कर दिया इसके साथ ही अन्य क्रान्तिकारी शक्तियाँ मिली, आजाद हिन्द फौज के कारण ब्रिटेन की भारतीय सेना और पुलिस बृटिश सरकार के प्रति वफादार नही रही, तभी बृटिश सरकार ने यहाँ से प्रस्थान मे ही भलाई समझी। सत्य जो कुछ भी हो, यह निश्चित है कि १६३५ मे गाधीवाद का जो रूप था, वह आगे नही रहा। गत सालो मे बल्कि ज्यो-ज्यो दिन जा रहे है त्यो-त्यो यह साबित हो रहा है कि गाधीवाद को जिन लोगो ने वाहन बनाया, उनका आदर्शवाद चर्मगम्भीर था। उसमे कोई तत्त्व नही था। पर यह बात तो अब लोगो की समझ मे आने लगी है। १६३७ मे बल्कि 'गोदान' से पहले ही इस बात को समझ लेना और सर्वतोभावेन उससे पल्ला छुड़ाकर साहित्य-सृष्टि करना प्रेमचन्द की अन्तर्दृष्टि सम्पन्नता का ही परिचायक है।

प्रेमचन्द का कैनवास इतना वृहत् है कि उन पर सक्षेप मे भी लिखते हुए बहुत समय लगेगा। यदि वे कुछ दिन और जीवित रहते तो हिन्दी-साहित्य उनके जीवन के 'मगल सूत्र' को पकडकर बहुत आगे बढ जाता। मृत्यु के पहले

उनके विचार जिस रफ्तार से क्रान्तिकारी होते जा रहे थे; उससे हिन्दी-साहित्य को बडी आशाएँ थी। उनकी बलिष्ठ बहुमुखी कल्पना विचारो को कला के रूप में पेश करने की सामर्थ्य रखती थी। उनकी रचना में विचार तथा वस्तु का वह समन्वय होता है जो क्रान्तिकारी कला की विशेषता है।

अवश्य यह समझना भूल है कि प्रेमचन्द तक ही हमारी कला रह जायगी। वह तो अनिवार्य रूप से आगे की ओर जा रही है। भविष्य का अनागत कलाकार प्रेमचन्द के अधूरे 'मंगल सूत्र' को पूरा करेगा। हम भारतीय साहित्य मे उस अनागत महान् कलाकार के आगमन की नुपूर ध्वनि नही उसके गाडीव की टकार सुन रहे हैं।

४

# रवीन्द्रनाथ का 'गोरा'

यद्यपि हिन्दी मे रवीन्द्रनाथ के सारे उपन्यास अनूदित हो चुके हैं, और उनका प्रचार भी अधिक है, तथापि उपन्यासकार के रूप मे उनकी प्रतिभा जन-साधारण के निकट उतनी प्रकट नही है, ऐसा कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

मै इस लेख मे उनके उपन्यासकार जीवन की रूपरेखा व उनके उपन्यास पर समालोचना करूँगा। उन्होने अपने जीवन-काल मे कई उपन्यास लिखे, जिनकी सख्या १२ है। दूसरे शब्दो मे उन्होने उतने ही उपन्यास लिखे जितने प्रेमचन्द ने लिखे हैं।

वस्तुत यह तो सम्भव नही कि उनके सारे उपन्यासो की आलोचना इस छोटे से लेख में की जाय। अत मै उनके 'गोरा' नामक उपन्यास को चुनता हूँ जो कदाचित् बगाल के बाहर सबसे अधिक परिचित उपन्यास है। जैसा कि इस उपन्यास के परिचय से पाठकों को मालूम होगा, कि इसका सम्बन्ध बगाल और भारत के उस युग के इतिहास से है जब बंगाल मे ब्रह्म समाज ने बहुत भारी समाज-सुधार के कार्य किये थे, पर कट्टर हिन्दुओं ने उनका विरोध किया था और वर्षों तक दोनो मतो के लोगो में बडा झगडा चला था। इसी ऐतिहासिक झगडे को इस उपन्यास में एक कहानी का रूप दिया गया है। संक्षेप में इस उपन्यास का कथानक यो है—

"कृष्णदयाल बाबू पछाँह मे सरकारी नौकरी करते थे। उनके साथ उनकी स्त्री आनन्दमयी थी। उसी जमाने मे १८५७ का सिपाही-विद्रोह हुआ। बहुत से अंग्रेज मारे गए। एक मेम ने, जिसका पति मारा गया था, कृष्णदयाल बाबू के घर मे आश्रय लिया। उसने वही एक पुत्र को जन्म दिया और मर गई। कृष्णदयाल बाबू ने उस लडके को अपना लिया, सच तो यह है कि आनन्दमयी ने उसे अपना लडका करके पालना शुरू किया, और उसका नाम गोरा रखा गया। यह गोरा पढने-लिखने मे बहुत चतुर निकला। उसकी रुचि धर्म की ओर

थी, और वह बहुत कट्टर सनातनी बन गया।

कृष्णदयाल बाबू नौकरी के जमाने मे तो बिलकुल उदार थे, पर जब वे पेन्शन लेकर कलकत्ता लौटे तो वे बहुत कट्टर निकले। हर समय साधु-सन्तो की सेवा करते थे, यहाँ तक कि जिस हिस्से मे वे भजन-पूजन करते थे उसमे आनन्दमयी और गोरा का भी जाना मना था। गोरा को अपने जन्म के रहस्य का पता नही था और न किसी ओर को ही यह ज्ञात था। कृष्णदयाल को गोरा से कोई विशेष प्रेम नही था, पर वे इसलिए इस बात को छिपाए हुए थे कि उन्हे यह डर था कि कही ब्रिटिश सरकार को पता लग जाय, तो उनकी पेन्शन न बन्द हो जाय। आनन्दमयी इस कारण नही बताती थी कि उसे गोरा से बहुत प्रेम था, और वह डरती थी कि कही गोरा को अपने जन्म का पता न लग जाय। उन्हे आशंका थी कि इससे वह उनसे अलग हो जायगा।

विनय के साथ गोरा की बहुत मित्रता थी। विनय भी बहुत उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुका था, गोरा के साथ उनका सम्बन्ध गुरु-शिष्य का था, और दोनो बैठकर इस बात पर सोचा करते थे कि देश की उन्नति कैसे हो। गोरा ब्रह्म समाज के उन लोगो को बहुत बुरा समझता था कि जिन्हे अपने देश मे कोई अच्छी बात दिखाई नही देती थी।

एक दिन विनय अपने घर मे बैठा हुआ था कि उसके घर के सामने एक एक्सीडैण्ट हो गया। एक किराये की गाडी पर एक बूढे सज्जन और उनकी कन्या जा रहे थे कि उधर से एक प्राइवेट गाडी आई। दोनो मे टक्कर हुई, और किराये वाली गाडी उलटते-उलटते बची। बूढे सज्जन को या उनकी कन्या को कोई चोट तो नही आई पर बूढे सज्जन का सिर घूम गया। विनय ने दौडकर उन सज्जन को अपने घर मे बुला लिया, और जब वे बेहोश होने लगे तो डॉक्टर बुलवा दिया। थोडी ही देर मे वे ठीक हो गए, और ये बूढे सज्जन परेश बाबू घर चले गए। उनके साथ जो लडकी थी वह उनकी लडकी नही थी, पर दोनो मे पिता-पुत्री से भी बढकर घनिष्ठ सम्बन्ध था। उस लडकी का नाम सुचरिता था।

परेश बाबू ब्रह्म समाज के थे। उनकी कई अपनी लडकियाँ भी थी। अब विनय का इनके घर आना-जाना शुरू हुआ। विनय ने यह जो समझ रखा था कि ब्रह्म समाज के लोग ऐसे होते है और वैसे होते है, उसने व्यवहार मे देखा कि वे भी दूसरो की ही तरह आदमी है, और परेश बाबू तो बहुत ही सज्जन मालूम हुए।

परेश बाबू कृष्णदयाल बाबू के किसी तरह के जाने-पहचाने थे। इसलिए

उन्होने एक दिन गोरा से कहा कि वह जाकर उनसे मिल आय। वह गया तो उसे विनय भी वही पर दिखाई पडा। उस दिन वहाँ एक हारान बाबू भी मौजूद थे। यह ब्रह्म समाज के नवयुवक नेताओ मे थे। वे स्वय यह समझते थे कि उनकी शादी सुचरिता से होगी। विचारो मे वे कट्टर होने के साथ ही बडे वहमी स्वभाव के थे। गोरा और उनमे फौरन जोर की बहस हुई। गोरा ने अपने देश और सनातन समाज का पक्ष लिया, और हारान ने उसका डटकर विरोध किया।

विनय परेश बाबू के घर पर बहुत अधिक जाने लगा, और घर भर से उसकी दोस्ती हो गई। गोरा ने इसका विरोध किया, पर आनन्दमयी,जिसे विनय भी माँ कहकर पुकारा करता था, इसमे कोई बुराई नही देखती थी। इस बात को लेकर गोरा और विनय मे काफी झगडा हो गया, यहाँ तक कि गोरा ने यह समझ लिया कि विनय से उसका सम्बन्ध टूट चुका है। विनय बडी उधेड-बुन मे रहा, कभी इधर जाता, तो कभी उधर जाता। उसका मन धीरे-धीरे परेश बाबू की कन्या ललिता की ओर झुक रहा था। पर वह इस बात को स्वीकार करना नही चाहता था। मानो इस बात को अस्वीकार करने के लिए उसने गोरा के सौतेले भाई की लडकी से शादी करना स्वीकार कर लिया, पर तब तक आनन्दमयी को ललिता के साथ उसके स्नेह का,पता लग चुका था, इस कारण उन्होने यह शादी नही होने दी। गोरा तो पहले ही विनय से निराश होकर अपने काम मे अन्य साथियो को लेकर चलने का निश्चय कर चुका था।

परेश बाबू की स्त्री वरदा सुन्दरी बहुत कट्टर ब्राह्म थी, और अन्य किसी समाज मे भी भलाई हो सकती है इस बात को मानने के लिए वह तैयार नही थी। वह गोरा यहाँ तक कि विनय को विशेष पसन्द नही करती थी। उन्हे तो हारान जैसे लोग पसन्द थे। पर परेश बाबू सन्त स्वभाव के व्यक्ति थे इस कारण वरदा सुन्दरी का वश नही चलता था। वह हाकिमों के घर आना-जाना बडे सम्मान की बात समझती थी। इसलिए जब एक बार यह प्रस्ताव हुआ कि लाट साहब आ रहे है और उसमे उनकी कन्याओ को अग्रेजी कविता आदि आवृत्ति करने का मौका मिलेगा, तो वह बहुत खुश हुई। एक आदमी कम पड़ता था, सो उसके लिए विनय को राजी कर लिया गया।

उधर गोरा को यह खयाल आया कि देश को अच्छी तरह जानना चाहिए। इस कारण वह लोटा-कम्बल लेकर गाँव-गाँव मे घूमने लगा। इसी सिलसिले मे उसने कही पर देखा कि गाँव वालो के साथ सरकारी अफसर ज्यादती कर

रहे हैं। बस इस बात पर गोरा उनसे भिड गया। पहले तो हाकिम ने उसे समझाया, पर जब वह उनकी बातो को मानने के लिए राजी नही हुआ तो उसे जेल भेज दिया गया। विनय, ललिता वगैरा कविता-आवृत्ति करने के लिए उसी हाकिम के यहाँ अतिथि बनकर गए थे। ज्यो ही विनय को इस बात का पता लगा, उसने छोटे लाट के सामने कविता आदि पढने यहाँ तक कि उस हाकिम के यहाँ और एक मिनट भी रहने से इन्कार किया। ललिता ने भी उसका साथ दिया। पर वरदा सुन्दरी और हारान इस घटना को इस दृष्टि से देखने के लिए तैयार नही हुए। हारान ने तो गोरा पर ही दोष लगाया। पर विनय नही माना। विनय और ललिता उसी समय वहाँ से रवाना हो गए, और घर चले गए।

हारान बाबू की कट्टरता तथा कई मौको पर उनका व्यवहार देखकर सुचरिता उनसे खिन्न हो चुकी थी। जिन दिनों गोरा बाहर था, उन्हीं दिनों उसने करीब-करीब स्पष्ट रूप से हारान बाबू को यह कह दिया था कि वह उनसे शादी करना नही चाहती। फिर भी हारान बाबू निराश नही हुए थे और समझते थे कि यह सुचरिता का एक खयाल है, जो समय पाकर दूर हो जायगा। वह अपने को बहुत लायक वर समझता था, पर सुचरिता उसे विशेष सम्मान की दृष्टि से नही देखती थी। हारान ने परेश बाबू से कहा कि वे सुचरिता पर अपना असर डालें, पर वह इस मामले में हस्तक्षेप करना उचित नही समझते थे। वरदा सुन्दरी ने सुचरिता को समझाया, केवल यही नही उन्होने उस पर सब तरह से दबाव डाले, पर सुचरिता नही मानी।

जब हारान ने यह परिस्थिति देखी, तो उसने परेश बाबू के विरुद्ध प्रचार कार्य शुरू किया। यद्यपि परेश बाबू बहुत उदार व्यक्ति थे, तो भी वे ब्राह्म थे और यह चाहते थे कि ब्राह्म गण उन्हे अच्छा कहे। इस कारण हारान ने ललिता और विनय के एक साथ स्टीमर पर चले आने की घटना को लेकर एक तूफान खडा कर दिया। जब विनय को इस बात का पता लगा तो वह हिचकिचाया कि क्या करे। आनन्दमयी ने सारी बात समझकर उसे ललिता के साथ शादी करने की सलाह दी। पर अडचन यह थी कि किस मत से शादी हो, ब्राह्म मत से या हिन्दू मत से। विनय ने जब देखा कि इतनी सी बात है, तब वह ब्राह्म बनने पर तैयार हुआ, पर ललिता ने उसे यह त्याग करने से रोका। आनन्दमयी ने भी इसे पसन्द नही किया। गोरा तथा उसके साथी तो इसके विरोधी थे ही।

गोरा के छूटने के बाद केवल हिन्दू धर्म की विजय दिखलाने के लिए उसके

शिष्यो ने यह तय किया कि धूम-धाम से प्रायश्चित्त किया जाय। कृष्णदयाल बाबू गोरा को समझाते रहे, पर गोरा या उसके शिष्यो ने इस बात को नही माना।

बडे जोर से प्रायश्चित की सभा बैठी हुई थी। इतने मे खबर आई कि कृष्णदयाल बाबू बहुत सख्त बीमार है और उनके मुँह से खून आ रहा है। गोरा प्रायश्चित्त छोडकर घर आया। कृष्णदयाल बाबू की हालत खराब थी। उन्होने समझा कि उनका अन्तिम समय आ चुका है, इस कारण उन्होने गोरा को उसके जन्म का रहस्य बता दिया, और यह कह दिया कि क्यो वे स्वय कट्टर होते हुए भी उसके कट्टरपन का विरोध करते रहे। कृष्णदयाल बाबू की बीमारी मामूली साबित हुई। डॉक्टर ने कहा कि कोई खतरा नही है।

गोरा को जब यह ज्ञात हो गया कि वह एक आयरिशमैन का लडका है, तब वह समझ गया कि क्यो कृष्णदयाल स्वय कट्टर होते हुए भी बराबर उसे कट्टर सनातनी आचारो से रोकते थे, उसकी समझ मे यह भी बात आ गई कि क्यों आनन्दमयी के विचार इतने उदार थे। आनन्दमयी ने उसे कभी कहा था, 'बेटा तुझे गोद मे पाकर मै धर्म के असली मतलब को समझ गई थी और कट्टरता से भागती हूँ।' आनन्दमयी को यह जो डर था कि गोरा अपने जन्म का रहस्य जान जायगा, तो वह उससे अलग हो जायगा, यह गलत साबित हुआ। दोनो मे जिस बन्धन की सृष्टि हो चुकी थी, वह अमिट था। गोरा को जब सब-कुछ मालूम हो गया, तो वह पुकार उठा—"मा ...."

आनन्दमयी ने कहा—"बेटा ...."

फिर गोरा बोला—"माँ, मै तुम ही मे अपने स्वप्न की भारत माता को पाता हूँ, वह भारत माता जिसके लिए सभी सम्प्रदाय एक से है और उनमे कोई भेद नही।"

ललित और विनय के विवाह के कारण हारान तथा अन्य कट्टर ब्राह्मो ने इतना शोर मचाया था कि बेचारे परेश बाबू पहाड जाकर इससे बचने की तैयारी कर रहे थे। सुचरिता भी उनके साथ जा रही थी। इतने मे गोरा ने आकर उन लोगो को अपने जन्म के रहस्य की बात बताई, और बताया कि कट्टरता उसके लिए कितनी गलत थी। सुचरिता के प्रति उसका जो प्रेम कट्टरता के कारण दबा हुआ था, अब उसके मार्ग मे कोई बाधा नही रही। परेश बाबू ने दोनो को आशीर्वाद दिया।

अब तो विनय और गोरा मे कोई भेद-भाव नही रहा, कट्टरता का मोह हट

गया, और आनन्दमयी भारत माता की सब सन्ताने एक हो गईं।

यह रहा इस उपन्यास का सार भाग। स्वाभाविक रूप से इस उपन्यास के सम्बन्ध मे बहुत तीव्र वाद-विवाद हुए और जब १६०८-६ के लगभग यह प्रकाशित हुआ, तो इसको लक्ष्य करके एक आँधी-सी चल पडी। रवीन्द्रनाथ को बहुत भला-बुरा कहा गया, और यहाँ तक कहा गया कि उन्होने कला की आड मे ब्राह्म साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहित किया है।

मैने स्वय इस उपन्यास को कई बार पढा है। इसमें सन्देह नही कि इस उपन्यास मे बहुत अप्रिय सत्य है। ये सत्य जितने अप्रिय लगते है या लग सकते है, जिस युग मे यह उपन्यास प्रकाशित हुआ था, उस युग मे आज से अधिक अप्रिय अथवा कटु रहे होगे। यह निश्चित है।

सत्य ब्रूयात्, प्रिय ब्रूयात्,
न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
परन्तु आज यही अभीष्ट है।

मैने इस उपन्यास को, विशेषकर इसके अन्तिम भाग को बहुत ध्यानपूर्वक पढ़ा है और मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि भले ही रवीन्द्रनाथ एक ब्राह्म-परिवार मे पले हो, ऐसा परिवार, जो ब्राह्म समाज का नेतृत्व करता था, परन्तु वे इस उपन्यास मे किसी प्रकार की भी सकीर्णता से बहुत ऊँचे उठ गए है। आगे चलकर उन्होने अपने हिबार्ट व्याख्यान मे जिस मानव धर्म का प्रतिपादन किया था, उसी को हम इस उपन्यास मे प्रतिफलित पाते है।

जिन लोगो ने 'गोरा' नामक उपन्यास नही पढा है, उनकी अवगति के लिए बता दूं कि इस उपन्यास मे कवीन्द्र ने उस समय के बगाल के सनातन हिन्दू समाज और ब्रह्म समाज के सघर्ष को दिखाया है। यह सघर्ष बड़ा प्रचण्ड था जैसा कि इस उपन्यास मे भी प्रतिफलित हुआ है। सारे समाज में यह सघर्ष तथा हृदय-मथन चल रहा था कि नवीन विचारो को कहाँ तक अपनाया जाय और रुढि को कहाँ तक छोडा जाय। यदि रवीन्द्रनाथ इस सघर्ष को इस रूप में दिखाते कि मानो ब्रह्म समाज सारी प्रगति का द्योतक है, और सनातन समाज मे केवल प्रतिक्रिया-मात्र है, तो उनका यह उपन्यास कला की कोटि से निकलकर 'पार्टी लिटरेचर' यानी दलगत साहित्य की श्रेणी मे आ जाता, पर रवीन्द्रनाथ ने ऐसा नही किया है।

गोरा और विनय इस उपन्यास के दो प्रमुख पात्र है। दोनो सनातनी हिन्दू है, घटना-चक्र ऐसा होता है कि दोनो सनातन समाज़ के स्वीकृत दायरे से अन्त तक निकल जाते है, पर वे ब्रह्म सम्प्रदाय की दीक्षा नही लेते। विनय

अपेक्षाकृत दुर्बल चित्त व्यक्ति है, पर वह ब्राह्म धर्म मे दीक्षा लेने के लिए तैयार हो जाने पर भी अन्त तक इस इच्छा से अलग हो जाता है। इसी प्रकार इस उपन्यास की दो मुख्य नायिका ललिता और सुचरिता ब्राह्म होती हुई भी ब्राह्म नही रहती, अर्थात् वे अपना कल्याण सकीर्ण ब्राह्म समाज के बाहर ही खोज लेती है। इस प्रकार से उपन्यास का अन्त होता है। अन्त मे कबीर साहब की मानो वही वाणी प्रतिध्वनित होती है—

'अरे इन दोउन ने राह न पाई'

और एक तृतीय मार्ग अर्थात् इस समस्त साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर कल्याण का मार्ग दिखाई पडता है।

इस उपन्यास मे ब्राह्म समाज की कट्टरता का उसी प्रकार से पर्दा-फाश किया गया है, जिस प्रकार से सनातन समाज पर चाबुक लगाये गए है। सच तो यह है कि हारान और वरदा सुन्दरी चरित्र मे उन्होने ब्राह्म कट्टरता का साथ-ही-साथ ब्राह्म समाज कमेटी तक का जिस तरह पर्दा-फाश किया है और उन्हे नग्न रूप मे दिखलाया है, वह हिन्दू समाज के कट्टर पात्रो की कट्टरता से कही अधिक स्पष्ट है। इसमे कोई आश्चर्य नही, क्योकि एक ब्राह्म होने के नाते हमारे कवीन्द्र ब्रह्म समाज का अधिक प्रत्यक्ष परिचय रखते होगे। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश साम्राज्यवाद की छत्र-छाया मे ब्राह्मगण अपने को जो बहुत श्रेष्ठ समझते थे, इस कारण उन पर कसकर चाबुक लगाने की आवश्यकता थी। रवीन्द्रनाथ ने बिलकुल निष्पक्ष भाव से इस कार्य को किया, अपितु जैसा कि मै बता चुका हूँ ब्रह्म समाज पर ही उनकी चोटे अधिक हुई है। अवश्य उस युग मे लोगो ने जो यह कहा था कि यह उपन्यास हिन्दू समाज पर अधिक तीव्र कटाक्ष करता है, सो मै तो यह बता ही चुका हूँ कि यह उपन्यास अप्रिय सत्यों का एक पिटारा-सा है, और चूँकि हिन्दू समाज मे ऐसे विन्दु अधिक थे जिन पर चोट लग सकती थी, इसलिए यदि हिन्दू समाज के लोगो को यह मालूम हुआ कि उन पर चोट अधिक की गई है तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है।

यद्यपि अब ब्रह्म समाज तथा हिन्दू समाज के लोगो मे कोई विशेष प्रभेद नही रहा, या यो कहा जाय कि समस्त हिन्दू समाज अब ब्रह्म समाज की उन तमाम बातो को अपना चुका है जो सुन्दर थी, और ब्रह्म समाज अपनी आत्मतुष्ट गर्वित भावनाओ को त्याग चुका है परन्तु आज भी 'गोरा' उपन्यास पाठको को यथेष्ट रसास्वादन कराता है। ऐसे उपन्यास, जो समसामयिक वाद-विवादो को लेकर लिखे जाते है जैसे प्रेमचन्द ने अनुमानत. अपने सारे उप-

न्यास लिखे है, उनके सम्बन्ध मे अक्सर यह भी कहा जाता है कि उस प्रकार के वाद-विवादो का अन्त होते ही वे उपन्यास भी समाप्त हो जाते हैं। पर आज भी 'गोरा' को पढने पर यह ज्ञात होता है कि यदि किसी समसामयिक वाद-विवाद को लेकर या किसी समसामयिक आन्दोलन पर कोई उपन्यास या काव्य-कृति लिखी जाती है, और वह इतनी उत्कृष्ट होती है कि साहित्य की श्रेणी मे आ जाय, तो उसके समाप्त होने की कोई आशका नही रह जाती। विश्व-साहित्य मे इसके बहुत से उदाहरण दिये जा सकते है। रामायण, महाभारत, ओडिसी से लेकर विक्टर ह्यूगो के 'लामिजेरावल' और '९३' से लेकर टाल्स्टाय की 'युद्ध और शांन्ति' और ऐसी सैकडो पुस्तके समसामयिक आदोलनो तथा उफानो को लेकर लिखे गए है। ये आन्दोलन कब के समाप्त हो चुके, ये उफान कब के बैठ चुके, पर उनको आधार मानकर जिस साहित्य की रचना हुई, वह किसी भी रूप मे पुराना नही हुआ और ज्यो-का-त्यो ताजा बना हुआ है।

सच तो यह है कि 'गोरा' जिस समय लिखा गया था, उसी समय ब्रह्म समाज और हिन्दू समाज के इस आपसी विवाद का जोश बहुत-कुछ मर चुका था। इस अर्थ मे 'गोरा' उसी समय बहुत-कुछ एक ऐतिहासिक उपन्यास था। इस समय तो गोरा, हारान बाबू, सुचरिता, विनय, वरदासुन्दरी बहुत-कुछ उसी प्रकार से ऐतिहासिक पात्र है, जिस प्रकार से राणा प्रतापसिह, शिवाजी, अकबर, औरगज़ेब आदि है। किसी उपन्यास के ऐतिहासिक होने की कसौटी केवल इतनी ही नही है कि उसके पात्र तथा पात्रियाँ वास्तविक रूप से ऐतिहासिक थी। परख तो इस बात मे है कि उस उपन्यास मे जिन पात्रो तथा पात्रियो का वर्णन किया गया है, वे उस युग मे हो सकते थे या नही। यदि वे पात्र तथा पात्रियाँ उस युग में हो सकते थे, और वे उसी प्रकार से सोचते है जैसा कि उस युग के व्यक्ति सोचते थे तो वह उपन्यास ऐतिहासिक वस्तुवाद के आधार पर सही उतरता है। उस अवस्था मे उस उपन्यास के मर जाने का कोई डर नही है, क्योकि उपन्यास अर्थात् सफल उपन्यास किसी समसामयिक आदोलन के ताने-बाने को भले ही ग्रहण कर ले, उनका बाकी ढाँचा और बनावट ऐसे सर्वकालीन आधार पर बनी होती है कि वह उपन्यास हमेशा दिलचस्पी का विषय बना रहता है।

यही बात 'गोरा' उपन्यास के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। तो क्या 'गोरा' अब एक ऐतिहासिक उपन्यास-मात्र है? नही, हमने जिस विस्तृत अर्थ मे ऐतिहासिक उपन्यास का प्रयोग किया है, उस अर्थ में तो सभी वस्तुवादी उप-

न्यास ऐतिहासिक उपन्यास कहे जा. सकते है। इसीलिए यह स्पष्ट कर दिया जाय कि साधरण अर्थ मे ऐतिहासिक उपन्यास केवल उसी उपन्यास को कहा जाता है, जो एक ऐसे काल के लोगो को लेकर लिखा गया हो जिसे लोग वर्तमान काल न मानकर ऐतिहासिक काल के अन्तर्गत मानते है। इस अर्थ मे 'गोरा' को वस्तुवादी उपन्यास कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

अवश्य आज वस्तुवाद मे जिन बातो को अत्यन्त अपरिहार्य समझा जाता है, उनमे से कई उपादान गोरा मे नही मिलेगे, जैसे आर्थिक अवस्था तथा वर्गों का सघर्ष फिर भी रवीन्द्रनाथ के साथ न्याय करने के लिए यह बता देना आवश्यक है कि गोरा के भ्रमण के बहाने उस समय ग्राम-वासियो की दुर्दशा का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही यह भी बता दिया जाय कि ग्रामवासियो की आर्थिक दुर्दशा के बजाय गोरा उनके विचारो के सम्बन्ध मे ही अधिक चिन्तित है, और इस कारण इस पुस्तक मे इसी विषय का अधिक व्यापक वर्णन आता है।

मैने बार-बार इस बात को कहा है कि इस उपन्यास मे उस समय होने वाले विचारो के सघर्ष पर ही अधिक महत्त्व दिया गया है, पर बाद के लेखको की तरह खुले शब्दो मे न सही, गोरा ने यह अनुभव कर लिया था कि जनता को अज्ञान की कीचड से उठने देने मे यदि एक-मात्र नही तो अन्यतम प्रधान बाधक बृटिश साम्राज्यवाद था। इसी कारण गोरा को बृटिश साम्राज्यवाद के साथ सघर्ष मे जाना पडा, और जेल की यात्रा भी करनी पडी। स्मरण रहे कि उस समय भारतवर्ष मे व्यापक रूप से सत्याग्रह का प्रारम्भ नही हुआ था। हाँ, स्वदेशी आन्दोलन के सिलसिले मे भद्र अवज्ञा का किसी-न-किसी रूप मे प्रयोग हुआ था। यह भी एक बहुत सुन्दर बात है कि गोरा ने जमानत देकर छूटने से इन्कार किया। उसने जमानत देने मे इन्कार करते हुए जो बात कही वह भी बड़े मार्के की है। उसने इस कारण जमानत देने से इन्कार किया कि जिन ग्रामवासियों को लेकर वह जेल गया था उनमे से केवल उसी के लिए जमानत देकर छूटना सुलभ था, बाकी लोग जमानत नही दे सकते थे। 'गोरा' मे इस प्रकार जो साधारण जनता के साथ एक होकर जीने और मरने की प्रवृत्ति है, वही सब प्रकार के जन-आन्दोलनो की आत्मा है। दुख है कि 'गोरा' उपन्यास के इन पहलुओ पर बँगला के अच्छे समालोचको तक ने ध्यान नही दिया।

'गोरा' मे न तो राजनीतिक मुक्ति के स्वरूप का ही कोई स्पष्टीकरण किया गया है, और न इसमे उसके मार्ग का ही कोई निर्देश किया गया है, फिर भी

इस उपन्यास मे यह बात भली-भाति दरसा दी गई है कि साम्राज्यवाद के साथ एक अपरिहार्य कर्तव्य है। रवीन्द्रनाथ इस पहलू को उसके तार्किक उपसहार तक नही ले जाते। यह पहलू बीच ही मे छूट जाता है।

अन्त इस प्रकार होता है कि सभो मुख्य पात्र तथा पात्रियाँ साम्प्रदायिकता से अलग हो जाती है और ऊपर उठ जाती है। गोरा, जिसे इस उपन्यास का प्रधान नायक कहा जा सकता है, अपनी कट्टरता छोडकर अपने को भारत के मानव-समाज का एक अग समझ लेता है। उसम कोई भेद-भाव नही रह जाता। केवल यही नही यह एक प्रगतिवादी अन्त हुआ है, पर केवल गोरा के विचार बदल जाने से, या गोरा और सुचरिता के अपनी-अपनी कट्टरता के कठघरो से निकट आकर एक दूसरे से मिलित होने पर देश की समस्या तो वही रह जाती है। विचार-परिवर्तन विशेषकर कूपमण्डूकता को छोडकर उच्चतर विचार ग्रहण करना अपनी जगह पर एक बहुत बडी बात है, और सच तो यह है कि अच्छे विचार हुए बिना तथा अच्छा परिप्रेक्षित प्राप्त किये बिना कोई अच्छा काम नही हो सकता पर केवल विचारो से कुछ हुआ नही करता। अवश्य उपन्यासकार के लिए यह कोई ठेका नही है कि वह अन्त तक प्रत्येक पात्र की सारी बातो को बताये, पर इतना तो मानना ही पडेगा कि यदि यह समझा जाय कि जब गोरा के विचार कट्टर थे, तब वह कर्मशील था, और जब उसके विचार उदार हो गए तो वह शादी करके घर बैठ गया तो यह तो कोई विशेष प्रगति नही हुई।

इस एक त्रुटि के अतिरिक्त 'गोरा' उपन्यास भारतीय साहित्य का एक अमर उपन्यास है। केवल यही नही, यह कहा जा सकता है कि बाद के उपन्यास-कारो के लिए जिनमे शरत् और प्रेमचन्द थे, यह एक 'माडेल' के रूप मे रहा।

७

# प्रेमचन्द का असमाप्त उपन्यास 'मंगल सूत्र'

सब-कुछ कह-सुन लेने के बाद अब भी प्रेमचन्द हिन्दी भाषा के सबसे बडे उपन्यासकार रह गए है। आधुनिक समय मे हिन्दी मे बहुत-से उपन्यासकार है और उनमे से कइयो ने अच्छी प्रतिभा का परिचय दिया है, पर प्रतिभा और साथ-ही-साथ सृष्टि-शक्ति की विपुलता, ये दोनो गुण प्रेमचन्द के अतिरिक्त किसी दूसरे उपन्यासकार मे अभी तक एक साथ नही पाए गए। प्रेमचन्द ने अच्छा भी लिखा और बहुत अधिक भी लिखा।

उनके लिखे उपन्यास ये है— (१) वरदान, (२) प्रतिज्ञा, (३) सेवा सदन, (४) प्रेमाश्रम, (५) रगभूमि, (६) कायाकल्प, (७) गबन, (८) निर्मला, (९) कर्मभूमि तथा (१०) गोदान। इनके अतिरिक्त उन्होने लगभग २५० कहानियाँ भी लिखी है। किन्तु यही उनकी सारी रचना नही है। उन्होने शेख-शादी की जीवनी आदि कई अन्य पुस्तकें भी लिखी है जो इतनी परिचित नही है। दो नाटक भी उन्होने लिखे, जो सफल नही हुए। उन्होने अन्य कई क्षेत्रो मे प्रयास किया, पर वे उपन्यास और कहानी के क्षेत्र मे ही सबसे अधिक सफल है और इस क्षेत्र मे वे अभी तक हिन्दी-साहित्य मे अपराजित है।

मै अपनी 'कथाकार प्रेमचन्द' नामक पुस्तक मे प्रेमचन्द की कला पर विस्तार के साथ आलोचना कर चुका हूँ। यहाँ उसकी पुनरावृत्ति करने की न तो आवश्यकता है और न उसके लिए स्थान ही है। फिर भी भूमिका के रूप मे कुछ शब्द यहाँ देना आवश्यक है। मैने उपर्युक्त पुस्तक मे, प्रेमचन्द की कला की आत्मा का विवेचन इन शब्दो मे किया था—

"उनकी कला का विकास हाथीदाँत के मीनार पर बैठकर कमल चर्वण करते-करते नही हुआ, बल्कि जीवन के कठोर सग्राम के दौरान मे उसका विकास हुआ। उनकी कला मे भले ही रेती से साफ की हुई परिष्कृति नही आई हो, किन्तु उसमे जीवन की तड़पन और शोणित का प्रवाह खूब आया।

यदि प्रेमचन्द और अधिक दिन जीवित रहते तो अवश्य ही उनका साहित्य और भी सुदूर विस्तृत होता, किन्तु जैसा कि वह है, वह भी कुछ कम विस्तृत नही है। बालजक की तरह उनके उपन्यासो मे दो हजार विशिष्ट चरित्र तो नही आते और उनके उपन्यासो के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि उनके चरित्र सर्वथा नए है, कई बार तो उनके कई उपन्यासो का मुख्य चरित्र एक ही व्यक्ति मालूम होता है, किन्तु फिर भी उनकी रचनाओ मे न तो विशिष्ट चरित्रो का ही अभाव है और न घटनाओ का ही। 'कायाकल्प', 'प्रेमाश्रम', 'रगभूमि' तथा 'कर्मभूमि' के नायक बहुत-कुछ एक टाइप के होने पर भी वे व्यक्तित्व-हीन हो गए हो, ऐसी बात नही। उनकी सबकी अपनी-अपनी कमजोरियाँ, खामख्या-लियाँ तथा गुण-अवगुण मौजूद है।" (पृष्ठ ६५७)

उसी पुस्तक में बाद में चलकर समसामयिक भारतीय उपन्यास-साहित्य मे प्रेमचन्द की कला के मूल्य को कूतते हुए मैने लिखा था—"एक दूसरे माप-दड से नापने पर भी प्रेमचन्द की रचनाएँ बहुत विस्तृत ठहरती है। वह माप-दड यह है कि क्या उनके उपन्यासो के पढने से समसामयिक हिन्दी-हिन्दुस्तानी-भाषी लोगो का एक खाका हमारी आँखो के सामने खिच जाता है या नहीं। इसका उत्तर हाँ मे देना पडेगा। सच बात तो यह है कि किसी भी एक भारतीय उपन्यासकार ने—हम इनमे रवीन्द्रनाथ, शरच्चन्द्र और कन्हैयालाल मुन्शी को भी गिन रहे है—समसामयिक भारतीय जीवन की, उसकी समस्याओ तथा सग्रामो का इतना व्यापक चित्रण नही किया है। रवीन्द्रनाथ और शरत् बाबू मे तो हम एक-मात्र अपवाद के अतिरिक्त भारत के राजनीतिक सग्राम का कुछ भी पता नही पाते। अवश्य रवीन्द्रनाथ के नाटक 'अचलायतन', 'रक्तकरबी', तथा उपन्यास 'घरेबाइरे' और 'चार अध्याय' को समसामयिक राजनीतिक आन्दोलनो के साथ सयुक्त किया जा सकता है, किन्तु इनकी राज-नीति व्यावहारिक राजनीति मे इतनी दूर है कि पाठक यदि चाहे तो भुला सकता है कि इनका राजनीति के साथ कुछ सम्बन्ध भी है। इसी प्रकार शरत् बाबू 'पथेरदावी' के अतिरिक्त कही भी राजनीति के पास नही फटकते। शरत्बाबू के सैकडो नायक-नायिकाएँ अपने युग मे चलने वाले इन सग्रामो तथा आन्दोलनो से बिलकुल बेखबर है। वर्ग-सघर्ष के चित्रण की दृष्टि भी प्रेमचन्द मे शरत्बाबू से उच्चतर है। यह ठीक है कि उनकी कला उतनी निखरी हुई नही है, और अक्सर शिथिल भी है किन्तु यह दूसरी बात है। किसान की एक जान है, किन्तु उसके कितने खून चूसने वाले है, इस बात को यदि किसी को जानना हो तो इस सम्बन्ध में समाजवादी दलो की दस पुस्तिकाओं से

इतना नही जानेगा, जितना प्रेमचन्द के एक 'गोदान' से जान सकता है।"
(पृष्ठ ६६७)

प्रेमचन्द की कला की भूमिका के रूप मे इतनी बाते कह देने के बाद अब मै इस लेख के विषय पर आता हूँ। प्रेमचन्द के प्रेमी पाठक जानते है कि जिस समय उनका देहान्त हुआ उस समय वे 'मगल सूत्र' नाम का एक उपन्यास लिख रहे थे, पर अकाल मृत्यु के कारण वे उसे समाप्त नही कर सके। अब यह अधूरा उपन्यास 'मगल सूत्र' नाम से ही बनारस के 'हिन्दुस्तान-पब्लिशिंग-हाउस' से प्रकाशित हुआ है। पहले यह खबर मिली थी कि प्रेमचन्दजी के सुपुत्र श्री अमृतराय जी इस अधूरे उपन्यास को पूरा कर रहे है, और वह सम्पूर्ण होकर ही प्रकाशित होगा। इस सम्बन्ध मे कुछ लोगो की राय थी कि इस प्रकार प्रेमचन्द के एक उपन्यास को पूरा करके जनता के सामने रखना धोखेबाजी होगी, पर मै बराबर यह मानता रहा कि इस उपन्यास के इस प्रकार पूर्ण होकर प्रकाशित होने मे उस दशा मे तो कोई हानि नही, यदि प्रकाशको की तरफ से यह साफ-साफ बता दिया जाय कि उपन्यास का इतना अश प्रेमचन्द का लिखा हुआ है, और इतना दूसरे का। साहित्य के इतिहास मे कई बार ऐसा हो चुका है। अस्तु।

इस बीच मे क्या हुआ, पता नही। हो सकता है कि ऊपर बताई खबर ही गलत हो। पर अब जितना अश प्रेमचन्द ने स्वय लिखा था, उतना ही प्रकाशित हुआ है। बडे दुख की बात है कि इस अधूरी पुस्तक को बिना किसी भूमिका के ही छापा गया है। मै उन लोगो मे से नही हूँ जो यह समझते है कि प्रत्येक उपन्यास की कुछ-न-कुछ भूमिका होनी ही चाहिए। सच तो यह है कि मै बहुत-कुछ इस परिपाटी के विरुद्ध हूँ, और मैने एक के अतिरिक्त अपने किसी भी उपन्यास की कोई भूमिका नही लिखी है।

पर 'मगल सूत्र' जिस रूप मे प्रकाशित हुआ है, उसे एक उपन्यास न कहकर एक ऐतिहासिक आलेख या Document कहना ही अधिक उचित होगा। इसको तो वे ही लोग पढेगे जो प्रेमचन्द-साहित्य के विकास का अध्ययन करना चाहते है, या जो यह जानना चाहते है कि अपने अन्तिम दिनो मे उस महान् कलाकार की विचार-धारा किधर को बह रही थी, तथा उसकी कला परिष्कृत किस प्रकार हुई। इसलिए इस पुस्तक मे एक भूमिका होनी चाहिए थी, जिसमें यह बताया जाता कि प्रेमचन्द ने यह उपन्यास किन दिनो मे और किन परिस्थितियो मे लिखा। आलेख के रूप मे ही महत्त्वपूर्ण होने के कारण

इसमें उनकी पत्नी तथा पुत्रो का इससे सम्बन्धित कोई वक्तव्य जोड़ दिया जाता तो अच्छा रहता।

जब यह पुस्तक मेरे सामने आई तो मुझे तो यह भी पता नही चला कि इसमें केवल उतना ही अश है जितना प्रेमचन्द ने लिखा था या कुछ जोड़ा भी गया है। जब मैंने इस सम्बन्ध मे प्रेमचन्द के सुपुत्र श्री श्रीपतराय से पत्र लिखकर पूछा तभी मुझे पता लगा कि केवल उतना ही अंश छापा गया है जितना प्रेमचन्द ने लिखा था। अच्छा हो कि द्वितीय सस्करण मे इन सारी बातो पर प्रकाश डालते हुए एक छोटी-सी भूमिका जोड दी जाय।

'मगल सूत्र' जिस रूप मे प्रकाशित हुआ है, इसमे मुश्किल से तेरह हजार शब्द होगे। सक्षेप मे इसका कथानक यो है—

बड़े बेटे सतकुमार को वकील बनाकर, छोटे बेटे साधुकुमार को बी. ए. की डिग्री दिलाकर और छोटी लड़की पंकजा के विवाह के लिए स्त्री के हाथो मे, पॉच हजार रुपये नकद रखकर, साहित्यिक देवकुमार ने ईश्वर-चिन्तन मे सारा समय बिताने का विचार किया। पर साहित्यिक के नाते उनमे एक अकड भी थी और वे चाहते थे कि राजा और रईस उनके द्वार पर आयँ और उनकी खुशामद करे, जो एक अनहोनी बात थी। पहले वे साहित्य-अनुशीलन मे अपना सारा समय बिताते थे, किन्तु इधर उन्हे साहित्य से कुछ अरुचि हो गई थी।

देवकुमार ने इस प्रकार अपने को धनोपार्जन से पृथक् कर लिया, यह बात बडे बेटे सतकुमार को पसन्द नही थी और वह खुलकर इसका प्रतिवाद कर रहा था। देवकुमार ने अपने यौवन मे बाप-दादो की जायदाद का बहुत बड़ा हिस्सा भोग-विलास मे फूँक दिया था, उन्होने जिस जमीन को मामूली दाम पर बेचा था, अब उसका दाम लाखो पर पहुँच चुका था। सतकुमार को इस बात पर भी बडी चिढ थी और वह हर समय इस चिन्ता मे घुला करता था कि वह जायदाद किसी प्रकार मुकदमा आदि करके वापस मिले। पर मुकदमे के लिए पैसो की आवश्यकता थी, और वह पैसा उसके पास था नही।

सन्तकुमार इस प्रकार के स्वभाव का था। पर उसका छोटा भाई साधुकुमार बराबर पिता का ध्यान रखकर चलता था। देवकुमार की पत्नी शैव्या यों तो देवकुमार के यौवन के कारनामो से सुखी नही था, पर सन्तकुमार जैसे हर समय अपने पिता के पीछे हाथ धोकर पडा रहता था, वह उससे सहमत नही थी। सन्तकुमार इस सम्बन्ध मे जब अति कर जाता था, तो वह उसे डाँट भी देती थी।

सन्तकुमार केवल पिता पर ही खड्गहस्त रखता हो, ऐसी बात नही। वह अपनी पत्नी पुष्पा पर भी नाराज रहता था। पुष्पा बिलकुल फूल-सी सुन्दर, नाजुक, हल्की-फुल्की थी। वह आत्माभिमानिनी थी। जब वह पति से नाराज होती थी, तो भी घर के काम-काज पहले की भाँति करती रहती थी। पर पति की ओर कभी ताकती नही थी। यही उसका अस्त्र था।"

एक बार पुष्पा नाराज हो गई तो सन्तकुमार ने मना लिया। फिर भी यह मनाना ऊपर से था। पुष्पा सधि-पत्र पर हस्ताक्षर स्वरूप पान का एक बीडा लगाकर सन्तकुमार को देती हुई बोली—"अब कभी वह बात मुँह से न निकालना। अगर मै तुम्हारी आश्रिता हूँ तो तुम भी मेरे आश्रित हो। मै तुम्हारे घर मे जितना काम करती हूँ, इतना ही काम दूसरो के घर मे करूँ तो निर्वाह कर सकती हूँ या नही, बोलो ?"

सन्तकुमार ने कडा जवाब देने की इच्छा को रोककर कहा, "बहुत अच्छी तरह।"

"तब मै जो कुछ कमाऊँगी वह मेरा होगा। यहाँ मै चाहे प्राण भी दे दूँ पर मेरा किसी चीज पर अधिकार नही। तुम जब चाहो मुझे घर से निकाल सकते हो।"

"कहती जाओ, मगर उसका जवाब सुनने के लिए तैयार रहो।"

"तुम्हारे पास कोई जवाब नही है, केवल हठधर्मी है। तुम कहोगे, यहाँ तुम्हारा जो सम्मान है वह वहाँ न रहेगा, वहाँ कोई तुम्हारी रक्षा करने वाला न होगा, कोई तुम्हारे दुख-दर्द मे साथ देने वाला न होगा। इसी तरह की और भी कितनी ही दलीले तुम दे सकते हो। मगर मैंने मिस बटलर को आजीवन क्वाँरी रहकर सम्मान के साथ जिदगी काटते देखा है। उनका निजी जीवन कैसा था, यह मै नही जानती। सभव है, वह हिन्दू गृहिणी के आदर्श के अनुकूल न रहा हो, मगर उनकी इज्जत सभी करते थे, और उन्हे अपनी रक्षा के लिए किसी पुरुष का आश्रय लेने की कभी जरूरत नही हुई।

सन्तकुमार मिस बटलर को जानता था। वह नगर की प्रसिद्ध लेडी डॉक्टर थी। पुष्पा के घर से उसका अपनापन सा हो गया था। पुष्पा के पिता डॉक्टर थे और एक पेशे के व्यक्तियो मे कुछ घनिष्ठता हो ही जाती है। पुष्पा ने जो समस्या सन्तकुमार के सामने रख दी थी उस पर मीठे और निरीह शब्दो मे कुछ कहना उसके लिए कठिन हो रहा था और चुप रहना उसकी पुरुषता के लिए उससे भी कठिन था।

वह दुविधा मे पडकर बोला, "मगर सभी स्त्रियाँ मिस बटलर तो नही हो सकती ?"

पुष्पा ने आवेश के साथ कहा, "क्यो ? अगर वह डॉक्टरी पढकर अपना व्यवसाय कर सकती है, तो मै क्यो नही कर सकती ?"

"उनके समाज मे और हमारे समाज मे बडा अतर है।"

"अर्थात् उनके समाज के पुरुष शिष्ट है, शीलवान् है, और हमारे समाज के पुरुष चरित्र-हीन है, लम्पट है, विशेषकर जो पढे-लिखे है।"

"यह क्यो नही कहती कि उस समाज मे नारियो मे आत्मबल है, अपनी रक्षा करने की शक्ति है और पुरुषो को काबू मे रखने की कला है।"

"हम भी तो वही आत्मबल, शक्ति और कला प्राप्त करना चाहती है, लेकिन तुम लोगो के मारे जब कुछ चलने पावे ? मर्यादा और आदर्श और जाने किन-किन बहानो से हमे बचाने की और हमारे ऊपर अपनी हुकूमत जमाए रखने की कोशिश करते रहते हो।"

× × ×

पर सन्तकुमार इस समय लडना नही चाहता था। वह चाहता था कि पुष्पा अपने पिता से दस हजार रुपये दिलाए, जिससे वह मुकदमा लडकर देवकुमार की बेची हुई जायदाद वापस ले सके। पर पुष्पा पिता को यह बात लिखने पर राजी नही हुई। इस पर सन्तकुमार ने होठ चबाकर कहा, "जरा-सी बात तुमसे नही लिखी जाती, उस पर दावा यह है कि घर पर मेरा भी अधिकार है!"

पुष्पा ने जोश के साथ कहा, "मेरा अधिकार तो उसी क्षण हो गया जब मेरी गाँठ तुमसे बँधी।"

सन्तकुमार ने गर्व के साथ कहा, "ऐसा अधिकार जितनी आसानी से मिल जाता है उतनी ही आसानी से छिन भी जाता है।"

पुष्पा को ये बातें बुरी लगी, पर ये थे सन्तकुमार। हाँ, पुष्पा का मन अपने देवर साधुकुमार से बहुत बहलता था क्योकि वह बुद्धिमान् और विचार-शील था। धन को ही वह एक-मात्र काम्य वस्तु नही समझता था।

सन्तकुमार को मिस्टर सिनहा का साथ मिल गया था, जो बडे कुशल वकील थे। उनका पेशा था मुकदमे बनाना। जैसे कवि एक कल्पना पर पूरा काव्य लिख डालता है, उसी तरह सिनहा साहब भी कल्पना पर मुकदमो की सृष्टि कर डालते थे। न जाने कवि क्यो नही हुए ? मगर कवि होकर वे भी साहित्य की चाहे जितनी श्री-वृद्धि कर सकते, अपना कुछ उपकार नही कर

सकते थे। कानून की उपासना करके उन्हे सभी सिद्धियाँ मिल गई थी। शानदार बँगले मे रहते थे, बडे-बडे रईसो और हुक्कामो से दोस्ती थी, प्रतिष्ठा भी थी, रौब भी था। कलम मे ऐसा जादू था कि मुकदमे मे जान डाल देते। ऐसे-ऐसे प्रसग सोच निकालते, ऐसे-ऐसे चरित्रो की रचना करते कि कल्पना सजीव हो जाती थी। बडे-बडे घाघ भी उसकी तह तक न पहुँच सकते। सब-कुछ इतना स्वाभाविक, इतना सम्बद्ध होता था कि उस पर मिथ्या का भ्रम तक न हो सकता था। वे सन्तकुमार के साथ के पढे हुए थे। दोनो मे गहरी दोस्ती थी। सन्तकुमार के मन मे एक भावना उठी, और सिनहा ने उसमे रग-रूप भरकर जीता-जागता पुतला खडा कर दिया, और मुकदमा दायर करने का निश्चय कर लिया गया।

सिनहा ने सन्तकुमार से कहा कि मुकदमा बन सकता है, और देवकुमार की जायदाद वापस मिल सकती है। बस इतना साबित करना था कि देवकुमार का मस्तिष्क विकृत था। सिन्हा ने सन्तकुमार से यह भी कहा कि वह जज पर असर डालने के लिए जज की लडकी 'तिब्बी' पर डोरे डालना शुरू करे। तिब्बी रूपवती थी, प्रसाधन भी खूब करती थी, पर उसके मन में पुरुषों को आकर्षित करने की भावना जरा भी नही थी। वह स्वय अपने रूप मे मग्न थी।

फिर भी मुहासिरा शुरू हो गया। मुकदमा जो जीतना था। यद्यपि अन्य युवक तिब्बी की अवज्ञा से निराश होकर लौटते थे, पर सन्तकुमार के सयम और विचारशीलता के कारण उनकी ओर वह खिचती थी। सन्तकुमार ने उसके निकट अपने को अनमेल विवाह का शिकार बताया था। तिब्बी में वे सब अवगुण थे, जो धनियो मे पाये जाते है, जैसे नौकरो को बिना कारण डाटना इत्यादि। सन्तकुमार ने चालाकी से तिब्बी को अपने वश मे कर लिया। पर वह खतरनाक हद तक न तो गया, और न जाना चाहता था, क्योकि उसके सामने उद्देश्य स्पष्ट थे।

सिनहा के कहने से सन्तकुमार देवकुमार को इस बात पर राजी करना चाहता था कि वे अपने-आपको इस मुकदमे के अनुसार बना ले। पर देवकुमार राजी नही हुए। बोले कि वे थोडे से रुपयो के लिए अपनी आत्मा को बेचने को तैयार नही है। प्रश्न तो केवल दो लाख का था, पर उन्होने कहा कि दस लाख पर भी वे आत्मा बेचने को तैयार नही होगे।

सन्तकुमार ने तीखे स्वर मे कहा, "अगर आप इसे आत्मा का बेचना कहते है, तो बेचना पडेगा। इसके सिवा दूसरा उपाय नही है। और आप इस दृष्टि से

इस मामले को देखते ही क्यो है ? धर्म वह है जिससे समाज का हित हो। अधर्म वह है जिससे समाज का अहित हो । इससे समाज का कौन-सा अहित हो जायगा, यह आप बता सकते है ?"

देवकुमार ने सतर्क होकर कहा, "समाज अपनी मर्यादाओ पर टिका हुआ है। उन मर्यादाओं को तोड दो और समाज का अन्त हो जायगा।"

दोनो तरफ से शास्त्रार्थ होने लगे।

देवकुमार बहुत बिगडे, पर काम न बना । सिनहा ने समझाया, 'धैर्य से काम लो, काम बनेगा। तुम क्या जानो, बाप को बेटा कितना प्यारा होता है। नालिश दायर हो जायेंगी, तो देखना, तुम्हारे पिता क्या करते है।' "देवकुमार बोले, "मुझे अपना धर्म, पत्नी और पुत्र प्यारा है।'

अन्त मे दोनो मित्र उठ खडे हुए। देवकुमार सोच मे पड गए उधर सन्तकुमार पिता पर बहुत नाराज हुआ। बोला, "जी चाहता है इन्हे गोली मार दूँ। मै इन्हे बाप नही, शत्रु समझता हूँ।"

देवकुमार को धमकियो से झुकाना असभव था, मगर तर्क के सामने उन की गरदन आप-ही-आप झुक जाती थी। इन दिनो वे यही पहेली सोचते रहते थे कि ससार की कुव्यवस्था क्यो है ? कर्म और ससार का आश्रय लेकर वे कही पहुँच पाते थे। सर्वात्मवाद से भी उनकी गुत्थी न सुलझती थी। अगर सारा विश्व एकात्म है तो फिर यह भेद क्यो है ? क्यो एक आदमी जिदगी-भर बडी-से-बडी मेहनत करके भी भूखो मरता है, और दूसरा आदमी हाथ-पाँव न हिलाने पर भी फूलो की सेज पर सोता है। यह सर्वात्म है, या घोर अनात्म ? बुद्धि जबाब देती, 'यहाँ सभी को अपनी शक्ति और साधनो के हिसाब से उन्नति करने का अवसर है।' मगर शंका पूछती, 'सबको समान अवसर कहाँ है ? बाजार लगा हुआ है। जो चाहे, वहाँ से अपनी इच्छा की चीज खरीद सकता है। मगर खरीदेगा तो वही जिसके पास पैसे है। और जब सबके पास पैसे नही है तो सबका बराबर का अधिकार कैसे माना जाय ? इस तरह का आत्म-मथन उनके जीवन मे कभी नही हुआ था। उनकी साहित्यिक बुद्धि ऐसी व्यवस्था से संतुष्ट तो हो ही नही सकती थी, पर मन के सामने अभी तक ऐसी कोई गुत्थी नही आई थी जो प्रश्न को वैयक्तिक अत तक ले जाती। इस समय उनकी दशा उस आदमी की-सी थी जो रोज मार्ग मे ईंटे पडी देखता है, और बचकर निकल जाता है। रात को कितने लोगो को ठोकर लगती होगी, कितनो के हाथ पैर टूटते होगे, इसका ध्यान उसे नही आता। मगर एक दिन जब वह खुद रात को ठोकर खाकर अपने घुटने फोड लेता है तो

उसकी निवारण-शक्ति हठ करने लगती है, और वह उस सारे ढेर को मार्ग से हटानें पर तैयार हो जाता है। देवकुमार को वही ठोकर लगी थी। कहाँ है न्याय ? कहाँ है ? एक गरीब आदमी किसी खेत मे बाले नोचकर खा लेता है। कानून उसे सजा देता है। दूसरा अमीर आदमी दिन-दहाडे दूसरो को लूटता है और उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है। कुछ आदमी तरह-तरह के हथियार बाँधकर आते हैं और निरीह, दुर्बल मजदूरो पर आतक जमाकर उन्हे गुलाम बना लेते हैं। वे लगान, टैक्स और महसूल तथा अन्य कितने ही नामो से उन्हे लूटना शुरू करते है, और आप लम्बे-लम्बे वेतन उड़ाते है, शिकार खेलते हैं, नाचते है, रँगरेलियाँ मनाते है। यही है ईश्वर का रचा हुआ ससार ? यही न्याय है ?

वे सोचते रहे, और अत मे उनकी शकाओ को इस धारणा से तसकीन हुई कि इस अनीति-भरे ससार मे धर्म-अधर्म का विचार गलत है, आत्मघात है और जुआ खेलकर या दूसरो के लोभ और आसक्ति से फायदा उठाकर सम्पत्ति खडी करना उतना ही बुरा या अच्छा है, जितना कानूनी दाँव-पेच से। बेशक वह महाजन के बीस हजार के कर्जदार है। नीति कहती है कि उस जायदाद को बेचकर उसके बीस हजार दे दिये जायँ। बाकी उन्हे मिल जाय।

देवकुमार इन्ही विचारो के वश मे सेठ गिरधरदास के पास पहुँचे। ये सेठजी वही थे, जिनको जायदाद बेची गई थी। भला सेठजी जायदाद क्यो लौटाते ? वहाँ खासा गाली-गुफता हुआ। देवकुमार भरे हुए लौटे।

उसी रात को सिनहा और सन्तकुमार ने एक बार फिर देवकुमार पर जोर डालने का निश्चय किया। दोनो आकर खडे ही हुए थे कि देवकुमार ने प्रोत्साहन के भाव से कहा, "तुम लोगो ने अभी तक मुआमला दायर नही किया ? नाहक क्यो देर कर रहे हो ?"

सन्तकुमार के सूखे हुए निराश मन मे उल्लास की आँधी-सी आ गई। क्या सचमुच कही ईश्वर है जिस पर उसे कभी विश्वास नही हुआ ? जरूर कोई दैवी शक्ति है। भीख माँगने आए थे, वरदान मिल गया।

पर रुपयो की आवश्यकता थी। इसी समय भाग्य से देवकुमार के भक्तो ने प्रस्ताव किया कि देवकुमार की साठवी सालगिरह धूम-धाम से मनाई जाय और उन्हे मोटी थैली भेंट की जाय। एक राजा साहब इस कमेटी के सभापति बन गए। कुछ ही दिनो मे थैली एकत्र हुई, और देवकुमार को भेंट की गई। उनके मुँह पर गर्व था, हर्ष था, विजय थी।

यही पर प्रेमचन्द का 'मगल सूत्र' रुक जाता है। कहानी की गति से ही

स्पष्ट है कि यह पुस्तक अधूरी भी नही हो पाई—वास्तव मे अभी तो इसका प्रारभ ही हुआ है। पता नही, पात्र-पात्रियो को लेखक कहाँ ले जाता। कहानी के केवल इतने भाग को देखकर यह कहना भी कठिन ही ज्ञात होता है कि कहानी किधर को जाती। इस पुस्तक का नाम 'मगल सूत्र' रखा गया था। इससे इतना अनुमान करना तो असंगत न होगा कि वे इस कहानी को मानसिक रूप से अन्त तक बना चुके थे और सारी कहानी ऐसी थी कि उस पर 'मंगल सूत्र' नाम लागू हो सकता था। कई लेखक ऐसे होते है जो कहानी की एक मोटी-सी कल्पना बनाने के बाद लिखते है। और कई ऐसे भी होते है कि जिन्हे कलम पकडने के समय तक यह भी पता ही नही होता कि वे क्या लिखने जा रहे है। एक ही लेखक कभी पहले प्रकार से और कभी दूसरे प्रकार से भी लिख सकता है। इस पुस्तक का नामकरण हो चुका था, इससे यह अनुमान करना शायद अनुचित न होगा कि प्रेमचन्द जी कल्पना मे 'मगल-सूत्र' के मोटे-मोटे सूत्र तो अवश्य ही बन चुके थे, नही तो वे इसका नाम-करण कैसे कर लेते ?

अब रही यह बात कि केवल 'मंगल सूत्र' नाम से इस सम्बन्ध मे अनुमान किया जा सकता है या नही, कि इस कहानी का अन्त किस प्रकार होता ? इस सम्बन्ध मे मेरा वक्तव्य इतना ही है, कि केवल नाम से कहानी की परि-णति के सम्बन्ध मे १०० मे ९९ सभावनाएँ गलत हो सकती है और फिर ऐसे अटकलपच्चू अनुमानो से कोई उद्देश्य भी सिद्ध नही होता। पर इस विषय मे कौतूहल होना स्वाभाविक है। इसी कौतूहल के वशवर्ती होकर मैने प्रेमचन्दजी के सुपुत्र श्री श्रीपतराय को पत्र लिखा था, जिसके उत्तर मे उन्होने १८-५-५० को लिखा था—

"उन्होने अपने अन्तिम दिनो मे अपने अन्तिम और असमाप्त उपन्यास की आलोचना मेरे साथ की थी। वे 'गोदान' की तरह इसे बहुत-कुछ आत्मकथा-मूलक बनाना चाहते थे, पर 'गोदान' मे जहाँ वातावरण दूसरा है, इसमे वह शहराती होता। इसमे वे अपने मानदंडो के अनुसार यह दिखाना चाहते थे कि सफलता के लिए चालाकी (craft) अनिवार्य रूप से आवश्यक नही है। वे इस उपन्यास से यह दिखाना चाहते थे कि एक ईमानदार, परिश्रमी और सीधा-सादा आदमी ऐसी सफलता प्राप्त कर सकता है जिसे देखकर लोग ईर्ष्या करे, और यह जगत् सुरुचिपूर्ण मान्यताओ के सम्पूर्ण विरुद्ध नही है। मेरा ऐसा विश्वास है कि वे ऐसा समझते थे कि उन्हे अपने जीवन मे सफलता प्राप्त हुई है, और ऐसा वे उचित कारणो से ही समझते थे, ऐसा मेरा अनुमान

है। उनका जीवन ईमानदारी का एक मूर्त रूप था, जिसे युगो तक लोग याद करेगे। इसे सभी मानते है और एक जीवन के लिए उन्होने बहुत-कुछ किया यह भी नि सन्देह है।"

मेरे मित्र श्री श्रीपतराय के उक्त पत्र से 'मगल सूत्र' के सम्बन्ध मे ही निश्चित बातो का पता लगता है—

१. 'मंगल सूत्र' 'गोदान' की तरह आत्मकथामूलक होता।

२. उसका वातावरण ग्राम्य न होकर शहरी होता।

जहाँ तक दूसरी बात का सम्बन्ध है उसका अनुमान तो 'मंगल सूत्र' का जितना भाग लिखा जा चुका है, उसी से किया जा सकता है। तो भी केवल इन पृष्ठो को देखकर निश्चयपूर्वक कहना शायद ठीक नही होगा, क्योकि प्रेमचन्द ने 'गोदान' मे ही शहर से गाँव और गाँव से शहर जाने का क्रम अनुसरण किया था। 'मगल सूत्र' के पहले सौ पृष्ठो के शहरी जीवन से सम्बन्धित होने पर भी प्रेमचन्द बाद मे किसी बहासे ग्राम्ने जीवन मे जाय सकते थे।

रही 'मगल सूत्र' के 'गोदान' की तरह आत्मकथा-मूलक होने की बात, सो इससे भी कुछ विशेष स्पष्टीकरण नही होता। क्या 'गोदान' आत्म-कथा मूलक है? ऐसा किस अर्थ मे कहा जा सकता है? ऐसे तो सभी उपन्यास अपने प्रणेता की आत्मकथा होते है, क्योकि उपन्यास को उपन्यास बनाने के लिए यह जरूरी होता है कि उपन्यासकार उसे जी चुका हो। और काँटे की बात तो यह है कि उपन्यासकार को उपन्यास के केवल एक पात्र या पात्री का नही, बल्कि सारे पात्रो तथा पात्रियो का जीवन जीना पड़ता है। यदि इस प्रकार के विस्तृत अर्थ मे 'मंगल सूत्र' को उस महान् कलाकार की आत्मकथा कहा जाय, तो बात भली-भाँति समझ मे आती है, पर इससे कोई विशेष प्रकाश नही पडता।

इन कारणों से अनुमानो मे न जाकर, जितना उपन्यास हमारे सामने है, उस पर थोडे से शब्द कह देना अधिक युक्तियुक्त होगा। यह निर्विवाद सिद्ध है कि 'मगल सूत्र' मे प्रेमचन्दजी की कला अपने सर्वश्रेष्ठ निखार पर है। प्रेमचन्द के उपन्यासो मे (इनमे 'गोदान' को बहुत-कुछ अपवाद गिना जा सकता है) बहुत-से अश ऐसे आते है, जिन्हे काटकर निकाल दिया जाय, तो कला मे किसी प्रकार की कमी आने के बजायकव निखरती है, पर मगल सूत्र' मे ऐसा एक भी वाक्य नही है।

एक तरह के वे उपन्यासकार होते है जो अपनी पहली ही रचना मे कल

के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए मालूम देते है, जैसे शरच्चन्द्र। पर प्रेमचन्द की कला मे बराबर विकास होता रहा है। 'मगल सूत्र' के उपलब्ध अश मे उनकी कला अपने सारे क्लेशो तथा आवर्जनाओ को हटाकर अलग कर चुकी है। इसी कारण उनकी मृत्यु पर और भी दुख होता है। अस्तु।

ऐसा मालूम होता है कि इस उपन्यास मे प्रेमचन्द मध्यम तथा उच्च-वर्ग का बहुत बडे पैमाने पर पर्दा-फाश करने पर तुले हुए थे। दाम्पत्य प्रेम, वकालत, पिता-पुत्र का सम्बन्ध, साहित्यकार, धर्म और दर्शन किस प्रकार इस समाज मे केवल क्रय-विक्रय के पण्य है, किस प्रकार सारे आदर्शवादो के पीछे केवल जघन्य धन-पिपासा है, और इस कारण किस प्रकार यह समाज सड़-गल चुका है, इसे वे इस उपन्यास मे दिखाने पर तुले हुए थे।

दुख की बात है कि यह काम अधूरा ही रह गया, और इस 'मगल सूत्र' का सूत्र बीच मे ही टूट गया।

८

# बच्चों के लिए साहित्य की रचना

इधर हिंदी के प्रकाशको तथा लेखकों का ध्यान बाल-साहित्य की ओर अधिक जा रहा है। एक तो साक्षरता की वृद्धि के कारण ऐसे साहित्य की माँग और खपत बहुत अधिक बढ गई है, और दूसरे बच्चो के माता पिता भी यह अनुभव करने लगे है कि गेद-बल्ले आदि के साथ-साथ बच्चो के हाथो मे साहित्य भी देते रहना चाहिए। प्रकाशक लोग इस ओर अधिक आकृष्ट हो रहे है, इसका रहस्य यह नही है कि एकाएक राष्ट्र-निर्माण में उन्हे दिलचस्पी हो गई है, बल्कि इसका कारण बहुत-कुछ व्यापारिक है।

वयस्को के लिए एक पुस्तक प्रकाशित करने मे जितना कागज और पूँजी लगती है, उतने ही कागज तथा पूँजी मे बच्चो की कई पुस्तके प्रकाशित हो जाती है। इसीलिए प्रकाशकगण इस तरफ आकृष्ट हो रहे है। पर उनके लिए सबसे बड़े आकर्षण का कारण शायद एक और है। वह यह कि वे शिशु-साहित्य की पुस्तको को कापी राइट के आधार पर लेते है।

हिंदी-प्रकाशको की शिशु-साहित्य के सम्बन्ध मे यह जो गलत धारणा है कि मिडिलची पुस्तके लिख सकता है, क्योकि बच्चो की पुस्तको को लिखने मे धरा ही क्या है, यह बहुत ही गलत है।

मैने इस विषय पर जहाँ तक अध्ययन किया तथा व्यावहारिक रूप से देखा वहाँ तक यही बात मेरी समझ में आई कि शिशुओ के लिए साहित्य-सृष्टि करना वयस्को के लिए साहित्य-सृष्टि करने से कही कठिन है। जो व्यक्ति जितना अधिक ज्ञान रखेगा, पर साथ ही बच्चो के लिए लिखते समय जितना कम-से-कम ज्ञान अपने लेख मे भरेगा, वही बच्चो के साहित्य का उतना ही बडा लेखक हो सकता है। अवश्य उसे लिखने की कला भी आनी चाहिए। जो लेखक परम ज्ञानी होते हुए भी अपने लेख मे ज्ञान का कतई प्रदर्शन न करेगा, वही बच्चो के साहित्य का उच्च कोटि का लेखक हो सकेगा। परम ज्ञानी होने पर भी जब ज्ञान का प्रदर्शन न होगा, तो इसका अर्थ यह नही है कि उसके लेख मे अज्ञान या अल्प ज्ञान का बोल-बाला होगा। इसके विपरीत

उस लेखक के न चाहने पर भी उसका ज्ञान छन-छन कर सुबोध रूप मे उस साहित्य मे ग्रा जायगा ।

दूर की बात जाने दी जाय, हमारे पडोस के बंगला-साहित्य में शिशु-साहित्य के लेखको के सम्बन्ध मे वह धारणा कतई नही है कि जो हिंदी के प्रकाशको मे फैली हुई है । वहाँ बडे-से-बडे लेखक शिशु-साहित्य की रचना करते है, अवश्य कुछ लेखक ऐसे भी है जो केवल शिशु-साहित्य की रचना करते है, और अपने विषय के अच्छे लेखक माने जाते है, पर ऐसे लोगो की सख्या उँगलियो पर गिनने योग्य है ।

कवीन्द्र रवीन्द्र शिशु-साहित्य के बहुत प्रमुख लेखक थे । उन्होने इस विषय मे जो-कुछ भी लिखा है, वह शिशु-साहित्य मे अब भी आदर्श बना हुआ है । उन्होने बच्चो के लिए कुछ कविताएँ लिखी, आज हम उनमे से कुछ कविताओ को न केवल पढ सकते है, बल्कि ग्रामोफोन के रिकार्डो की बदौलत हम उन्हे उन्ही के मुँह से सुन सकते है । बगाली बच्चो के लिए यह शिक्षा की कितनी बड़ी बात है कि वे स्वय रवीन्द्रनाथ के मुँह से अच्छी-से-अच्छी चीजों को सुनकर न केवल अपना मनोरजन कर सकते है, बल्कि आवृत्ति की कला को भी सीख सकते है । कवीन्द्र आवृत्तिकता मे भी गुरु थे । उनकी आवाज जितनी मीठी थी, उतनी ही उनकी आवृत्ति की शैली मर्मस्पर्शी थी ।

रवीन्द्रनाथ के अतिरिक्त सैकडो बँगला के लेखको ने बँगला के शिशु-साहित्य को अपनी रचनाओ से ऐश्वर्यशाली बनाया है । वहाँ किसी लेखक को इस कारण शिशु-साहित्य से बचना नही पडता कि उसमे कम पैसे मिलते है । सच तो यह है कि शिशु-साहित्य की बिक्री बहुत अधिक है ।

अवश्य हिंदी के प्रकाशक यह कह सकते है कि बँगला मे शिशु-साहित्य की अधिक खपत है, इसी कारण वहाँ के प्रकाशक अच्छे लेखकों को शिशु-साहित्य के निर्माण के लिए निमन्त्रण दे सकते है । यह बात एक हद तक ठीक है । प्रत्येक मध्यवित्त बगाली परिवार मे शिशु-साहित्य का कोई न कोई सग्रह मिलेगा जिसमें समय-समय पर वृद्धि होती रहती है । मै समझता हूँ कि जैसे शिशु-साहित्य को उत्कृष्ट रूप मे प्रकाशित करने तथा उत्कृष्ट लेखको से लिखवाने मे प्रकाशको का हाथ है, उसी प्रकार हिंदी-भाषी जनता का यह कर्तव्य है कि वह अपने होनहारों के लिए हिंदी-पत्रिकाएँ खरीद दे । जब इस तरह से सब लोगों का सहयोग होगा तभी शिशु-साहित्य की ठीक से उन्नति हो सकेगी । यह आशा करना कि प्रकाशक लोग ही सारा त्याग करे, वर्तमान समय मे बिलकुल असम्भव है ।

हिंदी मे बाल-साहित्य के नाम से जो कूडा-करकट ग्राम तौर से चल रहा है वह बहुत उत्साहवर्द्धक नही है । इसके कुछ कारणो को तो मै बता चुका, पर यहाँ पर मै विशेषकर हिंदी के अच्छे लेखको को दो शब्द कहना चाहूँगा । आखिर क्या बात है कि हिंदी के अच्छे लेखक इस तरफ नही झुकते । एक तो जैसा कि मै बता चुका हूँ उनसे माग नही की जाती, क्योकि जब प्रकाशको को ८ आने पेज पर लिखने वाले लेखक मिल जाते है, तो वे अच्छे लेखको के पास क्यो जायँ।

दूसरी बात यह है कि शिशु-साहित्य के कुछ लेखको, भाइयो और दादाओ ने ऐसा प्रचार-कार्य कर रखा है कि वे ही इस विषय के एक-मात्र अधिकारी है । इस प्रचार कार्य के कारण अच्छे लेखक इस मार्ग पर पैर रखते घबराते है । मैं समझता हूँ कि प्रकाशको तथा लेखको को इस प्रकार के दावेदारो से बचना चाहिए ।

मुझे इस प्रकार के हिंदी-शिशु-साहित्य के कई ठेकेदारो से जमकर बातचीत करने का मौका हुआ, तो यह पता लगा कि यद्यपि वे हर समय बाल-मनोविज्ञान आदि की दुहाई देते है, पर उन्हे अधिकाश क्षेत्र मे मनोविज्ञान का क, ख, ग भी मालूम नही है। वे न तो शिक्षा शास्त्र के आधुनिकतम सिद्धान्तो से परिचित है, और न वे यही समझते है कि उच्च कोटि का बाल साहित्य क्या है। मुझे यह देखकर बडा आश्चर्य हुआ कि ऐसे लोग दूसरी भाषाओ के बाल-साहित्यो से बिलकुल अपरिचित है । ऐसे लोगो ने हिंदी की बडी सेवाएँ की, क्योकि जिन दिनो कोई भी बाल-साहित्य का नारा नही लगाता था, उन दिनो अज्ञ रूप में ही सही, वे उसका अलख जगा रहे थे, पर अब समय आ गया है कि हमे ऐसे लोगो से मुक्ति मिले । इसमे सन्देह नही कि इनके प्रभाव मे अब हिंदी का शिशु-साहित्य आगे उन्नति नही कर सकता ।

अब मै शिशु-साहित्य की अतर्गत वस्तु पर आता हूँ। शिशु का मन बहुत ही कोमल होता है । वह जो-कुछ देखता और सुनता है, उसी का अनुकरण करने लगता है । उसका मन बहुत ही कल्पना-प्रवण होता है । इसी कारण उसके लिए यह सभव है कि वह ककड के छोटे-छोटे टुकडो को भात समझकर पकावे, और बिना आग के यह समझे कि आग जल रही है ।

शिशु के मन के इन गुणो के कारण ही शिशु साहित्य की रचना बहुत जिम्मेदारी का काम है। शिशु-साहित्य के लेखक को हमेशा यह बात याद रखनी पडेगी कि शिशु एक उदीयमान नागरिक है, इसलिए उसके मन पर ऐसी छाप न डाली जाय जिससे वह प्रतिसामाजिक हो जाय, जिससे वह कोई दुर्गुण अपना ले । वयस्को के साहित्य मे शायद इस सावधानी को उतनी

हद तक ले जाने की जरूरत नही है, क्योंकि वयस्क व्यक्ति पढी हुई चीज को सम्पूर्ण रूप में सत्य नही मान लेता। वह तो पढी हुई कहानी के सबध में जानता है कि वह कहानी है इसलिए यदि वह चाहे तो नीर-क्षीर-विवेक से काम ले सकता है कि इतना सही है और इतना गलत।

पर बच्चा जिन बातों को अपने सामने होता हुआ देखता है, उनमे और सुनी तथा पढी हुई बातो मे यह फरक नही कर पाता कि यह कहानी है, और यह वास्तविकता है। इस कारण उसके लिए जो कहानी लिखी जाय, उसमे बड़ी सावधानी बरतने की जरूरत है। बच्चो को ऐसी कहानियाँ नही देनी चाहिएँ, जिनसे वह निष्ठुरता, कायरता, झूठ बोलना आदि सीखे।

पर व्यावहारिक जगत् मे कुछ और ही हो रहा है। दुनिया की उन्नत भाषाओ मे यहाँ तक कि घर के पास बँगला मे भी शिशु-उपन्यास के नाम से जो साहित्य प्रचारित हो रहा है, उसमे केवल एक ही बात पर जोर दिया जा रहा है, वह यह कि कहानी दिलचस्प हो। इसलिए तरह-तरह के एडवैंचरो तथा विपत्तियो की सृष्टि करके शिशु तथा किशोर के मन को बहलाया जाता है।

इधर बच्चो के लिए अमरीका मे जो पुस्तके प्रकाशित हो रही है, वे बहुत ही शोचनीय ढग की है। यह कहना तो गलत होगा कि सारा अमरीकन साहित्य सनसनी पर ही जीता है, पर इसमे सदेह नही कि 'लाइफ' और 'लुक' से लेकर वहाँ के सारे प्रसिद्ध पत्र बहुत-कुछ ऐसे विषयो को लेकर चलते है, जिनका जोर सनसनी पर ही होता है। यदि हम इसी वृत्ति को वहाँ के शिशु-साहित्य मे प्रतिफलित पाते है, तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है।

यह सनसनी की वृत्ति वहाँ के शिशु-साहित्य मे कहाँ तक घर कर गई है, इसका प्रमाण यह है कि वहाँ का जो सभ्य शिशु-साहित्य कहलाता है उसमे भी इस उपादान की अधिकता है। फ्लोरेस नाइटिंगेल का नाम भारत मे नर्सिंग की कला की प्रवर्तिका के रूप मे प्रसिद्ध है। पर अमरीका मे बच्चो के लिए इनकी जो जीवनी लिखी गई है, उसमे सेवा भाव पर जोर न देकर क्रीमिया के युद्ध का ही वीभत्स वर्णन किया गया है। इसी प्रकार एक भूतपूर्व अमरीकन राष्ट्रपति की जीवनी मे उन्हे स्पेनवासियो का हत्यारा या भैसा मारने वाला करके दिखलाया गया है। इसी प्रकार अल्फ्रेड नोबल की जीवनी मे उनके द्वारा चलाये हुए नोबल पुरस्कार का अधिक विवरण न देकर पृष्ठ-पर-पृष्ठ डिनामाइट के वर्णन से रँग दिए है।

हमारे देश मे भी जैसा कि मै बता चुका हूँ, शिशु-साहित्य में दुष्प्रवृत्तियाँ

दृष्टिगोचर हो रही है। हिंदी के शिशु-साहित्य मे तो ज्यादातर यह हाल है कि वस्तु ही नही होती। जैसा कि मै बता चुका हूँ इसका कारण यह है कि प्रकाशक अच्छे लेखको को इस क्षेत्र मे मौका न देकर अधकचरे लोगो को ही मौका दे रहे है। पौराणिक तथा सुप्रसिद्ध प्राचीन कहानियो को छोटी-छोटी पुस्तिकाओ के आकार में लिखकर प्रकाशित करवाने की ओर जो प्रवृत्ति है, वह यो तो सराहनीय है, पर उनमे से कौन से अंश ग्रहणीय है और कौन से त्याज्य, इन बातो को समझना प्रत्येक लेखक के वश की बात नही है। यह काम मामूली नए लेखको पर छोडना उचित न होगा। एक उम्र तक बच्चे मे सामाजिक बुद्धि उत्पन्न नही होती, उस उम्र तक बहुत सोच-समझकर अच्छी चीजे ही उसके हाथो मे दी जा सकती है।

चाणक्य का कहना है, दूसरे शब्दो मे पुराने लोगो का यह विचार है कि जन्म के बाद पाँच वर्ष तक तो बच्चे का लालन किया जाय, अर्थात् उसे लाड-प्यार मे रखा जाय, और उसके बाद दस वर्ष तक उसका ताडन किया जाय, अर्थात् उसको नियंत्रण मे रखा जाय, इसके बाद जब लड़का सोलह साल का हो जाय, तो उसके साथ मित्र की तरह आचरण किया जाय। यह तो पुराने लोगो की बात हुई पर अब मनोवैज्ञानिको का यह कहना है कि बच्चे को जो कुछ सीखना है उसे वह प्रथम पाँच वर्ष मे ही सीख लेता है।

अतएव यह स्पष्ट है कि शिशु के हाथ मे जो साहित्य दिया जाय, उसकी रचना बहुत सँभलकर होनी चाहिए। जैसे कि शिक्षा के क्षेत्र मे यह सिद्धान्त बिलकुल परित्यक्त तथा विस्फोटित हो चुका है कि बच्चे को पढाने के लिए या तो उसे शिक्षा देने के लिए कोई भी साक्षर व्यक्ति यथेष्ट है, उसी प्रकार से बच्चो के साहित्य-क्षेत्र मे भी यह सिद्धान्त सम्पूर्ण रूप से त्याग देना चाहिए कि जो भी शुद्ध-शुद्ध हिंदी लिख सकता है, वही बच्चों की पुस्तको की रचना कर सकता है।

बच्चो की पुस्तको तथा पत्रिकाओ के लिए यह अनिवार्य समझा जाता है कि उनमे चित्र हो, ठीक है बच्चे चित्र पसन्द करते है, पर इस तरफ भी तो कुछ खयाल करना चाहिए कि चित्र अच्छे हो, नही तो यह डर है कि बच्चो के मन पर सौदर्य तथा रूप की अच्छी धारणा न होगी। पर हमारे प्रकाशक भला इस बात पर कब खयाल करने वाले है। उनको तो जहाँ से सस्ते चित्र मिलते है, वही से चित्र लेने की पडी रहती है। यदि चित्र अच्छे न हो, तो इससे तो अच्छा है कि चित्र न दिये जायें।

शिशु के मन मे ज्ञान-पिपासा बहुत अधिक होती है। इसलिए बाल-साहित्य

मे फोटो-चित्रो का उपयोग प्रचुरता से करना चाहिए। पर फोटो हो अथवा चित्र, इसका अच्छी तरह खयाल रखना चाहिए कि चित्रो की इतनी अधिकता न हो कि बच्चो की कल्पना चित्रो के दायरे मे ही बहने के लिए बाध्य हो। जब बच्चा बिलकुल शिशु है, तब तो उसे प्रलोभन देकर पढाने के लिए चित्रो की अधिकता से उपयोग समझ मे आता है, और उचित भी है, पर इस अत्यन्त शिशु-अवस्था मे एक सीवा के बाद केवल चित्रो के सहारे ही बढवाना खतरे से खाली नही है। इससे कल्पना-शक्ति बढ नही पाती और मन पर एक आलस्य-सा छा जाता है। ऐसे लोग तो बडे होकर 'लाइफ' और 'लुक' तथा हमारे यहाँ के उसके अनुकरण 'ट्रेड' आदि पत्रो को पढने वाले हो सकते है। ऐसे लोग कभी किसी विषय मे गम्भीर चिन्तन नही कर सकते। यदि कहा जाय कि केवल इस प्रकार के पत्रो के पढने वालो की शिक्षा व्यर्थ हुई, तो कोई बहुत अधिक अत्युक्ति न होगी।

इस सम्बन्ध मे बच्चो के अभिभावको के कर्तव्य बहुत स्पष्ट है। जहाँ बच्चो ने पढना सीख लिया, वहाँ यह तो आवश्यक है कि बच्चो के हाथो मे उनके उपयुक्त साहित्य देना चाहिए। पर बाजार मे प्रचलित साहित्य मे से उन्हे क्या दिया जाय और क्या न दिया जाय, इस सम्बन्ध मे बहुत सावधानी की आवश्यकता है। जब बच्चो के हाथ मे कोई गलत किस्म की पुस्तक पड जाय, तो उससे बहुत हानि हो सकती है। इस सम्बन्ध मे लेखक और प्रकाशक के क्या कर्तव्य है, यह तो मै पहले ही बता चुका।

७

# साहित्य का वास्तविक रूप

साहित्य का लक्ष्य मनुष्य है, इतना कहना कुछ न कहने के ही बराबर है, क्योकि उससे साहित्य के स्वरूप का कोई स्पष्टीकरण नही होता, इस पर कोई नई रोशनी पडने की बात तो दूर रही। मनुष्य के बगैर साहित्य की कल्पना नही की जा सकती, क्योकि मनुष्य जाति मे ही अपेक्षाकृत रूप मे उन्नत भाषा का विकास हुआ है, और भाषा के बिना साहित्य अकल्पनीय है।

मनुष्य केवल साहित्य का ही लक्ष्य नही, परन्तु वह उसका उपजीव्य भी है। यह सच है कि साहित्य मनुष्य के अलावा देवताओ, राक्षसो, और दैत्यों पर लिखा गया है, पर यह सब मनुष्य के ही दृष्टिकोण से तथा उन्हें मनुष्य नही तो मनुष्यवत् परिकल्पित करके किया गया। भले ही देवताओ मे अलौकिक शक्ति दिखलाई गई हो, तथा भले ही दैत्यो तथा राक्षसो को अत्यन्त भयानक रूपधारी बताया गया हो, पर वे अपरिहार्य रूप से मनुष्यवत् है, मनुष्यो की ही तरह उनके राग-द्वेष है, उनमे भी एक तरफ कोमल कान्त भावुकता है, तो दूसरी तरफ लाम्पटच, दूसरे के धन के प्रति लोभ, मिथ्या भाषण आदि अवगुण है।

और ये अवगुण देवताओ और दैत्यो दोनो मे है। एक तरफ रावण पर-स्त्रीगामी था, तो दूसरी तरफ देवराज इन्द्र और अहिल्या की कथा मौजूद है। अहिल्या के साथ इन्द्र ने जो प्रतारणा की, उसके लिए ताजीरात हिन्द की कई दफाओ मे उन्हे सजा हो सकती है, और वे अब होते तो उन्हे काले पानी की हवा खानी पड़ती। इन्द्र के जीवन मे यही एक घटना नही थी, वे उर्वशी, मेनका, रम्भा, तारा आदि से भी दिल बहलाते थे।

इन बातो के ब्यौरे मे जायँ तो निबन्ध खामख्वाह बडा होगा। मनुष्य जाति ने साहित्य मे अपनी कहानी कही है। साहित्य मे जहाँ वह अपने से दूर जाता हुआ ज्ञात होता है, खोजने पर ज्ञात होगा कि वह अपने से उतना ही करीब है। अपनी

कल्पना की उडान मे मनुष्य अपने ही इर्द-गिर्द मँडराता रहा है। और अब तो गवेषणाओ से यह सिद्ध हो चुका है कि देवता तथा दैत्य मनुष्य ही थे। जो वीर थे वे देवताओ मे परिणत हो गए, और जो दूसरे विरोधी क़बीलो के लोग थे, वे दैत्य तथा राक्षस बताये गए। हमे इस सम्बन्ध मे बहुत दूर जाने की आवश्यकता नही है। 'इडो आर्यन' जातियो के प्रागैतिहास के अनुशीलन करने से ही हमे इस सम्बन्ध मे अनेक बाते मालूम हो सकती है। अनुसन्धानो से यह भी पता लगता है कि अवतारगण भी जाति के वीर ही थे, पहले सभी जातियाँ बहु देवदेवीवादी थी, पर बाद में धार्मिक एकीकरण की प्रक्रिया से इन्ही मे से ईश्वर की उत्पत्ति हुई।

### *वेदों और पुराणो में*

इस प्रकार वेद-पुराण के रूप मे जो साहित्य है, वह अक्सर अलौकिक कथाओ से पूर्ण होने पर भी है मनुष्य की ही कहानी। यहाँ तक कि वराह, मत्स्य आदि के पीछे प्राक् आर्य या प्राचीन आर्यो की पशु-प्रतीक पूजा है। सम्भव है इसमे आर्यो की बनिस्बत अनार्य उपादान की अधिकता है। स्मरण रहे वेदो मे बाद के दस अवतारो का कोई पता नही। वेदो मे पशु-प्रतीक पूजा के प्रमाण अवश्य मिलते है।

यह सब ठीक है कि वेद-पुराणो का उपजीव्य मनुष्य है, पर इतना कहने से पूर्ण सत्य सामने नही आता। हिन्दुओ के पवित्र अत्यन्त वैदिक साहित्य को लिया जाय। यह क्या है ? ब्लूमफील्ड आदि वैदिक विद्वानो ने साफ-साफ कहा है कि और तो और ऋग्वेद धनी क्षत्रिय तथा ब्राह्मणो की बातो से भरा पडा है। इसमे महाकुल और मधुवनो की कहानी है। और ये लोग उस युग के बडे लोग, राजा, रईस थे। यह दान, स्तुति, दस राजाओ का युद्ध, इन्द्र सम्बर के युद्ध आदि के वर्णन से भरा पडा है। यजुर्वेद तो एक तरह का मैनुएल है, जिसमे यज्ञों के अनुष्ठान और विधियो का उल्लेख है। साधारण व्यक्ति यज्ञ नही कर सकते थे क्योकि यज्ञो मे खर्च बहुत होता था।

हाँ, जब वैदिक धर्म के विरुद्ध विद्रोह करके पाली और प्राकृत आदि मे साहित्य की सृष्टि हुई, तो उसमे जनता के विचारो का कुछ प्रतिफलन अवश्य हुआ। मेरा मतलब यहाँ जातक, अवदान तथा अग साहित्य से है। पर इनमे भी जनता की बात अलौकिक लोहा-लक्कड से इतनी दबी है कि उनको निकालना टेढी खीर है।

बौद्ध-क्रान्ति बहुत दूर तक न जा सकी, क्योकि उसके पीछे कोई नया उदीयमान वर्ग नही था। वह तो बहुत-कुछ उच्च वर्ग के आभ्यन्तरिक

असन्तोष का स्फुरण-मात्र था। बुद्ध ने वैदिक यज्ञ का विरोध किया, पर यही तक। वे अपने विद्रोह को उसके तार्किक उपसहार तक न ले जा सके। उन्होंने सामाजिक शोषण को कुछ अर्द्ध दार्शनिक बातो के साथ मिला दिया। नतीजा यह हुआ कि वे फँसकर रह गए।

*सजा में वर्गीकरण*

पर इतना भी शासक वर्ग को पसन्द नही आया। अन्तिम मौर्य सम्राट् की हत्या करके उनके सेनापति पुष्यमित्र ने प्रतिक्रान्ति का सूत्रपात किया। इस युग का सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्य मनु सहिता है। इसके सम्बन्ध मे यह जो ढिढोरा पीटा गया है, और ऐसा करने मे बाबू भगवानदास-जैसे विद्वान् भी साथ दे चुके है, कि यह एक आदर्श धर्म-शास्त्र है, पर उसमे ऐसा कुछ भी नही। उसमे ओैर-तो-और व्यभिचार के लिए ही उच्च जाति के लिए अलग और कथित नीची जातियो के लिए अलग दड है। यदि एक ब्राह्मण किसी शूद्रा के साथ व्यभिचार करे, तो उसके लिए नाम-मात्र जुर्माना है, पर यदि एक शूद्र ब्राह्मणी से व्यभिचार करे, तो उसके लिए सभी दड है। इस दृष्टि से देखने पर मनुस्मृति ताजीरात हिंद से कही निकृष्ट है। शेषोक्त मे सबके लिए एक से दण्ड का विधान है। व्यवहार मे चाहे जो कुछ हो।

इस प्रकार यह कहना गलत है कि साहित्य का विषय या लक्ष्य मनुष्य है। ऐसी परिभाषा अतिव्याप्ति दोष से युक्त है। वर्ग समाज मे साहित्य अपरिहार्य रूप से वर्ग साहित्य है। इस कथन का स्पष्टीकरण सब साहित्यो के इतिहास से किया जा सकता है। पर इस लेख मे उनकी तरफ केवल इगित ही किया जा सकता है।

साहित्य का उपजीव्य मनुष्य है, इसमे सन्देह नही, पर मनुष्य कोई एक और अविभाज्य समूह नही। जाति-जाति मे, वर्ग-वर्ग मे, व्यक्ति-व्यक्ति मे, पार्थक्य तथा अक्सर विरोध भी है।

*जगजू साहित्य आवश्यक?*

साहित्य केवल अस्पष्ट तथा कल्पना के मनुष्य को लेकर नही चलता। तब तो उसमे कुछ भी न रहता। वह मनुष्य रूपी यन्त्र के सैकडो दंदानो को लेकर चलता है, उन पर रोशनी डालता है, उनकी गुत्थियो को सुलझाता है। तभी उसमे मनोरजन की सामग्री रहती है, नही तो वह बिलकुल रोचकताहीन होता।

बिल्कुल आदिम पौध समाज को छोडकर मनुष्यो मे बराबर वर्ग रहा है, और चूँकि समाज और साहित्य का सम्बन्ध जैसा कि सहित शब्द से जाहिर

है, साथ का है, इसलिए बराबर साहित्य वर्ग साहित्य रहा है। वर्ग समाज मे वर्ग के ऊपर उठकर साहित्य की सृष्टि सभव नही है, उसका नारा ही गलत और गुमराहकुन है। इसलिए केवल मानवीय दृष्टि से कुछ लिखना सभव नही। अवश्य यह कहा जा सकता है कि वर्ग सग्राम के प्रति तटस्थता तो सम्भव है, जैसे अश्लील या कामोत्तेजक उपन्यास, या ऐसी पुस्तक, जिसमे सौदर्य या सत्य को लेकर लिखा गया हो। पर अन्तिम विश्लेषण मे इस प्रकार की तटस्थता भी प्रतिगामी है। जिस समय प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षित है कि वह संग्राम मे प्रगति का साथ दे, उस समय यदि साहित्य उसका ध्यान उस तरफ से हटाकर उसे तटस्थ कर देता है, तो वह प्रतिगामिता नहीं तो और क्या है ?

अश्लीलता, तटस्थता, पलायनवाद ये सभी धाराएँ प्रतिगामी है, क्योंकि ये किसी-न-किसी रूप मे, प्रगति के सग्राम को दुर्बल कर देते है। स्वस्थ साहित्य वही है जो नये समाज के निर्माण में सहायक हो, और लोगो को इसके लिए उद्बुद्ध करे।

८

# आधुनिक हिन्दी और बंगला-साहित्य

हिन्दी और बगला-साहित्य की उत्पत्ति और विकास का इतिहास बडी हद तक सामान्य है। बहुत कम लोग इस बात को समझते है कि आधुनिक समस्त भारतीय भाषाओ मे हिन्दी व बगला आदि भाषाओ की उत्पत्ति एक क्रातिकारी जरूरत की पूर्ति के कारण हुई। सैकडो वर्षो तक भारत की शिष्ट भाषा सस्कृत रह चुकी थी। पर भगवान् बुद्ध ने तथा उनके इर्द-गिर्द के लोगों ने इस बात को महसूस किया कि जनता मे जाकर ही उनके विचार प्रचारित हो सकते है। इसी कारण सस्कृत से हटकर प्राकृत भाषाओं को अपनाने की प्रथा चल पडी। मै इसके ब्यौरे मे नही जाऊँगा, फिर भी हमारी आधुनिक भाषाओं की क्रान्तिकारी जनवादी उत्पत्ति की तरफ इशारा कर देना जरूरी था। इसके बगैर हम अपनी थाती और उस पर बने हुए आधुनिक साहित्य को अच्छी तरह समझ नही सकते।

इस सबध मे मै केवल एक तथ्य की ओर दृष्टि आकर्षित करूँगा। महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल मे कुछ बहुत पुरानी पोथियो का आविष्कार किया। ये पुस्तक अपभ्रश भाषा मे लिखी हुई थी। मजे की बात यह है कि बगाली भाषातत्वविद् इसे प्राचीन बगला मानते है। पर रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य का इतिहास' मे इसे हिन्दी भाषा और साहित्य के अतर्गत माना है।

डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त ने सही रूप से यह माना है कि वर्तमान हिन्दी और बगला भाषा की उत्पत्ति का पता लगाते हुए हम एक ऐसी जगह पर पहुँच जाते है, जहाँ पैर दोनो भाषाएँ यह दावा कर सकती है कि पहले की रचनाएँ उन्ही के साहित्य के अतर्गत है।

इस तथ्य को समझना भारतीय सस्कृति की एकता को समझना है। इस सबंध मे यह भी याद रखने लायक है कि जिन पुस्तको पर इस प्रकार से दावे और प्रतिदावे हुए है, वे बौद्धगीत और दोहा-सबधी है। इससे मैने इस लेख

के आरम्भ मे जो-कुछ कहा उसकी पुष्टि होती है।

एक और सुपरिचित उदाहरण लिया जाय। कवि विद्यापति को बगाली अपना कवि मानते है। बगाल के प्राचीन कवियो मे वे आदि कवि और कुछ लोगो के मतानुसार वे सर्वश्रेष्ठ प्राचीन बगला-कवि माने जाते है। हिन्दी वाले भी विद्यापति को अपना कवि मानते है। अवश्य हिन्दी के नवरत्नो मे उनकी गिनती नही की जाती। यहाँ पर यह प्रश्न उठाना उचित नही जान पडता कि विद्यापति को यदि कवि मानना है, तो उन्हे नवरत्न मे न मानकर उनके साथ अन्याय किया है या नही ? फिर भी मै पूरी जिम्मेदारी के साथ इस बात को कहने का साहस करता हूँ कि विद्यापति सूर, तुलसी, केशव और चंडीदास के समकक्ष कवि है। अस्तु

असली बात यह है कि विद्यापति न तो ठीक-ठीक बगला के ही कवि थे, और न हिन्दी के ही। वे मैथिली थे और मैथिली मे ही उन्होने रचनाएँ की हैं। पर वह मैथिली ऐसी मैथिली थी कि उस समय की बगला और हिन्दी—दोनो उससे मिलती थी। इसी कारण इस वितर्क की उत्पत्ति हुई है कि विद्यापति किस भाषा के कवि थे। मुझे तो यह सारा वितर्क ही अजीब मालूम होता है। यदि किसी भाषा के कवि को दूसरी भाषा के लोग अपना कवि मानते है, तो उसमे उस कवि का भी लाभ है, कविता का भी लाभ है, और इसमे झगडे की कोई बात न होकर आनन्द की ही बात है।

### *प्राचीन साहित्य*

हिन्दी और बगला के प्राचीन साहित्य के सबध मे जो उल्लेख हमने किये, उनके अलावा यह भी जान लेने की बात है कि बगला के मुकाबले मे हिन्दी का प्राचीन साहित्य उन्नत था। इस तुलनात्मक उन्नति को जान लेना इस कारण आवश्यक है कि आधुनिक साहित्य की सृष्टि पर इसका असर पडा। जिस समय ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत मे कदम रखा, उस समय वह चाहते हुए या न चाहते हुए भी अपने साथ अग्रेजी, बल्कि पाश्चात्य साहित्य, संस्कृति और विचार-धारा लेता आया। इनके असर इतने विस्तृत हुए कि एक क्राति मच गई। भारत हब्शियो की तरह साहित्य व सस्कृति से शून्य नही था, पर जो-कुछ तब उसके सामने आया, वह उसे चौधिया देने वाला था।

कुछ दिनों तक तो चकाचौध की यह भावना चली, जिसका नतीजा एक तरफ यह हुआ कि कुछ लोगो ने पश्चिम के सामने घुटने टेक दिए, और उसके द्वारा लाए हुए धर्म, सस्कृति, भाषा और साहित्य के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। उन्होने अपना सब-कुछ त्याग दिया।

पर इन लोगो ने इतिहास का निर्माण नही किया। इतिहास का निर्माण उन लोगों ने किया जिन लोगो ने नए के अनुसार या नए की रोशनी मे पुराने को ढालने की कोशिश की। इन लोगो मे कई तरह के लोग हुए। किसी ने पुराने का नाम-ही-नाम रखा, नए को सम्पूर्ण रूप से अपना लिया, किसी ने पुराने और नए की भिन्न मात्राओ मे सम्मिश्रण की कोशिश की। इस तरह समन्वय के कई रग और कई मात्राएँ हुई। हमारी सस्कृति के इतिहास में इन बातो का बहुत महत्त्व है, पर यहाँ विस्तार मे जाना उचित न होगा। हम साहित्य मे ही अपने को सीमित रखेगे।

मैं यह बता चुका हूँ कि हिन्दी का प्राचीन साहित्य ( हम इसे सुविधार्थ प्राक्ब्रिटिश साहित्य कह सकते है ) बगला के मुकाबले में उन्नत था, पर यह तथ्य दो कारणो से आधुनिक हिदी के विकास मे बाधक हुआ, एक तो उन्नत प्राक्ब्रिटिश साहित्य के अधिकारी होने के कारण हिदी वालो के लिए अपनी थाती से अलग होकर बिलकुल एक नया रास्ता बनाने मे दिक्कत थी। थाती का एक मोह होता है। कोई भी साहित्य हवा मे नही बन सकता। विशेषकर जिसका अपना कोई साहित्य है, यह अपनी परम्परा से बिलकुल हट नही सकता।

*ब्रजभाषा और खड़ी बोली का संघर्ष*

पर यह परम्परा से और अपने प्राचीन प्राक्ब्रिटिश साहित्य से, जो मुख्यतः कविता और सो भी ब्रजभाषा मे था, अलग न हो पाना या अलग होने मे देरी होना आधुनिक दिशा मे हिदी-साहित्य की उन्नति मे बाधक सिद्ध हुआ। दूसरा बाधक कारण हिदी के करीब-करीब सारे प्राक्ब्रिटिश साहित्य का ब्रजभाषा मे तथा एक प्रकार की कृत्रिम अवधी भाषा मे होना सिद्ध हुआ।

मैने अपनी 'प्रेमचन्द—एक अध्ययन' नामक पुस्तक मे इस बात की ओर इशारा किया है। मै इस बात पर इसलिए अधिक जोर देना चाहता हूँ कि हिदी-साहित्य के स्वीकृत इतिहास-लेखक इस बारीक बात को समझने मे असमर्थ रहे। मैने उक्त पुस्तक मे लिखा था—"बगला का प्राचीन साहित्य (यहाँ प्राक्ब्रिटिश साहित्य से मतलब है ) हिंदी के मुकाबले मे दो दृष्टियो से भिन्न था। एक तो ब्रज बोली ( यह ब्रजभाषा नही है ) की ओर कुछ थोड़ी-सी प्रवृत्ति के अतिरिक्त बगला में प्राक्ब्रिटिश काल मे भी जो पद्य की भाषा रही वही बाद को गद्य की भाषा रही। दूसरा, बगला का प्राचीन साहित्य हिंदी के प्राचीन साहित्य की तरह ऐश्वर्यशाली न होने के कारण रूढि बनकर अग्रगति मे बाधक न हो सका। हिंदी के कवियो ने ब्रजभाषा और अवधी को ही आश्रय मानकर काव्य-रचना की थी। इस बीच मे भाषा मे परिवर्तन हो

चुका था, और सार्वजनपदिक भाषा के रूप में खडी बोली का विस्तार हो रहा था, खडी बोली का अस्तित्व खुसरो और कबीर के पहले मे था—ऐसा दिखाया जा सकता है ।"

आम तौर से जब भी बगला और हिंदी-साहित्य की चर्चा की जाती है, तो यह बताया जाता है कि अग्रेज बगाल में पहले आये, इसलिए नई दिशा मे वही पहले कदम उठाए गए, और बगाल के लोग इस घुडदौड मे आगे निकल गए, यह ठीक है, पर इस सम्बन्ध मे बगला और हिंदी के अन्दर जो कारण बताए गए, उनको स्मरण रखना जरूरी है ।

इस समय जिन लोगो की उमर बीस साल है, वे यह नही जानते कि हिंदी मे खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करने मे कितनी भारी लडाइयाँ लडनी पडी । इस लडाई मे भी खडी बोली की जीत एक ही बार मे नही हुई । पहले केवल इतना ही माना गया कि खडी बोली गद्य की भाषा है, खडी बोली मे कविता लिखने वालो की हँसी उडाई गई, फिर बाद को यह माना गया कि अच्छा, खडी बोली मे भी कविताएँ हो सकती है ।

मैंने अपनी उक्त पुस्तक मे इस सम्बन्ध मे जो लिखा है, उसमे से उद्धृत किया जाता है—"हिंदी-साहित्य के विकास मे खडी बोली और ब्रजभाषा की यह लडाई बहुत महत्त्वपूर्ण है । दुख है कि अच्छे-से-अच्छे समीक्षको ने इसे वह महत्त्व नही दिया, जो इसे मिलना चाहिए । खडी बोली और ब्रजभाषा के बीच लड़ाई मे साहित्यिक भाषा के रूप की जीत होती, तो जैसे आज हिंदी एक विराट् भू-खड की साहित्यिक भाषा के रूप मे दृष्टिगोचर हो रही है, ऐसा न होता, उस हालत मे आज जहाँ पर हिंदी है, वहाँ सम्भव है कई साहित्यिक भाषाएँ दृष्टिगोचर होती ।

इस लडाई मे जिस शक्ति का अपव्यय हुआ, उसके सम्बन्ध मे हम दिखा चुके है कि यह अनिवार्य था, उसी के कारण हिंदी नई दिशा मे उतनी जल्दी-जल्दी कदम न उठा सकी, जितनी कि बगला भाषा उठा पाई ।

हम ऐतिहासिक रूप से एक-एक सन् का विचार न करके हिंदी और बगला के विकास पर एक सरसरी दृष्टि डालेगे, क्योकि एक लेख मे इतने बडे विषय पर ब्यौरेवार क्रमिक विवेचन सम्भव नही है । खडी बोली और ब्रज-भाषा की लडाई मे आधुनिक हिंदी के कई बहुत महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक वर्ष निकल गए, भारतेंदु का महान् साहित्यिक व्यक्तित्व इस प्रश्न पर किसी निर्णय के द्रुतीकरण मे सहायक न हो सका, क्योकि उन्होने स्वयं ब्रजभाषा को ही कविता मे अपनाया, भारतेंदु ने शैली की दृष्टि से नवीन युग को अपनाया,

पर उस शैली के वाहन के रूप मे जो भाषा उचित हो सकती थी, उसे उन्होने नही अपनाया ।

इस दिशा मे उन्ही के युग के श्रीधर पाठक ने बहुत अच्छा काम किया । वह ब्रजभाषा को खडी बोली की तरफ ले जा रहे थे । यह न समझा जाय कि बहाव केवल इसी तरफ था, रत्नाकरजी ने बिलकुल उलटी दिशा मे चेष्टा की और वे खडी बोली को भी ब्रजभाषा की ओर ले जाना चाहते थे ।

इस वाहन की लडाई कितने दिनो तक स्थायी रही यह इसी बात से समझा जा सकता है कि जयशकरप्रसाद तथा मैथिलीशरण गुप्त जब पहले पहल कविता के क्षेत्र मे उतरे, तो वे भी ब्रजभाषा को लेकर ही आए, गुप्त जी थोडे दिनो तक ही ब्रजभाषा के रथ के साथ रहे, बाद मे उससे अलग हो गए, पर प्रसाद जी बहुत दिनो तक इसी लीक मे घिसटते रहे, यद्यपि बाद को वे खडी बोली के एक प्रसिद्ध कवि हुए और उनकी लेखनी से 'कामायनी' निकली, जो एक क्लासिकल पुस्तक है । द्विवेदी युग मे ही खडी बोली की पूर्ण विजय हुई और मेरी सम्मति मे यही से आधुनिक कविता का आरम्भ मानना चाहिए ।

## *बंगाल में भाषा का संघर्ष नहीं था*

मै पहले ही बता चुका हूँ कि बगला-साहित्य में इस प्रकार का कोई सघर्ष नही हुआ । वाहन की लडाई मे कोई समय नष्ट नही हुआ । प्राक्‌ब्रिटिश युग भारतचद्र और आधुनिक प्रथम बगला-कवि ईश्वरगुप्त की कविताओ मे भाषा या शैली का कोई अतर नही था, यहाँ तक कि रवीद्रनाथ तक हम यह नही कह सकते कि भाषा या शैली मे उस प्रकार का कोई क्रातिकारी भेद है, जिस प्रकार ब्रजभाषा और खडी बोली की शैलियो मे है ।

यो तो रवीद्रनाथ की तरह युग-प्रवर्तक प्रतिभाओ का जन्म बहुत-कुछ आकस्मिक समझा जाता है, कम-से-कम हम उसके नियमो को अभी तक जान नही पाए है, पर ऊपर हमने जो-कुछ बताया, उससे इतना तो कहा ही जा सकता है कि रवीद्रनाथ का जन्म उतना आकस्मिक नही रह जाता, जितना कि वह माना जाता है । अवश्य हिदी और बगला-साहित्य के तुलनात्मक विवेचन मे यही उचित होगा कि रवीद्रनाथ को छोडकर ही सारी बाते कही जायँ ।

कविता के विकास को यही पर छोडकर अब मै गद्य-साहित्य अर्थात् उपन्यास, नाटक तथा निबध की ओर दृष्टिपात करूँगा, यो तो बगाल की प्रथम गद्य-पुस्तक राम बसु का लिखा हुआ 'प्रतापादित्य चरित्र' माना जाता है, जो १८०१ मे प्रकाशित हुआ था, और इसके बाद राममोहनराय और ईश्वरचंद्र

विद्यासागर ने बगला गद्य का निर्माण किया। फिर भी बगला का वास्तविक आधुनिक साहित्य शुरू होता है बकिमचन्द्र से, जिनका जन्म १८३८ मे हुआ था।

इसी प्रकार हिंदी खडी बोली के गद्य-साहित्य का प्रारम्भ १९वी सदी के पहले से सदासुखलाल, इशाअल्लाखॉ, लल्लूलाल तथा सदल मिश्र से होने पर भी तथा इशाअल्ला द्वारा रचित 'रानी केतकी की कहानी' को प्रथम हिंदी-उपन्यास के रूप मे गौरव प्राप्त होने पर भी, और इस बीच में राजा शिवप्रसाद आदि के लिखने पर भी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही आधुनिक हिंदी-साहित्य का वास्तविक प्रारम्भ मानना उचित होगा। भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म १८५० मे हुआ था।

*बंकिम और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र*

बकिमचन्द्र ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे और भारतेन्दु ने नाटक तथा प्रहसनो पर अपना ध्यान दिया। भारतेन्दु के नाम से 'पूर्ण प्रकाशचन्द्र प्रभा' नामक खड्गविलास प्रेस से मुद्रित एक उपन्यास भी प्रकाशित हुआ था, पर यह निश्चित नही है कि भारतेन्दु ही उसके लेखक थे। मै समझता हूँ कि भाषा के इतिहास की दृष्टि से भारतेन्दु को बकिमचन्द्र से कही अधिक समस्याओ का सामना करना पडा। और जैसा कि हम पहले ही इशारा कर चुके हैं, उनकी बहुत-कुछ कर्म-शक्ति वाहन के चुनने मे ही खर्च हो गई। बकिमचन्द्र ने भी भाषा के क्षेत्र मे बहुत बड़ी सेवाएँ की, पर जब हम उनके पहले के बगला-लेखको के साथ उनकी भाषा की तुलना करते है, तो ज्ञात होता है कि इस दिशा म उनकी सेवाएँ भारतेन्दु की तरह महत्त्वपूर्ण तथा युगातरकारी नही है।

सबमे बड़ी बात यह है कि चाहे जिस कारण से भी हो, बंगाली पाठक अब भी बकिमचन्द्र को पढते है, पर हिंदी के पाठक स्कूल-कालिज़ की पाठ्य-पुस्तको के अतिरिक्त शायद ही कभी भारतेन्दु की रचनाओ का पाठ करते हो, इसमे एक बात यह भी है कि हरिश्चन्द्र ने नाटको को अपनी रचना का वाहन चुना, और बकिमचन्द्र ने उपन्यास को, जो आधुनिक पठन की दृष्टि से अधिक दिलचस्प वाहन था।

जहाँ तक उद्देश्यो का सम्बन्ध है, मै समझता हूँ, बकिमचन्द्र और हरिश्चद्र—दोनो अपनी रचनाओं के द्वारा पराधीन भारतवासियो के मन मे देशात्मबोध की भावना को जाग्रत करना चाहते थे, पर कुछ तो विषयो को चुनने के कारण तथा कुछ उपन्यास का माध्यम अपनाने के कारण बकिमचन्द्र की सेवाएँ जनता मे अधिक स्वीकृत हुई, उस युग मे हरिश्चन्द्र की सेवाएँ भी

स्वीकृत हुई पर उतनी नही।

बकिमचन्द्र तथा उन्ही के ढर्रे पर चलने वाले बगला-उपन्यास-लेखक रमेशचन्द्र के सम्बन्ध में यह बता दिया जाय कि इन लोगो ने, और इन लोगो ने ही क्यो, बाद के बहुत से बगला के शक्तिशाली लेखको ने, जिनमे नाटककार द्विजेद्रलाल राय (डी० एल० राय०) भी थे, बगाल के बाहर की वीर-गाथाओ को अपनाया और बहुत सफलतापूर्वक चित्रित किया, इसका एक कारण तो यह है कि स्वय बंगाल के इतिहास मे राजपूतो या मरहठो के इतिहास की तरह घटनाएँ कम थी, पर दूसरा कारण शायद यह था कि बकिमचन्द्र जिस संस्कृति को लेकर चल रहे थे, वह एक सर्वभारतीय सस्कृति थी।

बकिमचन्द्र के साहित्य मे मुसलमानो का स्थान नही था। यह अन्तिम बात केवल बकिमचन्द्र पर ही नही, शायद हरिश्चन्द्र तथा उस युग के सब लेखको के साहित्य पर लागू होती है। बगला के क्षेत्र मे इस तरह की विचार-धारा का असर बहुत दूर तक गया, क्योकि बगला हिदी की तरह करीब-करीब हिंदुओ की भाषा नही है, उसके बोलने वालो मे आधे से अधिक मुसलमान भी है।

बकिमचन्द्र जिस समय बगला के साहित्य गगन मे चमक रहे थे, उन्ही दिनो बंगला मे माइकेल मधुसूदनदत्त भी चमके। १८७३ मे ही उनका देहात होगया। बाद मे रवीन्द्रनाथ के उदय के कारण माइकेल की प्रतिभा को उतना महत्त्व नही दिया गया जितना कि उसे मिलना चाहिए। बगला-साहित्य मे रवीन्द्रनाथ के उदय के कारण इस प्रकार का अन्याय बहुत से प्रतिभाशाली लेखको के साथ हुआ है। इसमे सन्देह नही कि माइकेल बगला-कविता के क्षेत्र मे एक कोलबस या नेपोलियन की तरह आए।

बकिमचन्द्र और माइकेल-जैसे एक दूसरे के पूरक थे—एक ने कथा-साहित्य मे नवयुग की दुन्दुभि बजाई, और दूसरे ने कविता के क्षत्र मे नवयुग का सन्देश दिया। माइकेल ने नाटको की भी रचना की, जो अपने समय मे प्रसिद्ध तो हुए ही, अब भी जीवित साहित्य मे उनका स्थान है, बाद के बगला-नाटककारो ने उनसे अनुप्रेरणा ग्रहण की।

जिस कार्य को बगला-साहित्य मे बकिमचन्द्र और माइकेल मधुसूदन ने किया, उसी को हिंदी मे करीब-करीब अकेले भारतेन्दु को करना पड़ा। यह बहुत मुश्किल काम था, गद्य के क्षेत्र मे इस युग के नवीन वाहन उपन्यास को न अपना पाने के कारण तथा दूसरी तरफ कविता के क्षेत्र खडी बोली को अपनाकर सफल न होने के कारण भारतेन्दु अपने महान् साहित्यिक व्यक्तित्व

के बावजूद उतने सफल नही हो सके ।

१८८१ मे पहली सितम्बर को भारतेन्दु ने 'भारत-मित्र' मे एक पत्र छपवाया था, जिसमे उन्होने खडी बोली की कविता के सम्बन्ध मे जनता की राय जाननी चाही थी । दुर्भाग्य से यह समझा गया कि उनकी खडी बोली की कविताएँ सफल नही है, इस कारण वह कविता के क्षेत्र मे ब्रजभाषा मे ही रह गए ।

## आधुनिक युग

इसके बाद हम एकदम अपेक्षाकृत आधुनिक युग मे आ जाते है, क्योंकि यद्यपि इस बीच मे हिंदी मे बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनदन खत्री आदि कितने ही लेखको का उदय हुआ, और बगला मे भी हेमचन्द, नवीनचन्द्र, बिहारीलाल आदि का उदय हुआ, फिर भी हम इस लेख मे उन सब पर विचार करने का साहस नही कर सकते । हम पहले ही बता चुके है कि हम इस लेख मे रवीन्द्र-प्रतिभा पर विशेष विचार नही करेगे ।

हिंदी-कविता के विकास मे मैथिलीशरण गुप्त का बहुत बडा स्थान है, उन्होने बगला से अनुवाद किये, और इस प्रकार कविता के क्षेत्र मे सीधे-सीधे बगला का प्रभाव आया, बगला का कथित प्रभाव बगला के माध्यम से आया हुआ पाश्चात्य प्रभाव ही था । इस कारण बंगला की शैली, उसकी शब्दावली तथा उसके अन्य रग-ढंग का भी हिंदी पर प्रभाव पडा, मैथिलीशरण की दूर-दर्शिता का यह प्रभाव था कि उन्होने बिना अधिक सघर्ष के खडी बोली को अपना लिया । इस सम्बन्ध मे उनकी सेवाओ को उतना नही समझा गया है, जितना कि वास्तविक रूप से ये सेवाएँ महत्त्वपूर्ण थी ।

प्रसाद बहुत दिनो तक सघर्ष करते रहे, अत मे १९१० के मासिक 'इदु' मे उन्होने यह स्वीकार किया कि सामयिक पाश्चात्य शिक्षा का अनुकरण करके जो समाज के भाव बदल रहे है, उनके अनुकूल कविताएँ नही मिलती, और पुरानी कविताओ को पढना तो महादोष-सा प्रतीत होता है, क्योकि उस ढंग की कविताएँ तो बहुतायत से हो गई है । जिन दिनो प्रसाद इस लेख को लिख रहे थे, उन दिनों मैथिलीशरण का 'केशो की कथा' नामक काव्य प्रसिद्ध हो चुका था और 'इदु' के इस लेख मे प्रसाद ने इसका उल्लेख भी किया था ।

कहना चाहिए कि यही से हिंदी-कविता मे सच्चे अर्थ मे आधुनिक युग का प्रवर्तन हुआ । बगला मे यह घटना कुछ नही, तो इससे पचास वर्ष पहले हो चुकी थी, और उस धारा को माइकेल मधुसूदन-जैसा नेता प्राप्त हुआ था ।

नेता की दृष्टि से प्रसाद कुछ बुरे नही थे, पर एक तो वह मधुसूदन के मुकाबले मे देर से आए, और आकर भी उन्होने इतने वर्ष नई शैली को अपनाने मे लगा दिए, और सच बात तो यह है कि जब उनका रुझान इस तरफ हुआ, तो उनके नेतृत्व की विशेष आवश्यकता नही रही थी, क्योकि तब तक हिंदी के गगन मे दूसरे ज्योतिष्को का आविर्भाव हो चुका था।

## *प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र*

गद्य के क्षेत्र मे हिंदी मे प्रेमचद और करीब-करीब उसी समय बगला मे शरच्चद्र का उदय हुआ। यद्यपि शरत् और प्रेमचद—दोनों उपन्यास के क्षेत्र के थे, फिर भी दोनो की प्रतिभाएँ विभिन्न प्रकार की थी।

शरत् और उनके पूर्ववर्त्ती बकिम के उपन्यास बहुत-कुछ समाज की आर्थिक अवस्था के प्रति उदासीन थे। वे जिस समाज मे उत्पन्न हुए थे, उसकी जन्म छाप उन पर स्पष्ट थी। पर उस अर्थ मे नही, जिस अर्थ मे प्रेमचद की कृतियां समाज के मुकुर या आईना है। प्रेमचद की श्रेष्ठता इस बात मे है कि उनके साहित्य मे समाज मे मचे हुए वर्ग-सग्राम की नाडी के स्पदन ( जिसके अंतर्गत साम्राज्यवाद-विरोध भी आ जाता है ) स्पष्ट सुन पडते है। पर शरत् या बकिम अथवा रवीद्र मे हम यह बात नही पाते। शरत् और रवीद्र मुख्यत: उच्च वर्गो के जीवन के कलाकार है, पर मध्य वर्ग के भी सब सग्रामो, समस्याओ, अतर्द्वन्द्वो का चित्रण वे नही करते।

इसके विपरीत प्रेमचंद जनता के बहुत करीब है। उनकी कला मे समसामयिक राजनीतिक उफान, बल्कि जमीदार और किसान, मजदूर और पूजीपति के वर्ग-सग्राम चित्रित है। शरत् और रवीन्द्र का साहित्य भी समाज का दर्पण है, उसमे अन्तर्लोक का आकाश, और सो भी अतर्लोक का एक हिस्सा-मात्र प्रतिफलित है। प्रेमचद अतर्लोक के द्वद्वो को उस सफलता से नही दिखा पाते, और भावुकता की उस चोटी पर नही पहुँचते जिस पर शरत् पहुँचते है।

## *जैनेन्द्र की सम्मति*

इस संबध मे जैनेद्र का कहना उद्धृत करने योग्य है "रवीद्र की एकाध किताब पढने मे, बकिम पढने मे, शरत् पढने मे कई बार बरबस आँखो मे आँसू फूट आए है। फिर भी प्रेमचन्द की कृतियो मे जान पड़ता है कि मै उनके निकट आ जाता हूँ, उन पर विश्वास करने लगता हूँ। शरत् पढते हुए कई बार गुस्से मे मैने उनकी कृतियो को पटक दिया है और रोते-रोते उन्हें कोसने

को जी किया है। कमबख्त न जाने हमे कितना और तग करेगा—इस भाव से फिर उनकी पुस्तक उठाकर पढना शुरू कर दिया है। ऐसा मेरे साथ हुआ है।

"इसके प्रतिकूल प्रेमचन्द की कृतियो से उनके प्रति अनजाने सम्मान और परिचय का भाव उत्पन्न होता है। शरत् और अन्य कई की रचनाएँ पढते वक्त जान पडता है जैसे इनके लेखक हमसे परिचय बनाना नही चाहते, हमारी अर्थात् पाठक की इन्हे बिलकुल परवाह नही है। हमारे भावो की रक्षा करने की इन्हे बिलकुल चिता नही है। पहले ढग की किताब को जी अकुलायगा तभी हम उठाकर देखने लग जायँगे। चाहे कितनी ही बार पढी हो, हमे वह नवीन-सी लगेगी। प्रेमचन्द की किताब को एक बार पढ लेने पर उसे फिर-फिर पढने की तबीअत कम शेष रहती है। ये लेखक निरपेक्ष और निश्चित होकर हमे चाहे जितना रुला सकते है, परन्तु प्रेमचन्द हमारे प्रति निरपेक्ष नही हो सकते।"

मै जैनेद्र के मत से सहमत न होते हुए भी उसे इस कारण उद्धृत कर रहा हूँ कि जहाँ तक शरत्-साहित्य के भावुकता-प्रधान होने का सबध है, वह इससे हमारे सामने आ जाता है। शरत् और रवीद्र-साहित्य ने बहुत-सी सामाजिक रूढियो को तोडने मे मदद दी, पर प्रेमचन्द ने अपने साहित्य के द्वारा हमारे राजनीतिक सग्राम मे भाग लिया। जो कुछ कहा जा रहा है वह एक सामान्य रूप मे ही कहा जा रहा है, नही तो शरत् का 'पथेर दावी' सोलहो आना राजनीतिक उपन्यास है। इसके अतिरिक्त उन्होने 'महेश' और 'अभागी का स्वर्ग' नामक दो कहानियो मे वर्ग-सग्राम मे भी भाग लिया। 'अभागी का स्वर्ग' और 'कफन' की तुलना करने लायक है।

जिस समय तक प्रेमचन्द जीवित रहे, उस समय तक वह केवल हिन्दी मे ही नही, मेरा विचार है, सारे भारतीय साहित्य मे वर्ग-सघर्ष-मूलक साहित्य के क्षेत्र मे अपराजेय और अपराजित थे। पर उनके बाद बगला-साहित्य मे बहुत से लेखको का आविर्भाव हुआ है, जो प्रेमचन्द के अस्तित्व से परिचित न होते हुए भी उनके ढग के उपन्यास लिखते रहे है, और अब तो बगला-साहित्य मे इसी का युग चल रहा है।

यद्यपि कई कथित समालोचको ने प्रेमचद के सबध मे यह कहा है कि अब हिन्दी-साहित्य उनसे आगे निकल गया है, पर मै इसे नही मानता, सभावनाओ की बात और है, पर कोई 'गोदान'-जैसी दूसरी रचना तो बनाए। हसकुमार तिवारी के इस मत से मै सहमत न होते हुए भी कि "प्रेमचन्द की

सफलता के लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि हिंदी से उनकी कृतियाँ उठा ली जायँ, तो इसमें कुछ रह ही न जाय।' मैं यह मानता हूँ कि उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द अभी हिन्दी के 'माउंट एवरेस्ट' बने हुए हैं।

शरत् के बाद भी बंगला के उपन्यास-साहित्य में बहुत ऊँचे पैमाने पर सृष्टि जारी है। असहयोग के युग में कलकत्ते के हरिसन रोड की एक छोटी-सी गली से 'कल्लोल' नाम की चार आने की एक कहानी-पत्रिका निकली। इसके इर्द-गिर्द जो लेखक एकत्र हुए, उनके सामने यही सवाल था कि किस तरह बंगला को रवीन्द्र और शरत् की प्रतिभा के जाल से मुक्त किया जाय। रवीन्द्र और शरत् से बचने की कोशिश करते हुए भी इनमें से प्रत्येक ने रवींद्र और शरत्-साहित्य की एक-एक पंक्ति को बड़े ध्यान से पढ़ा था। 'कल्लोल' नाम से ही उनकी आकांक्षा ज्ञात होती है। वे किसी विशेष राज-नीतिक विचार-धारा से प्रभावित नहीं थे। कई आधुनिक लेखक कल्लोल से अपने जीवन का सूत्रपात करते हैं।

### *ताराशंकर वन्द्योपाध्याय*

आधुनिक बंगला-उपन्यास में ताराशंकर वन्द्योपाध्याय सबसे बड़े लेखक हैं। उन्होंने प्रेम और शृंगार को छोड़कर जनता के विशेष हिस्सों के जीवन का परिचय कराया। उनके कई उपन्यास राजनीतिक ढंग के हैं। वह 'कल्लोल'-गुट में थे। शैलेजानन्द मुखोपाध्याय ने कोयले की खानों के जीवन का चित्रण किया। यह एक नया विषय था। प्रेमेंद्र मित्र ने असाधारण को लिया और इसी में साहित्य-रचना की। अन्नदाशंकर दीर्घ यूरोप-प्रवास के कारण यूरोपीय भावापन्न हो चुके थे, पर साथ ही उन पर रवीन्द्र तथा बंगला के प्राचीन वैष्णव-साहित्य का प्रभाव है।

अचिंत्यकुमार नार्वेजियन लेखकों के अनुकरण में चले, पर बाद को उनकी एक निजी शैली हो गई। माणिक वन्द्योपाध्याय बाद में 'कल्लोल'-गुट में आए। उनकी प्रतिभा बहुत उच्च कोटि की है, पर उन्होंने बाद में अश्लीलता की ओर झुकाव दिखलाया। इसी प्रकार विभूति बाबू ने जंगल को अपना विषय बनाया। इनके अतिरिक्त प्रबोधकुमार सान्याल, केदारनाथ वन्द्योपाध्याय, वनफूल, परिमल गोस्वामी, नारायण गंगोपाध्याय आदि कई शक्तिशाली उपन्यासकार इस समय बंगला-साहित्य में मौजूद हैं।

### *यशपाल और वृन्दावनलाल वर्मा*

इधर हिन्दी में भी जैनेन्द्र, यशपाल, वात्स्यायन, वृन्दावनलाल वर्मा आदि

कई बहुत शक्तिशाली उपन्यासकारो का उदय हुआ है। पर दुःख है कि यशपाल और वृन्दावनलाल वर्मा के अतिरिक्त बाकी सब हिन्दी-उपन्यासकारो की सृजन-शक्ति बहुत सीमित रही। बगला मे इस समय जो ऊँचे दर्जे के उपन्यासकार है, वे ऊँचे दर्जे के होने के साथ-साथ अत्यधिक सृजन-शक्तियुक्त है।

मै समझता हूँ कि प्रेमचद के बाद के उपन्यासकारो तथा कहानीकारो मे यशपाल सर्वश्रेष्ठ है, गुण और मात्रा—दोनो दृष्टि से उनके उपन्यास और कहानियाँ बहुत उच्चकोटि की है। जैनेद्र तो वर्षों से कथा-साहित्य-क्षेत्र मे मृत-से ही है।

इधर के साहित्य की यह हालत है कि उदयशकर भट्ट तथा चन्द्रगुप्त विद्यालकार समझते है कि हिन्दी-साहित्य मे गति अवरोध है। इन लोगो से पहले मैने भी इस ओर ध्यान दिलाया था। यहाँ यह विचार करने का स्थान नही है कि ऐसा क्यो है? मुझे ऐसा मालूम होता है फिर भी हिन्दी-साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है।

बगला मे जो लोग रवीन्द्र के बाद या उनके समय मे प्रसिद्ध हुए, उनमे काजी नजरुलइस्लाम, मोहितकुमार मजूमदार इत्यादि रवीन्द्र से अलग लीक तैयार करने पर लगे है। वर्तमान समय मे सुभाष मुखोपाध्याय आदि जो कवि प्रसिद्ध है, वे रवीद्र के ऋणी होते हुए भी, उनमे और रवीन्द्र मे कोई समता या सामान्यता ढूँढ़ निकालना मुश्किल है।

*पत*

मै समझता हूँ कि अति आधुनिक हिन्दी-कविता में सबसे बड़ा व्यक्तित्व पत का है। उनके व्यक्तित्व मे अति आधुनिक युग की तीनो धाराएँ क्रमिक रूप से देखी जा सकती है। पहले उन्होने छायावादी ढग पर लिखा, और उसमे उन्होने बडी सफलता प्राप्त की। मजे की बात यह है कि बगला मे रावीद्रिक ढग पर चलने वाला कोई भी कवि उस ऊँचाई पर नही पहुँचा, जिस पर पत पहुँच गए। रवीन्द्र के कवि शिष्यगण बगला-साहित्य मे कोई विशेष स्थान न बना सके, क्योकि रवीन्द्र शायद अपनी शैली की सारी सभावनाओ को समाप्त कर चुके थे।

पर पत ने हिन्दी को छायावादी ढग पर बहुत उच्च कोटि की वस्तु प्रदान की। बाद को वह प्रगतिशील धारा मे हो गए। उसमे भी उन्होने जो रचनाएँ तैयार की। कुछ लोगो ने कुसस्कारवश उन्हे अच्छी तरह नही पढा, पर केवल कविता की दृष्टि से ही उनमे कई बहुत उच्चकोटि की है। इसके बाद उन्होने प्रगतिशील धारा को छोड दिया, और कहा जा सकता है कि अब अध्यात्मवादी

या प्रतिक्रिया की धारा मे बह रहे है। वह जहाँ से चले थे, वही लौटते मालूम देते है। मैने इसी अर्थ मे प्रतिक्रिया कहा है। कोई भी जहाँ से चलता है ठीक वहाँ लौट नहीं पाता, पर अभी यह बताने का समय नही आया है कि इनकी दिशा क्या है?

पत के अतिरिक्त निराला ने भी कुछ अच्छी कविताएँ लिखी, और कुछ 'क्यूबिज्म' के ढग पर कविताएँ लिखी, जिन्हे वह न लिखते तो ज्यादा अच्छा होता। बगला मे भी इस प्रकार के प्रयत्न हुए, पर उसमे कोई बडा व्यक्तित्व उत्पन्न न हो सका। बगला के अधिकाश आधुनिक कवि साथ-ही-साथ गद्य के अच्छे लेखक है, इस कारण वे शायद सब नियमो से मुक्त होकर सफलता नही प्राप्त कर सकें। महादेवी वर्मा विषाद की कवयित्री है। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा, उदयशकर भट्ट ने राष्ट्रीय जागरण मे हाथ बटाया।

बगला मे रजनीकात सेन और द्विजेन्द्रलाल राय की कविताओ ने कभी यही काम किया था। बाद को सभी बगला-कवियो ने इसमे थोडा-बहुत हाथ बटाया। मुझे ऐसा मालूम देता है कि हिन्दी-कविता मे भी गति-अवरोध है। प्रयोगवादी कविता मे कोई विशेष नयापन नही है। हाँ चटकीली भाषा और 'क्यूबिज्म' के ढग पर उक्तियाँ है।

बगला मे अभी तक प्रगतिशील तथा नए प्रयोगो का ही युग गद्य और पद्य मे सर्वत्र चल रहा है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि हिन्दी का भविष्य भी इसी पर निर्भर है। रहा यह कि हिन्दी मे स्वतत्रता के बाद से गति-अवरोध क्यो है, और बगला मे क्यो नही है, इसके कारण पर भी सक्षिप्त रूप से दो शब्द कह दू। बगला के लेखक इस स्वतत्रता के सम्बन्ध मे जैसे पहले से ही निराश थे, उन लोगो को व्यक्तिगत रूप से इस स्वतत्रता से उस हद तक कुछ भी लाभ नही हुआ, जैसा कि हिन्दी के लेखको को हुआ है और होता जा रहा है। इसी कारण बगला-साहित्य मे विशेष गति-अवरोध दृष्टिगोचर नही हो रहा है।

६

# कलाकार की स्वतन्त्रता

इधर सस्कृति-सम्मेलनो की धूम मच जाने के कारण कलाकार की स्वतन्त्रता तथा समाज के साथ उसके सम्बन्ध के विषय मे बहुत आलोचनाएँ हुई है। यदि गहराई के साथ देखा जाय, तो असल मे ये सम्मेलन राजनीतिक थे, और सो भी शक्ति राजनीति के अर्थ मे, पर साथ मे सस्कृति और कला घसीटी गई। मै यह नही कहता कि राजनीति और कला मे कोई सम्बन्ध नही है, पर इसे छिपाया क्यो जाता है? फिर भी जो तर्क-वितर्क हुए, वे बहुत ही उपयोगी है, और उनका स्वागत किया जाना चाहिए। जो तर्क-वितर्क हुए, उनका अन्तर्निहित उद्देश्य चाहे जो कुछ भी रहा हो, इसमे सन्देह नही कि वे विचारो के स्पष्टीकरण मे सहायक सिद्ध होगे। यदि देखा जाय तो इस समय यह तर्क-वितर्क केवल भारत मे ही नही सारे सभ्य जगत् मे जारी है।

यदि हम यहाँ कला या सस्कृति की परिभाषा से प्रारम्भ करे, तो हमारी आलोचना उसी मे फँसकर रह जायगी, क्योकि विभिन्न मतवादो मे कला और संस्कृति की परिभाषा ही पृथक् मानकर चली गई है। हमे किसी सोपान मे चलकर इस मतभेद का सामना तो करना ही पडेगा, पर वह जितना टले उतना ही अच्छा है, क्योकि आलोचना के हित मे यही उचित है कि मौलिक मतभेदो को शुरू मे ही न लाया जाय।

यहाँ यह बता देने की आवश्यकता नही है कि कला शब्द को उसके बृहत्तर अर्थ मे ही प्रयुक्त किया जा रहा है, याने उसमे चित्र-कला, सगीत आदि के साथ साहित्य भी आ जाता है। सच तो यह है कि साहित्यिको और लेखको पर ही ज्यादा जोर है क्योकि चित्रकार आदि की तुलना मे वे जनता के बहुत बडे भाग मे पहुँचते है। किसी भी कला को समझने के लिए अर्थात् उसके द्वारा प्रभावित होने के लिए यह आवश्यक है कि कुछ अधिक प्रशिक्षण प्राप्त हो जैसे तुलसीदास की रामायण को लीजिये, उसे समझने के लिए किसी विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नही है, याने जिस प्रशिक्षण की आवश्यकता

है वह अन्य कलाओं को समझने के लिए जिस प्रशिक्षण की आवश्यकता है उसकी तुलना मे बहुत कम है। हरफ पहचान लिया, कुछ बाराखडी सीख ली, हज़ार-दो हजार शब्द जान लिए कि अपनी मातृभाषा के साहित्य का उपभोग शुरू हो जाता है। हजार-दो हजार शब्द इसलिए कि एक अनपढ व्यक्ति भी अपनी रोजमर्रा की बोल-चाल मे करीब-करीब इतने ही शब्द प्रयोग मे लाता है, और समझ लीजिये कि करीब इतने ही शब्दो का स्वय प्रयोग न करने पर भी मतलब अनुमान कर लेता है। इसलिए तुलनात्मक रूप से बहुत कम प्रयास करने के बाद ही प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी मातृभाषा का साहित्य पूरा नही तो कुछ-कुछ खुल अवश्य जाता है।

इसी कारण जब लोग कलाकार की स्वतन्त्रता आदि की बातचीत करते हैं तो कम-से-कम भारत मे उसका अर्थ साहित्यकार या लेखक की स्वतन्त्रता ही होता है। इससे यह भी समझ मे आता है कि साहित्यकार तथा लेखक को फांसने के लिए सब दिशाओ से यह चेष्टा क्यो है ?

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि कलाकार या साहित्यकार के लिए दो मतवाद है। एक सामाजिक, एक व्यक्तिकेन्द्रिक। एक तो यह कि कलाकार अपने दिल का राजा है, वह चाहे कुछ भी लिखे। ऐसे लोगो का यह कहना है कि कला की सृष्टि किसी बाहरी प्रयोजन की पूर्ति के लिए नही, बल्कि केवल कलाकार के अपने सुख के लिए है। दूसरे शब्दो मे इस मतवाद का यह दावा है कि कलाकार समाज तथा राष्ट्र का सदस्य होने पर भी स्वय सम्पूर्ण है, और वह जो कुछ सृजन करता है, वह उसी की वृत्तियो, सुख-दुखो, अनुभूतियो, प्रतिक्रियाओ का प्रतिफलन होता है। इस मतवाद मे स्वाभाविक रूप से कला का कोई सामाजिक ध्येय या कर्तव्य या गन्तव्य नही माना जाता। कलाकार ने लिख दिया, अकित कर दिया, गा दिया, यही पर उसका मानो कार्य समाप्त हो गया। उसका सामाजिक प्रभाव क्या होगा, होगा या नही होगा इससे कलाकार को कोई सरोकार नही है।

कहना न होगा कि यह मतवाद विश्लेषण की कसौटी पर मुश्किल से उतर सकता है। कला की कैसे उत्पत्ति होती है, इस प्रश्न की गहराई में यदि जाया भी न जाय, और यदि यह सोचा भी न जाय कि समाज तथा अपनी परिस्थितियो से कलाकार किस प्रकार प्रभावित होता है, तो भी इस बात को तो सोचना ही पड़ेगा कि जब चित्र अकित हो गया, कहानी या कविता लिखी गई, गीत गा दिया गया, तो उससे या उनसे दर्शक, पाठक या श्रोता किस प्रकार प्रभावित होगा, यहाँ तक कि होगा या नही होगा, ये

सारी बाते समाज, उसके विकास का सोपान, उसकी यान्त्रिक उन्नति, परम्परा आदि पर निर्भर है।

यदि यह दावा किया जाय कि कलाकार सृजन करके मुक्त हो गया, तो यह बिलकुल गलत है। कहानी या कविता केवल लिखने मे ही कोई रस नही होता, यदि उसका कोई पाठक समाज, भले ही वह एक व्यक्ति तक सीमित हो, न होता। इसी प्रकार चित्र आदि के सम्बन्ध मे भी कहा जा सकता है। जहाँ नीरव साधना होती है वहाँ भी वह इस आशा से होती है, कि किसी आगामी काल मे उस साधना के परिपक्व फल को दर्शक, पाठक या श्रोता के सामने रखा जायगा। ऐसा हो सकता है कि ऐसे कई नीरव साधक अपनी साधना के ही दौरान मे मर जायें, और उसकी कृतियो को कभी दूसरो के सामने जाने का मौका न मिले। पर ऐसे क्षेत्र मे भी यह मानना पडेगा कि पृष्ठभूमि मे उन सम्भव दर्शक, पाठक, श्रोताओ की बात कलाकार को अनुप्राणित करती है। यह क्रिया कुछ वैसी ही है जैसे किसी ने अपनी प्रेयसी को एक पत्र लिखा, और उसे डाक मे डाल दिया, पर डाकखाने-सम्बन्धी किसी गड़बडी के कारण वह पत्र प्रेयसी को नही पहुँच पाया, यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि पत्र लिखते समय पत्र-लेखक के सामने अपनी प्रेयसी का विचार होने के कारण प्रेयसी की दृष्टि से ही, और भी खुलकर कहा जाय तो प्रेयसी के मन मे प्रभाव उत्पन्न करने की दृष्टि से ही पत्र लिखा गया था। यह दूसरी बात है कि पत्र पहुँचा नही या पत्र-लेखक को लिखना नही आया, और वह जिस प्रभाव को उत्पन्न करना चाहता था, उसका विपरीत प्रभाव उस पत्र के पहुँचने पर उत्पन्न हुआ, इत्यादि।

स्वसुखवाद या कला के लिए इस मतवाद का कोई कितना भी भक्त हो गम्भीरता के साथ यह दावा करना सम्भव नही है कि कलाकार सम्पूर्ण रूप से दर्शक, पाठक या श्रोता निरपेक्ष होता है अथवा हो सकता है। यदि ऐसा होता तो फिर कवि कविता लिखकर फाड़ डालता, गायक जाकर जंगल मे गाता, चित्रकार पानी से चित्र खीचता। जब ऐसा नही है, तब यह मानना ही पड़ेगा कि यह दावा तो चल नही सकता कि कलाकार की सृजनेच्छा केवल कलाकृति के उत्पादन से ही सम्पूर्ण हो जाती है।

यदि सैद्धान्तिक सतह से उतरकर व्यावहारिक जगत् को देखा जाय तो ज्ञात होगा कि कलाकार प्रत्येक क्षेत्र मे अपनी कला के जरिये अमरत्व का इच्छुक रहता है भले ही वह वैयक्तिक ख्याति न चाहता हो, सम्पूर्ण रूप से पृष्ठभूमि में रहना चाहता हो, यहाँ तक कि विस्मृति मे विलुप्त हो जाना चाहता हो,

तो भी यह वह अवश्य चाहता है कि उसकी कृति स्थायी हो। पेरू के कजको कैथेड्रल में कुछ चित्र है, जो सत्रहवी शती के है। ये चित्र महीनों को लेकर बने है। विशेषज्ञ इस विषय पर एकमत थे कि ये फलेमिश चित्रकार की तूलिका से है। यही मत माना जाता था, पर बाद को कही कोने मे एक नाम खुदा मिला 'ट्रिटटो क्विस्पे १६३१', तब पता लगा कि यह एक पेरू के आदिवासी चित्रकार द्वारा अकित है। इस चित्रकार ने फलेमिश चित्र-कला मे इतनी दक्षता प्राप्त की थी कि वह उसका चित्र फलेमिश चित्रकार का समझा गया। इसी प्रकार उसने अन्य स्थान पर एक चित्र खीचा जो इटैलियन चित्रकार का ज्ञात होता है। इस प्रकार ट्रिटटो क्विस्पे यह चाहता था कि उसकी कृति रहे, उसे भले ही कोई न जाने। अवश्य इससे उन दिनो के औपनिवेशिकवाद से पीडित आदिनिवासियो की मनोवृत्ति की बात पता चलती है। क्या इस क्षेत्र मे कृति स्थायी होने की अभिलाषा को केवल स्वसुख या स्वान्त सुख के शब्दो मे बताया जा सकता है?

तो फिर इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि कलाकार अपनी कृति की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जितनी भी निस्पृहता का दावा करे, (हम आगे उसकी जाँच करेगे) पर उसका यह दावा हास्यास्पद होगा कि कृति को जन्म देकर ही उसका सुख पूर्ण होता है।

बहुत से ऐसे कलाकार हो गए है जिनकी अपने युग मे कद्र नही हुई, फिर भी वे अन्त तक पूर्ण उत्साह के साथ अपने ढग से सृजन करते गए, पर उन्हे यह विश्वास था कि अपने समय मे न सही सौ वर्ष बाद सही उन्हे दर्शक, पाठक या श्रोता मिलेगे। उन्ही को दृष्टि मे रखकर वे सृजन कर गए, और उन्होने समसामयिक उपेक्षा की परवाह नही की।

इस प्रकार के अपवादो को लेकर स्वान्त सुखाय मतवाद वाला यह कूट तर्क कर सकता है कि इसका अर्थ यह हुआ कि कलाकार स्वान्त सुख से अनुप्रेरित होकर कृति का सृजन करता है, उसके मन मे एक मानदड होता है, उसी के अनुसार वह अकन करता है, लिखता है या गाता है। रही कद्र, सो हो जाय तो वह खुश होता है, क्योकि यह स्वाभाविक है, और कद्र नही हुई तो वह उसकी परवाह नही करता।

यह मानना पडेगा कि जो कलाकार समसामयिक उपेक्षा की परवाह न करके अपनी कृति का सृजन करते थे या करते है, वे साधारण नियम मे नही आते। पर जैसा कि हमने उस पत्र-लेखक के बारे मे दिखाया जिसका पत्र उसकी प्रेयसी तक नही पहुँचता, ऐसे कलाकार के मन मे एक गुण-ग्राहक

समाज की कल्पना है जो उस समय मौजूद न होने पर भी भविष्य मे उत्पन्न होगा ऐसी आशा वह रखता है। इस सम्बन्ध मे यह भी ध्यान देने योग्य है कि कई बार अपने युग मे अनादृत कलाकार की यह आशा व्यर्थ सिद्ध होती है। जहाँ एक ऐसा कलाकार होगा जो अपने युग मे अनादृत हुआ, पर बाद के युग मे आदृत हुआ वहाँ सौ ऐसे कलाकार होगे जो अपने युग मे अनादृत होने पर यह समझते रहे कि बाद के युग मे आदृत होगे, पर वास्तविक रूप से उनका न तो तब आदर हुआ, और न आगे कभी आदर होने की सम्भावना है। इसलिए यह दावा करना कि कलाकार के मन मे कोई बना-बनाया मानदण्ड होता है, जिसकी जडे किसी प्रकार के रहस्यमय स्वान्त सुखाय मे होती है, बिलकुल निराधार है। हमने देख लिया कि व्यावहारिक क्षेत्र मे ऐसी किसी बात का अस्तित्व नही है।

इस प्रकार यह बिलकुल स्पष्ट है कि कलाकार और उसके दर्शक, पाठक, या श्रोता का सम्बन्ध बिलकुल सामाजिक है, और वह केवल स्वान्त.सुखाय लिखता है ऐसा मानना सम्भव नही है। बल्कि मै तो यहाँ तक जाऊँगा कि यदि कोई चित्रकार किसी चित्र को बनाता है, या कोई कवि किसी कविता की रचना करता है, पर वह अपने चित्र या कविता को किसी को न दिखाकर फाडकर फेक देता है, तो उनकी कृति कला की संज्ञा मे नही आ सकती, याने वह उतनी ही हद तक आ सकती है, जितनी हद तक कि वह फाड़ी हुई कृति भविष्य की कृति को उन्नत करने मे याने कला की साधना मे सहायक हो। यह तो बताने की आवश्यकता नही कि अन्तिम क्षेत्र मे कृति का अर्थ फाडी हुई कृति से नही है। दूसरे शब्दो मे यदि वह फाडी हुई कृति कला-साधना का एक अग है, तब तो उसे कुछ महत्त्व प्राप्त होगा, नही तो वह चित्र खीचा गया या वह कविता लिखी गई, उसका कोई महत्त्व नही है। उस अवस्था मे भी उसे हम कला की आख्या नही देगे बल्कि उसे कला-साधना मे एक कडी के रूप मे ही गिनेगे। यदि एक चित्रकार एक चित्र को दस बार खीचे, और दसो बार उसे फाडकर फेक दे, और उसकी कृति आगे भी कभी किसी के सामने न आवे, तो हम यही कहेगे कि उसकी कला की साधना उस हद तक व्यर्थ गई। अवश्य ऐसा ही निरवच्छन्न रूप से नही कहा जा सकता, क्योकि मान लीजिये एक चित्रकार ने मनुष्य के चित्र बनाने की साधना की, और वह उसमे असफल रहा, पर इसके बाद उसने बन्दरो के चित्र बनाये, और उसमे सफल रहा, तो यह हो सकता है कि उसके पहले की साधना बिलकुल व्यर्थ नही गई, और वह इस नई साधना मे आई। पर हमे इस तर्क से

वास्ता नही, हमे तो कला की साधना पर नही बल्कि कला पर आलोचना करनीं है।

जैसे भाषा की स री धारणा ही सामाजिक है, एक व्यक्ति यदि कुछ बोला, और वह किसी की समझ मे नही आया, तो उसकी बोली को हम-जैसे भाषा नही मान सकते, भले ही उसमे उसका स्वान्त सुख उद्वेलित रहा हो, उसी प्रकार से कला भी है। (कला जब साहित्य के रूप मे है, तब वह भाषा मे होने के कारण सामाजिक तो हो ही गई, पर अन्य माध्यमो मे भी जैसे चित्र मे भी वह दूसरे की अपेक्षा रखती है। इस बात की पुनरावृत्ति करने को आवश्यकता नही कि ऐसा चित्र चित्र ही नही जो किसी के सामने न आया न आयगा। चित्र के साथ द्रष्टा या उपभोक्ता का विचार अविच्छिन्न रूप से सन्नद्ध है।

हाँ एक बात यह कही जा सकती है कि यदि गायक ने गाना गाया, और वह उसे सुनकर खुश हुआ, यदि कवि ने कविता लिखी और वह उसे पढकर खुश हुआ, इत्यादि, तो एक सामाजिक प्राणी होने के नाते, उसका यह खुश होना भी सामाजिक है। तर्क के लिए यह बात कुछ वजनदार ज्ञात होने पर भी इसमे कोई तत्त्व नही ज्ञात होगा। यदि इस प्रकार उसके अपने सुख को समाज का सुख मान लिया जाय, तो फिर व्यक्ति की सीमा क्या है? इसी कारण यह कदापि मान्य नही हो सकता कि ऐसी हालत मे, जब कि कृति का उपभोग-जन्य सुख सृष्टा तक सीमित है, तो उसे कला की सज्ञा दी जाय। भाषा के उदाहरण से इस बात का अच्छी तरह स्पष्टीकरण किया जा चुका है। ऐसे स्वान्त सुख को चाहे और कोई भी संज्ञा दी जाय, उसे कलाकृति का उपभोग-जन्य सुख नही कहा जा सकता।

अब हम कला के दूसरे सामाजिक पहलू पर आते है। वह यह कि एक कृति आदृत होती है, और दूसरी नही होती, एक की कम कद्र होती है, दूसरी की अधिक, एक का आदर एक समूह मे है तो दूसरी का आदर दूसरे समूह में, इन सबका क्या कारण है। जैसे एक भारतीय के लिए चीनी सगीत या एक चीनी के लिए भारतीय सगीत। अपने-अपने देश मे इन सगीतो का आदर होने पर भी बाहर वे उपेक्षित है। इसका क्या कारण है? यदि इन प्रश्नो की गहराई मे जाया जाय तो यह ज्ञात होगा कि कथित कलाकृति मे जिस विश्वजनीनता का आरोप किया जाता है, उसमे कोई ऐसी बात है या नही यह सन्देहजनक है। परम्परा, शिक्षा, सस्कार इन सारी बातो का किसी क व्यक्ति या समाज की कला-संबधी धारणा पर असर पड़ता है। हम बचपन

से हिन्दुस्तानी सगीत-प्रणाली की चीजे सुन रहे है, इस कारण हमे एकाएक कर्नाटक सगीत या यूरोपीय संगीत पसन्द नही आयगा। इसमे किसी प्रकार की श्रेष्ठता या निकृष्टता का प्रश्न उठाने की आवश्यकता नही। सब अपने-अपने लिए उत्कृष्टता का दावा करते है। इसी प्रकार और बातो मे भी कहा जा सकता है। हाँ कोई व्यक्ति कई परम्पराओ मे इतना मँज सकता है कि सभी का उपभोग करे। यही से हमे उन क्षेत्रो मे विश्व-संस्कृति की उत्पत्ति की संभावना मालूम होती है, जिन क्षेत्रो मे जैसे सगीत मे अभी अलग-अलग प्रकोष्ठ है। पर यह बात यहाँ अप्रासगिक है।

किस प्रकार से परम्परा, शिक्षा और सस्कार कला-बुद्धि को प्रभावित करते है, इसके ब्यौरे मे जाना सम्भव नही है। वह एक स्वतन्त्र विषय है, और उस सम्बन्ध मे अभी अन्तिम बात कही नही गई है, और शायद बराबर ज्ञान की वृद्धि होते रहने पर भी यह कहना सम्भव न हो कि अन्तिम बात कह दी गई। पर यह सत्य है कि ये बाते हमारी कला-बुद्धि को प्रभावित करती है।

और यह भी सही है कि परम्परा, शिक्षा तथा संस्कार सब क्षेत्रो मे विशेषकर देश-देश मे अलग-अलग है। ऐसा क्यो हुआ यह एक ऐतिहासिक प्रश्न है, पर यह पृथक्ता एक तथ्य है। Universal Art की धारणा कई क्षेत्रो मे तो बिलकुल काल्पनिक है। आगे चलकर कभी यह कल्पना कार्यरूप मे परिणत होगी। यह सिद्धान्त रूप से मान लेने पर भी इस समय परिस्थिति यही है कि कम-से-कम देश-देश मे और प्रान्त-प्रान्त मे कला की धारणा बहुत-कुछ भिन्न है।

सगीत को ही लीजिये, क्योकि उसी पर हम कई बाते कह चुके है। कथित आर्य भाषा वाले प्रान्तो मे हिन्दुस्तानी सगीत तथा मद्रास प्रान्त मे कर्नाटक सगीत का प्रचार है। हिन्दुस्तानी सगीत के क्षेत्र मे भी प्रत्येक प्रान्त मे अलग-अलग लोक-सगीत है, और इस लोक-सगीत के साथ मिश्रण से वहाँ का आधुनिक सगीत बना है जिस पर शायद यूरोपीय सगीत का कुछ पुट आ गया है। मैने ऐसे लोगो को देखा है जो रेडियो पर कर्नाटक सगीत आते ही उसे बन्द कर देते है। मै उन्हे दोष नही देता, क्योकि जिस प्रणाली पर बचपन से सगीत सुनते आये उससे एकाएक अलग होकर किसी नये सगीत का उपभोग करना हर एक के वश की बात नही है।

यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति की कला-बुद्धि उसकी परम्परा तथा शिक्षा पर निर्भर है। इसमे कलाकार भी आ जाता है, इसलिए कलाकार के

लिए यह दावा करना कि वह सब तरह के सामाजिक प्रभावो से मुक्त है अथवा मुक्त होकर कला-कृति का सृजन करता है बिलकुल थोथा है। कलाकार अपनी धारणाओ मे समाज से या बल्कि समाज के उस भाग से, जिसमे वह पैदा हुआ तथा पला है, अपनी कला-सम्बन्धी तथा अन्य धारणाओ को लेता है, और उन्ही धारणाओ के आधार पर वह सारे कार्य करता है।

साहित्य के क्षेत्र मे हम संगीत की तरह प्रादेशिकता या जनपदीय पृथक्ता नही पाते, इसका कारण यह है कि हम ऐसा कहते समय कि साहित्य का आवेदन सार्वदेशिक है भाषा की भिन्नता को छोडकर बात करते है। एक भाषा मे कही गई बात सौभाग्य से दूसरी भाषा मे अनूदित हो सकती है, इसी कारण साहित्य का आवेदन सार्वदेशिक हो जाता है। पर सगीत के क्षेत्र मे ऐसी अनुवाद-प्रक्रिया सम्भव न होने के कारण, उदाहरणार्थ बेठोफेन की सिम्फनी हिन्दुस्तानी सगीत मे अनूदित न हो सकने के कारण बेठोफेन, बाख, रोदाँ आदि का आवेदन केवल यूरोपीय सगीत के वातावरण मे पले हुए लोगो तक ही सीमित है, याने दूसरे शब्दो मे सगीत प्रत्यक्ष रूप से सीधे सीधे हृदय को स्पर्श करने मे समर्थ होने के बावजूद उसका आवेदन सार्वदेशिक न होकर सीमित है।

साहित्य मे भी सार्वदेशिकता (भाषा के भिन्नत्व की अवज्ञा करने पर भी) उतनी नही है जितनी कि समझी जाती है। साहित्य के कई तर्ज है जो जहाँ प्रचलित है वही प्रचलित है। इसके ब्यौरे मे जाने से लेख बहुत बढ जायगा, इस कारण इसे यही पर छोड देते है। सौभाग्य से सर्वत्र दीवारे टूट रही है, । याने दूसरे शब्दो मे परम्पराएँ एकीभूत हो रही है, इस कारण यह आशा की जा सकती है कि साहित्य के क्षेत्र मे अपेक्षाकृत सुगमता से सार्वदेशिक मानदण्डो का बोल-बाला होगा ।

पर सगीत के क्षेत्र मे ऐसी कोई सम्भावना ज्ञात नही होती कि सारी परम्पराएँ, शैलियाँ, पद्धतियाँ शीघ्र एक हो जायँगी और इस प्रकार एक हो जायँगी कि एक परम्परा मे पला हुआ व्यक्ति दूसरी परम्परा के सगीत का बिना प्रशिक्षण के रस ले सकेगा।

अब हम फिर अपने विषय पर लौट आते है। कलाकार के सम्बन्ध मे कोई भले ही इस मत को अस्वीकार करे कि उसे समाज के कल्याण के लिए, जिसे हम वैज्ञानिक भाषा मे कहेगे समाज की प्रगति के लिए कला कृतियो का सृजन करे, पर उसे यह मानना पड़ेगा कि कलाकार एक सामाजिक जीव है, और ऐसा वह दोहरे अर्थो मे है, याने एक तो उसकी सारी बनावट, उसकी

धारणाएँ तथा मान्यताएँ सामाजिक रूप से उत्पन्न है, और दूसरे वह जिस दर्शक, पाठक, श्रोता-मडली के लिए कृति तैयार करता है, वह तो समाज का ही रूप है।

इतना मान लेने के बाद अब प्रश्न यह आता है कि क्या कलाकार बिलकुल समाज से स्वतन्त्र होकर (क्या वह ऐसा हो सकता है ?) कृतियो का सृजन करे, या समाज के कल्याण मे, या जैसा मैने कहा, उसकी प्रगति मे हाथ बटावे ? इस प्रश्न पर तार्किक रूप से आलोचना करने के बजाय यह अच्छा होगा कि व्यावहारिक क्षेत्र मे क्या होता रहा है और क्या हो रहा है यह देखा जाय। प्राचीन वैदिक तथा सस्कृत-साहित्य को लीजिये, तो उसमे जनता की आवाज के बजाय कवियो के पृष्ठ-पोषको की आवाज ही गूँजी है। वैदिक कविता मे कुछ तो विजय-गीत है जिसमे बडे लोगो, सरदारो, राजाओ और देवताओ की स्तुति है। ऋषि अपने दाता का जय-गान भी करते है, जिसने उन्हे युद्ध की लूट से गो-धन, अश्व तथा सुन्दर दासियाँ दी है। कुछ यज्ञ के गाने होते थे, जो शायद किसी खास मौके पर गाये जाने के लिए आर्डर पर प्रस्तुत किये जाते थे। दान-स्तुति तो वैदिक साहित्य की खास चीज है जिसमे दाता की प्रशसा की जाती है।

बाद के साहित्य मे चलिये तो कालिदास से लेकर विद्यापति तक सभी कवि किसी न-किसी रूप मे राज-सभाओ से सम्बद्ध थे। जैसा कि श्री भगवतशरण उपाध्याय ने स्पष्ट किया है, "प्राचीनो के सम्बन्ध मे यह प्रश्न उठता है कि उनमे मेधा तथा सामर्थ्य की कमी न होने पर भी उनका सरक्षक राजा ही क्यो है, वे राजा की अवकाश की पूर्ति और मनोरजन के लिए ही रचना क्यों करते है, उनकी गोष्ठियाँ जनता मे क्यो नही होती, विशेषकर नाटको का आरम्भ राज-सभाओ से क्यो होता है ?

यदि हम प्राचीन काल के स्मृतिकारो, अर्थात् आधुनिक भाषा मे जिन्हे जुरिष्ट कहेगे, को देखे तो हमारी आँखे और भी खुल जायँगी। जुरिस्ट साहित्यकार या कलाकार की श्रेणी मे न माने जाने पर भी, उनसे तो और भी अधिक आशा की जाती है अर्थात् आशा करने की परिपाटी है कि वे निष्पक्ष होगे। पर इस सम्बन्ध मे वस्तु-स्थिति इतनी घृणा-उत्पादक है कि लज्जा मालूम होती है। हमारे त्रिकालदर्शी ऋषियो ने यो तो अपने दर्शन शास्त्रो मे बहुत बड़ी-बड़ी बाते छाँटी है, पर उनका असली रूप उनकी स्मृतियो तथा सहिताओ मे खुलता है, क्योकि वह तो रोजमर्रा की चीज थी, उसमे तो बात बनाने से काम नही चल सकता था। एक ही जुर्म के लिए खुलकर शूद्र और ब्राह्मण के लिए

अलग-अलग सजाओ की व्यवस्था यह हमारी सस्कृति की विशेषता है।

दुख है कि हम इन विषयो को छूकर आगे बढ जाने के लिए बाध्य है। अब हम एकदम आधुनिक काल में आकर इस प्रश्न को लेते है कि क्या कही भी कलाकार या लेखक बिलकुल स्वतन्त्र है ? साम्यवादी तो इस बात को मानते है कि वे सर्वहारा के अधिनायकत्व और पूँजीवादी वर्ग के दमन में विश्वास करते है, इसलिए वे खुल्लम-खुल्ला पूँजीवादी विचार-धारा से प्रभावित सभी कलाओ आदि का किसी-न-किसी रूप से दमन करते है। उनका तो यह दावा है कि असली स्वतन्त्रता यही है कि जनता ( वे जनता मे उच्च वर्गों को नही मानते) के विरोधी तत्त्वो का दमन हो, इस कारण उनके देशो मे कथित निरवच्छिन्न स्वतन्त्रता नही है।

इसलिए उसे छोडकर अन्य देशो मे सबसे अधिक स्वतन्त्रता की ख्याति प्राप्त ब्रिटेन को देखे तो वहाँ 'लन्दन-टाइम्स' के भूतपूर्व सम्पादक वीकहैमस्टीट का कहना है कि अखबारो के मालिक तगडे व्यक्तित्वयुक्त सम्पादको को पसन्द नही करते। 'वे यह चाहते है कि उन्ही के व्यक्तित्वो की सेवा में विशेषज्ञ लेखक रहे, जिन पर यह विश्वास किया जा सके कि मालिक जो भी मतवाद चाहेगा वह उसका प्रतिपादन करे।' 'डेली हैरल्ड' के सम्पादक फ्रासिस विलियम्स का भी कहना है कि 'वर्तमान युग मे पत्र-सम्पादको का कार्य केवल अपने मालिको की राय का प्रतिपादन है।' उदाहरणार्थ 'डेली एक्सप्रेस' मे लार्ड बीवरब्रुक, 'डेली मेल' मे लार्ड रोथरमीयर, 'डेली टेलीग्राफ' मे लार्ड कामरोज, 'डेली स्केच' मे लार्ड केमसले की आवाज सुनाई पडती है। इनके अलावा विज्ञापनदाता अपना सघ बनाये हुए है, और वे विज्ञापन देकर अथवा उसे वापस करके अपना मत अखबारो मे चलवाते है। यह तथ्य इतना सुपरिचित है कि १६४६ मे कोपेनहेगेन मे पत्रकारो का जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ था उसने स्पष्ट शब्दो मे यह घोषणा कर दी कि जब तक पत्र, सम्वाद भेजने की ऐजेसियाँ कुछ व्यक्तियो तथा एकाधिकारमूलक सस्थाओ के हाथो मे रहती है, तब तक पत्रकार की स्वतन्त्रता काल्पनिक रहेगी। इस सम्मेलन ने यह भी बताया कि अब तक छापेखाने का प्रयोग बहुत-कुछ मानवता को दबाने मे ही हुआ है।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि कथित निरवच्छिन्न स्वतन्त्रता तो कही भी नही है। इसके साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि क्या कलाकार पर सचमुच ही कोई रोक न रखी जाय, तो इस पर स्टीफन स्पैण्डर-जैसे व्यक्ति भी, जो सब प्रकार की रोको के विरुद्ध है, कहते है कि क्लासफीमी याने धार्मिक आघात

तथा अश्लीलता पर रोक होनी चाहिए । अर्थात् वे भी किसी रूप मे रोक को मानते है, अब यदि कोई धर्म के स्थान पर कहे कि जनता पर आघात वर्जनीय है तो इस पर क्या कहा जा सकता है । धर्म बहुत से क्षेत्रो मे जनता के विरुद्ध है, जब ऐसा होने पर भी उस पर चोट वर्जनीय समझी जाती है, तो जो लोग जनता पर चोट को वर्जनीय कहते है, उन्हे बुरा कैसे कहा जा सकता है ?

इसलिए मेरा यह विचार है कि कलाकार स्वतन्त्र है, और उसे स्वतत्र होना चाहिए, पर वह जनता का एक अग है, इस कारण उसे जनता के विरुद्ध जाने का कोई अधिकार नही है । नागरिक स्वतन्त्रता का अर्थ जैसे यह नही है कि हम दाएँ या बाएँ जिधर से चाहे गाड़ी चलायें, एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता वही समाप्त होती है जहाँ दूसरे की शुरू होती है, उसी प्रकार से कलाकार को स्वतन्त्रता तभी तक और उसी हद तक है जहाँ तक कि वह जन-कल्याण के विरुद्ध नही जाता । कला का अर्थ सेवा है, जनता की सेवा ।

१०

# विश्व-साहित्य पर एक सरसरी दृष्टि

आजकल लोग विश्व-साहित्य का बात-बात मे उल्लेख करते है, ऐरे-गैरे समालोचक तो हमारे एकाधिक लेखको को विश्व-साहित्यिक तथा उनकी कृतियो को विश्व-साहित्य करार दे देते है। देश-प्रेम तथा मातृभाषा का प्रेम कुछ सीमा तक अच्छा है, किन्तु कम-से-कम साहित्य-क्षेत्र मे इस प्रकार का पक्षपात असहनीय है, विशेषकर जब वह अज्ञान से उद्भूत हो। इस लेख मे मै विश्व-साहित्य पर अपना अभीष्ट नही कहूँगा, इस विषय पर एक जर्मन भाषा के लेखक की लिखी हुई पुस्तक का सार सकलन-मात्र कर दूँगा। दुख है कि लेखक के सब मतो से तथा व्याख्याओ मे मै सहमत नही हूँ। यह भी कहना आवश्यक है कि लेखक का असली उद्देश्य विश्व-साहित्य के विकास तथा मूल्य पर राय देना नही है, ऐसा तो लेखक ने राह चलते यो ही कही-कही किया है, लेखक का असली उद्देश्य विश्व-साहित्य का एक पुस्तकालय कैसे और किन पुस्तको से बनाया जाय, इस विषय पर मत देना है। लेखक की सूची मे आधुनिक लेखको का याने इस शताब्दी के लेखको का पता नही है यह भी एक दोष है। लेखक का नाम है हेरमान हेमे, तथा पुस्तक का नाम है Eine Bibilothek der weltliteratur। यह पुस्तक लाईपसिग के फिलिप रिल्काम नामक प्रसिद्ध प्रकाशक के यहाँ से छपी है।

बहुत-सी भाषाओ की बहुत-से प्रकाशको की पुस्तक-सूची मेरे देखने मे आई, किन्तु विश्व-साहित्य का इतना सस्ता तथा सम्पूर्ण सस्करण रिलकाम के सिवा किसी और प्रकाशक ने प्रकाशित किया हो, ऐसा मुझे मालूम नही। पुस्तके सब एक ही आकार मे बडे अच्छे कागज पर छपी है, चीनी, जापानी, सस्कृत, फारसी, अरबी सभी भाषाओ का साहित्य इसमे सम्मिलित है। केवल इन पुस्तको का प्रामाणिक अनुवाद ही नही, बल्कि हरेक पुस्तक मे किसी विशेषज्ञ विद्वान् की लिखी हुई अत्यन्त मनोज्ञ भूमिका भी है। न मालूम भारतीय भाषाओं मे ऐसे प्रकाशक कब होगे ?

हेर हेसे लिखते है—"प्रकृत शिक्षा का कोई एक सकुचित उद्देश्य नही होता, परिपूर्णता के लिए प्रत्येक प्रचेष्टा की तरह उसका उद्देश्य अत्यन्त व्यापक है। शरीर-चर्चा का उद्देश्य जैसे केवल फुर्तीलापन या सौन्दर्य नही है उसी तरह शिक्षा का भी समझा जाय। शिक्षा का उद्देश्य किसी मानसिक क्रिया या शक्ति को उद्बुद्ध करना नही बल्कि वह हमे अपने जीवन को अर्थ देने में सहायता करती है, हम उसकी सहायता से भूतकाल की व्याख्या मे समर्थ होते है, साथ-ही-साथ एक निर्भीक तैयारी के साथ वह हमे भविष्य का सामना करने का बल देती है।।

शिक्षा की इस विराट् उद्देश्य-पूर्ति के लिए एक बहुत ही बडा उपाय है कि विश्व-साहित्य का अध्ययन किया जाय, अर्थात् हम उस उमडती हुई विचार-धारा मे मज्जन तथा पान करे जो भूतकाल के कवि तथा विचारवान व्यक्तियो के सम्मिलित विचार, प्रयोग, स्वप्न तथा इच्छाओ से बनी है। यह विचार-धारा बडी ही विस्तृत है, किसी एक मनुष्य के लिए समग्र मनुष्य जाति का तो क्या एक ही देश की समस्त विचार-तरगो से परिचय प्राप्त करना सम्भव नही। यही से चुनने का सवाल उठता है, किन्तु यह सवाल बडा टेढा है। प्रत्येक पाठक की रुचि भिन्न है, उसी के अनुसार उसका चयन भी भिन्न होगा। इसके अतिरिक्त यह भी तो प्रश्न है कि इस विश्व-साहित्य के साथ परिचय रूपी उदात्त उद्देश्य के लिए वह पाठक कितना धन तथा समय व्यय कर सकता है। किसी के लिए तो अफलातून सबसे बडे तत्त्ववेत्ता तथा होमर सबसे प्रिय कवि होगे, ये ही लेखक उस पाठक के दृष्टिकोण के केन्द्र-स्थल होगे, और इन्ही के इर्द-गिर्द खडे होकर वह और लेखको पर रायजनी करेगा। जो लेखक या कवि अफलातून और होमर से जितना निकट या घटकर होगा उसी के अनुसार वह उसका मूल्य कूतेगा। अन्य पाठको के लिए अन्य आदर्श होगे। कुछ तो कविता का मकरन्द पान करने मे, कल्पना की उडान मे हिलोरे लेने मे ही तथा भाषा के लालित्य पर ही मर मिटेगे, कुछ विचार-प्रधान लेखो मे ही तल्लीन रहेगे, कुछ अपनी रुचि के अनुसार फ्रेच, ग्रीक, रूसी इत्यादि मे से किसी एक की अभिव्यक्ति-प्रणाली के प्रेमी होगे।

यहाँ पर अनुवाद की आवश्यकता तथा उसके महत्त्व का प्रश्न उठता है। बात यह है कि बडे-से-बडे विद्वान् भी केवल कुछ ही भाषाएँ सीख सकते है। कुछ ऐसी कविता (जिसे गीतिकाव्य कहेगे) हो सकती है, जिनका अनुवाद हो ही नही सकता। हम ऐसी रचनाओ की बाते तो जाने देते है। हम जब तक उन भाषाओ को न सीखे तब तक हम उनका रसास्वादन कर ही नही सकते।

विश्व-साहित्य के अध्ययन मे सबसे पहली बात है कि पाठक अपनी रुचि का पता लगाय, उसको इस बात की खोज करनी चाहिए कि किस श्रेणी की रचना उस पर अधिक प्रभाव डालती है। इस मामले मे वह प्रेम-पथ का ही अनुसरण करे। अपने को जबरदस्ती एक रचना पढने मे लगाना, क्योकि वह रचना प्रसिद्ध है तथा उसको न पढने से लोगो मे हँसी होगी एक बेकार-सी बात है। इसके विपरीत हमे अध्ययन मे, ज्ञान मे तथा प्रेम मे ऐसी जगह से सूत्रपात करना चाहिए जो हमारे लिए स्वाभाविक हो। स्कूल के ही दिनो मे किसी लगता लडके को तो ललित पदयुक्त कविता भाती है किसी को इतिहास अच्छा लगता है, किसीको कुछ, और, सैकडो रुचियाँ है। रचना चाहे कितनी ही प्रसिद्ध हो जब हम उसे बरदाश्त नही कर रहे है, तो उसे भविष्य के लिए छोड रखना ही अच्छा है। फिर जब रुचि उस ओर हो, तो हम उसे पढ सकते है।

विश्व-साहित्य की विराटता को देखकर घबराना नही चाहिए, ऐसे-ऐसे पाठक है जो एक साथ एक दर्जन किताब पढते जाते है, अर्थात् एक को पढते-पढते जब थक गए तो विषय बदलकर कुछ दूसरा पढने लग जाते है। जिन्दगी भर ये लोग एक दर्जन पुस्तक पढने मे समर्थ होने पर भी उन पाठको से कही अच्छे पाठक होते है जो कि सैकडो पुस्तक पढ डालते है, किन्तु स्मरण कुछ नही रखते। शेषोक्त लोगो का पढना बेकार जाता है। रुचि के बिना अध्ययन, श्रद्धा के बिना ज्ञान तथा हृदय के बिना शिक्षा ये बाते बुद्धि-वृत्ति (Geist) के विरुद्ध जघन्यतम पाप है।

इसके माने ये हुए कि विश्व-साहित्य का सूचीपत्र तैयार करना बेकार है, हरेक को अपने लिए सूचीपत्र तैयार करना पडेगा, इसलिए हम यहाँ किसी रुचि-विशेष की परवाह न करके एक सार्वजनिक रूप से ग्रहण-योग्य सूची तैयार करेंगे। यह सूची तैयार करने मे एक बात बहुत सहायक होगी। आज जो प्रचलित है, कल उसका प्रचलन समाप्त हो सकता है, किन्तु जो पुस्तके कई शताब्दी पुरानी होने पर भी टिकी हुई है, अर्थात् प्रचलित है, उनको हम नि सन्देह रूप से इस सूची मे शामिल कर सकते है।

हम पहले प्राचीनतम तथा पवित्रतम धर्म-ग्रन्थो से आरभ करते है। बाईबल को तो सभी जानते है, हेरहेसे इसके बाद ही भारत की प्राचीनतम पुस्तक वेदो से सग्रह के रूप मे कुछ उपनिषदो को ग्रहण करते है। बुद्ध की वाणी का एक सग्रह भी इसके साथ सम्मिलित कर लिया जाय, साथ ही प्राचीन बैबिलोन के 'गिलगामेश' को हम भूल नही सकते, जिसमे कि उन प्रबल पराक्रान्त वीरो का वर्णन है जो मृत्यु से लड़ते है। प्राचीन चीन से हम कनफ्यूसियस

के वचन, लाओत्से का ताओ ते किंग तथा त्सुआँगत्से के दृष्टांत ( Gleichniss ) लेंगे। हमने ऊपर जिन पुस्तकों का नाम लिया, उन्हीं पर मुख्यतः समस्त मानव जाति के कानून आदि बने हैं। गूढ़ विचारों की ऊँची-से-ऊँची उड़ान, कविता का चरम उत्कर्ष, हमारे अस्तित्व पर सब तरह की कल्पना वहाँ से निकलती है।

मध्ययुग के प्राच्य साहित्य से हमें अद्भुत गल्प-संग्रह अलिफ लैला को अवश्य ही लेना पड़ेगा। इसका क्या कहना है। पृथ्वी की पुस्तकों में इसके समान गल्प शायद किसी में ही हो। सब जातियों ने ही सुन्दर गल्पों की सृष्टि की है, फिर भी हम इस जादूभरी पुस्तक को पहले ले रहे हैं। इसके बगल में ही अवश्य हम ग्रिमबन्धु के द्वारा संगृहीत गल्प-ग्रंथ को भी रख सकते हैं। फारसी कविताओं में से भी हम इस स्थान पर कुछ ले सकते हैं। किन्तु एक उमर खय्याम और हाफिज़ के अतिरिक्त शायद और किसी का अनुवाद न मिल सके।[1]

अब हम यूरोपीय साहित्य पर आते हैं। प्राचीन कविता के ऐश्वर्यमय जगत् से हम होमर के दोनों महाकाव्यों को लेंगे, इससे हम प्राचीन ग्रीस के समस्त वातावरण तथा गतिविधि से परिचित हो जायँगे। ग्रीस के दुःखान्त काव्य प्रसिद्ध हैं, हमें इसलिए इशिलस, सोफोक्लिस और यूरिपिडिस की रचनाओं को भी इसमें लेना पड़ेगा। इसके बाद जब हम ग्रीस के तत्त्वज्ञानियों की ओर मुड़ते हैं तो हम बड़ी पशोपेश में पड़ जाते हैं, फिर भी हमें सुकरात की यत्र-तत्र बिखरी हुई वाणी को लेना पड़ेगा, क्योंकि वे कदाचित् ग्रीस के सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्ववेत्ता हैं। जैनोफोन तथा अफलातून के लेखों से ही हमें उनकी वाणी का उद्धार करना पड़ेगा। यदि कोई ऐसी पुस्तक होती जिससे सुकरात की सब वाणियों का सम्पूर्ण तथा ढंग से संग्रह होता तो अच्छा होता। जिन तत्त्ववेत्ताओं ने किसी दर्शनविशेष का प्रतिपादन किया है हम उनमें से किसी को इस पुस्तकालय में स्थान नहीं देंगे। बल्कि हम एरिस्टोफेनिस को लेंगे जिनकी हास्यरसात्मक रचनाये यूरोप के हास्यरस के लेखकों के लिए रास्ता दिखाने वाली रही है। प्लुटार्क की भी कम-से-कम दो रचनायें हमको लेनी पड़ेंगी, वीरों की जीवनी लिखने में वे सिद्धहस्त रहे हैं। इसके साथ लुकिग्रान को भी नहीं भूलना चाहिए, वे विद्रूपात्मक कहानियों के धुरंधर लेखक हैं।

रोमनों में काव्य-लेखकों से इतिहास-लेखकों का अधिक बोल-बाला रहा

[1] हिन्दी में तो बहुत और कवितायें भी मिलेंगी जैसे-गुलिस्ताँ आदि।

है। फिर भी हम होरेस, वर्जिल, ओविड तथा टैसिटस को लेगे । साथ मे सुएटोन तथा पैट्रोनियस का सैटिरीकोन को लेना जरूरी है। सैटिरीकोन मे नीरो के समय का अच्छा दिग्दर्शन है, इस ग्रथ का यदि पूरक ग्रथ कोई है तो एपेल्यूस का 'सोने का गधा' है। रोम साम्राज्य के पतन-काल का इन दो पुस्तको मे बडा मनोग्राही चित्रण है।

मध्ययुग मे, जिसको कि कुछ हद तक लोग अन्धकार का युग कहते है सबसे पहले हमारी आँख डाण्टे की 'ईश्वरीय कामेडी' पर पडती है। इसको इटली के बाहर कुछ विद्वान् लोग ही पढते है, किन्तु इसके प्रभाव की छटा बडी सुदूर विस्तृत है, ऐसी पुस्तक शताब्दियो मे ही नही दस-दस शताब्दी मे एक दो ही लिखी जाती है।

प्राचीन इटालियन साहित्य मे से बोक्कासिओ की "डेकामेरोन" नामक पुस्तक को हम अवश्य लेगे। यूरोप की कहानी-लेखन-कला का यह सबसे पहला महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। बहुत से नीतिवादी इस पुस्तक पर बहुत एतराज करते है, इसकी भाषा बड़ी सजीव है, और बार-बार इसका विभिन्न भाषाओ मे अनुवाद हो चुका है। बोक्कासिओ की पुस्तक इतनी सफल रही कि इसके सैकडो अनुकरण लिखे गये और प्रकाशित हो चुके है, किन्तु कोई भी अनुकरण इसकी ऊँचाई तक नही पहुँच सका। बाद को यूरोप मे जो कथा-साहित्य की अद्भुत उन्नति हुई उसका सूत्रपात यही से हुआ।

इटली के पुनरुज्जीवन-युग के कवियो मे हम एरिओस्टो को नही छोड़ सकते, उसकी जादूबयानी अब भी ताजी है। इसके भी सैकडो अनुकरण हुए। इन अनुकरणकारियो मे कदाचित् सबसे प्रमुख तथा सफल विलाड (जर्मन) है। पेट्रार्क के सनेट भी इस सिलसिले मे लिये जा सकते है, सनेटो मे तो वे आदर्श है। माइकेल एजोले ने थोडी-सी कविता लिखी है, थोड़ी होने पर भी ये कविताएँ अपने युग मे एक विशेष स्थान रखती है। इटली के पुनरुज्जीवन-युग का ठीक-ठीक सजीव चित्रण करने के लिए हम बेनेवेनुटो चेल्लिनि ( Benevenuto Cellini ) की आत्मकथा को लेगे। बाद की इटालियन कविता भी बहुत थोडी ही हमारे पुस्तकालय मे स्थान पा सकती है, फिर भी गोल्डोनि ( Goldoni ) के तीन दुखान्त नाटक, गोज्जि ( Gozzi ) की कहानियाँ तथा उन्नीसवी शताब्दी के लिओपाडि तथा कारडुक्कि (Carducci) की रचनाओ को हम छोड़ नही सकते।

मध्ययुग के फ्रास मे फ्राँसोया विलं (Francois Villon) नामक एक शक्तिशाली कवि हुआ है, जिसकी कविताओ मे कुछ अजीबपन की पुट होते

हुए भी वे अतुलनीय है। फ्रेंच-साहित्य मे जब हम और आगे बढते है, तो हमे बडे-ही-बडे लेखक तथा कलाकार नजर आते है। Montaigne का लिखा हुआ निबन्ध-ग्रन्थ तो हमे चाहिए ही, और फिर राबले का Gartgantua और Pantagruel, पास्काल के विचार तथा 'जैसुइट पत्र' भी चाहिए। राबले परिहास-रसिको के शिरोमणि है, तो पास्काल एकदम कृच्छ्रवादी विचार के है। Corneille का Cid तथा Horace और रासिन का Phaedra एव Athalie सर्वोत्कृष्ट ग्रथ है। पूर्वोक्त लेखकगण फ्रेच रगमच के पिता है। इसके बाद ही हम मौलियर को लेगे जिनमे कि विद्रूप करने की कला परा-काष्ठा तक पहुँच गई है। लाफोतेन की कहानियो को तथा फैनेलो (Fenelon) की Telemach नामक पुस्तक को हम इस पुस्तकालय मे रख तो लेगे किन्तु उन्हे शायद ही कभी पढे। इसके बाद ही वालटेयर आते है, जो गाडियो पुस्तको के लेखक थे, प्रश्न यह है कि हम उनमे से क्या-क्या ले। फिर भी उनके बोलते हुए गद्य मे से हम कुछ-न-कुछ लेना चाहेगे। हम इसलिए उनकी Candide तथा Zadig नामक पुस्तको को चुनते है, बहुत दिनो तक इनका ललित व्यग फ्रेच प्रतिभा क्या हो सकती है इसके नमूने के रूप मे उपस्थित किया जाता था। वालटेयर के अतिरिक्त भी कुछ बडे फ्रेच लेखक हुए है। हम उनमे से बोमार्शे का Figaro तथा रूसो की 'आप बीती' लेगे। यहाँ पर हम भूल गए कि हमे लसाज ( Lesage ) की Gil Blas नामक पुस्तक तथा आबे प्रिवोस्ट की Manon lescant भी लेना चाहिए था।

Gil blas तो गुण्डो के विषय मे उपन्यास है, और हमारे जासूसी उपन्यासो का पूर्वपुरुष है। प्रिवोस्ट की पुस्तक एक सुन्दर प्रेमोपन्यास है।

इसके बाद फ्रेच रोमाटिक साहित्य आता है, किन्तु इसकी अलमारियाँ इतनी खचाखच भरी हुई है, तथा उनमे इतने नाम है कि हम बिलकुल चका-चौध हो जाते है। हमारी समझ मे नही आता कि क्या ले और क्या छोड दे। इसलिए हम केवल उन्ही को लेगे जो कि एक विशेष शैली मे लिखे हुए है। जैसे कि स्टेण्डहाल का 'लाल और काला' और पार्मा का 'तासखाना' है। बोदलेर का कविता ग्रथ Les fleurs dumal भी इसी श्रेणी मे आते हैं। स्टेण्डहाल तथा बोदलेर के साथ ही हम गोतिय ( Gautier ) म्युसे ( Musset ) तथा Murger को लेगे।

इसके बाद ही बालजाक का नम्बर आता है, जिसके उपन्यासो मे चार-पाच अवश्य ही लिये जायें। बालजाक के ग्रथ Goriot, Eugene grandet" ,तीस वर्ष की महिला' ये किताबे विशेष अच्छी है। बालजाक की इन पुस्तको

मे तथ्य-ही-तथ्य भरे हुए है । इन तथ्य-बहुल ग्रथो के साथ-साथ हम मेरिमे की भाव-बहुल सुन्दर कहानियो को तथा फ्लोबेर Flaubert की Madame Bovary और Education sentimentale लेगे। इसके बाद ही हम जोला की Lassomoir तथा 'पुरोहितो के पाप' नामक पुस्तक को लेगे अवश्य ही इस सिलसिले मे हम मोपासाँ की कहानियो को लेगे । इसके बाद ही हम आधुनिक साहित्य की सीमा मे पहुँच जाते है ।

अग्रेजी साहित्य मे हम चासर को Canterbury tales से आरम्भ कर सकते है, जो कि कुछ हद तक बौक्कासिओ से लिया गया है, किन्तु इसकी शैली मे एक नयापन है । चासर प्रथम अग्रेज कवि समझे जाते है । इसके बाद ही हम शैक्सपीयर की रचनाओ मे से कुछ ही नही बल्कि सभी लेगे । कुछ लोग मिलटन के Paradise lost का उल्लेख बडी नाक-भौ सिकोडकर करते है, किन्तु क्या इन लोगो मे से किसी ने इसको पढा है ? नही । चेस्टरफील्ड ने अपने पुत्र को जो पत्र लिखे है, वे कोई धार्मिक उपदेश से भरे नही है, उसमे तो विषय-बुद्धि का ही उन्मेष होता है, किन्तु हम उसे भी लेगे । कुछ-विषय-बुद्धि भी होनी चाहिए ।

'गलिवर' के लेखक स्विफ्ट की भी कुछ रचनाओ को क्या हम सभी लेते है, उनके विशाल हृदय, तीव्र व्यग तथा सहृदयता से उनकी खामख्याली ढक जाती है । डेनियल डिफो की 'राबिन्सन क्रूसो' नामक पुस्तक को हमे लेने की आवश्यकता नही । वह तो हमारे पुस्तकालय मे पहले से ही मौजूद होगी, भला कौन सा ऐसा लडका होगा जिसने कि अपने स्कूली दिनो मे इसे चाव से न पढा हो । हाँ, हम चाहे तो डिफो का 'मोल फलौबेरस की कहानी' ले सकते है, किन्तु उसमे वह मजा नही । फिल्डिग (Fielding) का टाम जोन्स, तथा स्मोलेट का The adventures of Peregrine Pickle को हम लेगे, कितु लारेन्स स्टार्न (Lawrence Sterne) का Tristram Shandy और Sentimental journey को भी लेना आवश्यक है । शेषोक्त दो पुस्तको मे अँग्रेज जीवन का जीता-जागता चित्र हमारे सामने आयगा । शेली तथा कीट्स की कविताओ को हम नही भूल सकते, गीतिकाव्यो मे इन रचनाओ से सुन्दर शायद कुछ नही है । बाइरन का व्यक्तित्व एक अद्भुत व्यक्तित्व था, हम उस पर चाहे जितना हैरान हो हमारे मतलब के लिए उनकी किसी एक पुस्तक ले लेना ही अच्छा होगा, सबसे अच्छा तो हो कि हम उनकी Childe Harold नामक पुस्तक ले । वाल्टर स्काट के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासो मे से हम Ivanhoe को ले ले तो अच्छा रहेगा । De Quincey की चटखती हुई

पुस्तक 'अफीमची के चोचले' पुस्तक को भी हमे लेना पडेगा। मैकेले भी एक अजीब निबन्ध-लेखक हुआ है, उसकी रचनाओ मे से एक पुस्तक देखने लायक होगी। कभी-कभी लच्छेदार बाते भी अच्छी लगती है, चाहे उनमे कुछ भी तत्त्व न हो। कार्लाइल की भी दो पुस्तके Sartor Resartus और Herocs ले लेने से हम एक महान् अँग्रेज की विचार-धारा की विस्मृति तथा गहराई से परिचित हो जायँगे। थैकरे का "Vanity fair" तथा The book of Snobs एक विशेष शैली मे लिखी रचना हुई है।

इसके बाद डिकेन्स को लिया जाय, वे शायद अँग्रेज उपन्यासकारो मे सबसे कल्पना रूपी ऐश्वर्य से युक्त साथ-ही-साथ सहृदय भी है, कम-से-कम उनके दो उपन्यासो को अर्थात् Pickwick Papers और 'डैविड कॉपरफील्ड' हमे लेना चाहिए। डिकेन्स के बादवालो मे मेरेडिथ हमे महत्त्वपूर्ण जान पडता है, याने इसका Egoist तथा The ordeal of Richard Freveral हम लेगे। स्विनवर्न की कुछ कविताएँ भी हमे लेनी चाहिए, यद्यपि यह बात है कि अनुवाद मे उसका मजा बहुत-कुछ बिगड जायगा। ग्रास्कर वाइल्ड की भी दो-एक रचनाएँ हमे लेनी चाहिएँ, Dorian Grey और कुछ निबन्धों को लेना ही यथेष्ट होगा। अमरीकन साहित्य भी कुछ होना चाहिए, अच्छा पो (Poe) की एक पुस्तक ले ली जाय, पो झुँझलाहट तथा आतंक का कवि है। वाल्ट ह्विटमैन की करुण कविता भी देखने लायक है।

स्पेन के साहित्य मे से हम सरवातस (Cervantes) के 'डान क्विक्साट' को चुनते है, यह पुस्तक केवल एक अनहोनी रचना ही नही बल्कि सर्वकाल के साहित्य मे भी एक दुष्प्राप्य चीज है। इस पुस्तक का नायक, जो कि सर्वदा भूत-प्रेतो से एव सर्वप्रकार की अलाय-बलाय से लडता हुआ नजर आता है, तथा उसका जोडा साको विश्व-साहित्य मे दो अमर आकृतियाँ है। हम उन्हे कभी भूल नही सकते।

इसके बाद हमे स्पेन के साहित्य मे से एक ऐसे उपन्यास को चुनना चाहिए जिसमे कि स्पेन के उस युग का साहित्य धनी मालूम देता है। हम Quevedo Villegas का Poblo Segovia चुनते है। फ्रेंच-साहित्य के सिलसिले मे हम एक पुस्तक Gil Blas का नाम ले चुके हैं, किन्तु स्पेन की ये पुस्तके उसकी दादी है। उपरोक्त पुस्तक मे बार-बार नायक की जान जोखिम मे पडती है, साथ-ही-साथ उसमे हास्य रस की प्रचुरता है। स्पेन नाटककारो का भी घर है, हम वहाँ से काल्डरन को चुनते है।

हमे और भी बहुत से साहित्यो से चुनना है, उदाहरणत 'फलेमिश तथा

नेदरलैंड के साहित्य से भी कुछ चुनना है। इनमे से हमें कोस्टर (Coster) के Tyl Ullen Speget और Multatuli का Max Haveller चुनते है। कोस्टर की कहानी एक तरह से डान क्विक्साट का छोटा भाई है, और फलेमिश जाति का एक महा ग्रथ है। हावेलार नामक ग्रथ मेर्टिरेर्स मुल्टाटुलि की सर्वोत्तम रचना है, मुल्टाटुलि ने अपने जीवन के दस साल तक शोषित मलायी जाति के लिए युद्ध किया था।

यहूदियो का न तो कोई एक मुल्क है और न कोई एक भाषा। फिर भी उनकी प्रतिभा की उपज चारो तरफ बिखरी हुई है, इनमे से कुछ ऐसे है जिनको हम इस अवसर पर भुला नही सकते। स्पेनवासी यहूदी येहूदा हालेवि (Jehúda Halwey) के लिखे हुए धर्मगानो को तथा कविताओ को हम पसन्द करेगे। मार्टिन बूबेर ने कुछ पुस्तको का बडा मनोज्ञ अनुवाद किया है।

नोर्डिक लोगो के साहित्य से हम 'प्राचीन एड्डा की कविताएँ' तथा 'आइसलैंड के सागा' को लेगे। नवीन स्कडिनेवीय साहित्य से हम अडेर्सन की कहानियो को, याकोबसेन की कहानियो को, इबसेन की कुछ उत्तम किताबो तथा स्ट्रिन्डबेर्ग की कुछ रचनाओ को लेगे, यद्यपि अन्तिम दो लेखको का अब कुछ रिवाज उठता-सा जा रहा है।

इधर का साहित्य बडा ऐश्वर्यशाली है। रूस का पुश्किन तो ऐसे लेखको मे समझा जाता है, जिसका कि अनुवाद ही नही हो सकता। हम इसलिए गोगोल की 'मृत आत्माओ' से आरम्भ करेगे, फिर टुर्गेनेफ के 'पिता और पुत्र' को लेगे, यद्यपि इस महा ग्रथ को लोग अब कुछ भूल चुके है। गोन-चारीफ का 'ओबलोमोफ' भी हम अवश्य इस सिलसिले मे लेगे। अब हम टालस्टाय पर आते है। टालस्टाय ने अपने जीवन मे सुधारक का पार्ट इतना खेला कि लोग उनकी कला-कृतियो को भूल गए है फिर भी वे एक बडे भारी कलाकार है। हम उनके 'युद्ध और शाति' तथा 'आना कारेनिना' नामक पुस्तको को अवश्य लेगे। यह "युद्ध और शाति" नामक पुस्तक कदाचित् सबसे सुन्दर रूसी उपन्यास है। इन उपन्यासो को लेने से ही हम टालस्टाय की प्रतिभा से परिचित हो जायँगे, किन्तु फिर भी हम उनकी कहानियो को लेगे, उनमे कुछ लोकोत्तर विशेषता है। बाकी रह गये डोस्टोइएस्कि, सो उनके ग्रथो मे से "कारामासौफ" "रास्कोलनिकौफ" तथा "मूर्खगण" नामक पुस्तक लेते है।

अब हम चीन से रूस तक, तथा अति प्राचीनकाल से प्राय आधुनिक काल तक समस्त साहित्य का दौरा कर चुके, इस दौरे मे हमें बहुत सी

जातियो का तथा बहुत से देशो का दौरा करना पडा। अब हम जर्मन साहित्य को लेते है।

लूथर की लिखी हुई जर्मन-बाइबल पहली पुस्तक है जो जर्मन भाषा मे विशेषकर स्थान रखती है। प्रतिसुधार ( Gegenreformatın ) के युग मे ब्रेस्लाउ नगर मे एक कवि पैदा हुआ, जिसका नाम Angelus Silesius है। इनकी पुस्तक Cherubinische wandersmann नामक कविता-ग्रथ को भी हम लेते है, मौलिकता तथा ताजगी मे यह पुस्तक एक ही है। इसी सिलसिले मे हम Chr. Renter की Schelmuffsky नामक हास्य-रसात्मक पुस्तक लेते है। 'बैरन मुनखाउसैन के कारनामे' नामक हास्य-रसात्मक पुस्तक भी अपने ढग की एक ही है।[1] बावन गज की बातो का नमूना इससे बढकर कहाँ मिलेगा। फिर भी हम यदि गौर से देखेगे तो मुनखाउसेन हमारी चारो ओर मिलेगे।

इसके बाद ही हम प्राचीन साहित्य को पार करके अर्वाचीन साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करते है।

पहले ही हम लैसिग (Lessing) की रचनाओ को लेते है, कुछ लोगो की तो यह धारणा है कि लैसिग की तरह समालोचक नही होते तो जर्मनी मे जो बाद को प्रतिभा की बाढ-सी आई थी वह न आती। क्लोफस्टोक की हम किस कृति को ले ? हम यदि उनके odes ले ले तो काफी हो जायगा। हेर्डर को तो लोग भूल से गए है, किन्तु यदि यत्र-तत्र हम उनकी कविता मे गोता लगावे, तो हमारे हाथ मे गाहे-बगाहे मोती लग जायगा, इसमे सन्देह नही।

Wieland लिखित Oberon ले लेने मे ही हमे उनका रस मिल जायगा। इतने ही से हमे इस सहृदय, हास्य-रसिक, प्राचीन तथा फ्रेंच साहित्य मे निष्णात (स्पष्टता का भक्त किन्तु इतना नही कि कल्पना को तिलाजलि दे दे ) लेखक का परिचय मिल जायगा।

इसके बाद हम कवि-शिरोमणि गेटे के पास आते है। यहाँ उञ्छवृत्ति से काम नही चलेगा, बल्कि गेटे की हमे सभी पुस्तके लेनी पडेगी। हमे गेटे

---

१ हमारे पास लंदन की Media Society द्वारा प्रकाशित The Surprising adventures of Baron Munchausen नामक पुस्तक है। इसके भूमिका-लेखक Thomas Secoonbe नामक सज्जन बहुत से प्रमाण देकर यह दावा करते है कि यह पुस्तक मूल मे अंग्रेजी में लिखी गई थी। वह भी इतना मानते है कि यह अंग्रेज की लिखी हुई पुस्तक नही है, पुस्तक के नायक का नाम तो जर्मन है ही।

मे प्रतिभा की पराकाष्ठा मिलेगी, जिसके आगे शायद किसी का जाना संभव नही। गेटे की रचनाओ के साथ-साथ गेटे के जीवन-चरित्र के सम्बन्ध मे जो कुछ हमे मिल सके वह हमे बटोर लेना चाहिए, गेटे का जीवन स्वय किसी काव्य से कम ललित नही है। गेटे तथा एकेरमैन की बातचीत, तथा शिलेर और फ्राउ फान स्टाइन से गेटे का जो पत्र-व्यवहार हुआ वह भी इस सम्बन्ध मे ले लिये जायँ।

शिलेर की हम सब पुस्तके तो नही लेगे, किन्तु उनका व्यक्तित्व इतना प्रकाड है, तथा उनकी प्रतिभा इतनी उदार है कि हमे मालूम होता है कि विश्व-साहित्याकाश मे वे हमेशा चमकते रहेंगे। किसी एक खास आन्दोलन की वजह से सभव है वे कभी जरा नीचे दब जाय, किन्तु शीघ्र ही फिर चमकने लगेगे।

इसके बाद ही हमारी दृष्टि जर्मन प्रतिभा के एक सबसे उत्कृष्ट नमूने gean Paul Richter पर पडती है। ललित छलकते हुए गद्य के वे जादूगर है। उनकी सभी पुस्तके हम लेना चाहेगे, किन्तु यदि कोई जल्दी मे है तो Titan आदि दो-तीन ग्रथ लेकर सन्तुष्ट रह सकता है।

हेलडेरलिन ( Holderlin ) के बहुत से सस्करण है, हम उनमे से किसी एक को ले लेते है, कभी-कभी हम उसे उठाकर इस कवि की जादूबयानी के जौहर को प्रत्यक्ष करेगे। नोवीलिस और ब्रेण्टानी तो जैसे एक ही वृक्ष के दो फूल है, इनकी कहानियो को लोग अभी तक चाव से पढते है, किन्तु इनकी कविता के सगीत का बहुत थोडे ही लोगो ने पता पाया है। ब्रेण्टानो ने आर्निम के सहयोग से लोक गीतो का ( Volkslied ) बडा मनोज्ञ सग्रह किया है। आर्निम स्वय भी बडे अच्छे कहानी-लेखक थे। टीक ( Tieck ) के लिखे हुए कुछ गल्पग्रथ हम लेगे, जर्मन रोमेस का अच्छा ज्ञान उनसे हो जायगा।

हाइनरिख् फान क्लाइष्ट्स की सभी रचनाओ से हमे प्रेम है, नाटक, गल्प निबन्ध, वृत्तान्त। इनकी प्रतिभा तो अभी कुछ दिनो से लोगो पर खुलने लगी है। Chamisso, आईखेनडोर्फ, होफमान, हाउफ इन सबकी एक एक रचना हमारे पुस्तकालय में होनी चाहिए। फिर ऊलॉड (Uhland) की तथा लेनाऊ की कविता भी कुछ-कुछ जबान बदलने के लिए अच्छी रहेगी।

अब मै विश्व-साहित्य का दौरा कर चुका। जब मै अपने किये हुए काम पर नजर डालता हूँ तो यह बात नही कि मै अपनी अपूर्णता का अनुभव नही करता हूँ। क्या यह उचित होगा कि हम विश्व-साहित्य-पुस्तकालय मे बैरन

मुनखाउसेन के कारनामे नामक पुस्तक को तो स्थान दे किन्तु भारतवर्ष की भगवद्गीता को छोड दे ? ऐसे ही पंचतन्त्र, चीनी इगि आदि कितनी ही पुस्तके छोड दी गई है ऐसा दिखाया जा सकता है। इस तरह से मैने यह जो तालिका बनाई है वह बिलकुल व्यक्तिगत (Subjective) तथा खामख्याली से पूर्ण मालूम होगी, किन्तु इसके अतिरिक्त हो ही कैसे सकता है ? सम्पूर्ण रूप से वस्तुगत (Objective) तालिका कैसे बन सकती है। वैसा करने के लिए हमे चाहिए कि हम लडकपन मे पढे हुए सब लेखको को भूल जायें, फिर सब साहित्यो को पढना शुरू करे, और इस प्रकार विश्व-साहित्य के सम्बन्ध मे धारणा बनावे। मै कहता हूँ इसके लिए जीवन बडा छोटा है। यह बात तो सिद्ध ही है कि मै एक कविता को शैशव से सुन रहा हू, उसके शब्द शब्द का रहस्य मुझ पर खुल गया है, उसकी ध्वनि मात्र से मेरे हृदय का रक्त विचलित होने लगता है, अवश्य ही वह कविता मुझे उसके जोड की संस्कृत कविता से अच्छी लगेगी जो कि मुझ तक किसी अनुवादक के मटियामेट कर देने वाले हाथ से पहुँचेगी।

ऐसा भी तो हो रहा है कि हम आज ऐसे कवियो का सम्मान कर रहे है जो कि बीस साल पहले गर्द के नीचे पडे थे। ऐसे ही क्या पता हम आज जिन कवि तथा लेखको की बलैयां लेने को तैयार है, उनकी रचनाओ को हमारे वंशजगण मसाला बाँधने में इस्तेमाल करे। यह कहना कि ऐसा नही होगा, मानव-रुचि की परिवर्तनशीलता से अनभिज्ञता जाहिर करना है। इसीलिए मैंने पहले ही कह दिया कि जो लेखक तथा कवि समय की कसौटी पर खरे उतर चुके है, उनको हम निःसन्देह रूप से अपनी तालिका के अन्तर्गत रख सकते है। एक मजे की बात और भी है कि हमारे पूर्व पुरुष एक कवि को उच्चकोटि का समझते थे और हम भी समझते है, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि हम एक ही कारण से या एक ही दृष्टि से उनकी कद्र करते है, सम्भव है कि हम बिलकुल विभिन्न यहा तक कि विपरीत कारण से उसकी कद्र करते है ?

बुद्धिमान पाठक ने यह भी खयाल किया होगा कि हमने इस तालिका मे मिश्र के बारे मे कुछ भी नही कहा, तो क्या मिस्र की प्राचीन सभ्यता ने हमारे लिए कोई भी पुस्तक नही छोडी ? मुझे स्मरण होता है कि मैने मिस्र के बारे मे कुछ साहित्य पढा है, उसमे मिस्री किसी-किसी वाक्य इत्यादि का अनुवाद भी दिया है, किन्तु मै उन्हे, यदि वे कही एकत्र उपलब्ध भी हो तो, विश्व-साहित्य की चीज नही समझता। फिर भी मिस्र की सभ्यता के हम इतने कायल है

इसकी वजह यह है कि कि ग्रीक लेखकों से विशेषकर हेरोडोटस से हमें उनका विवरण प्राप्त होता है।"

हेरमान हेसे का वक्तव्य हम अपने शब्दों में दे चुके। हेर हेसे ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि उनकी तालिका अपूर्ण है, किन्तु उन्होंने जिस कारण से उसे अपूर्ण बतलाया है हम केवल उस कारण से या उन कारणों से उसे अपूर्ण नहीं समझते। मेरी समझ में विश्व-साहित्य से मतलब सब देशों का थोडा-थोडा प्रतिनिधित्वमूलक साहित्य नहीं है, विश्व-साहित्य तो एक स्टैंडर्ड है, एक गुण न कि एक परिमाण।

विश्व-साहित्य के एक चयन में यह आवश्यक नहीं कि सभी जाति तथा सभी भाषाओं का साहित्य उसमें आ जाय, सम्भव है कि एक ही देश के लेखक उसमें आयें। यदि कहा जाय कि दुनिया के बडे पहलवानों के नाम गिनाओ तो यह आवश्यक न होगा कि उसमें हरेक जाति का कोई-न-कोई प्रतिनिधि आ ही जाय, सम्भव है कि सब बडे पहलवान एक ही देश में हो तो उस हालत में और देशों का क्या जिकर?

हेर हेसे ने जो तालिका दी है वह विश्व के देशों के प्रतिनिधि साहित्य की हैसियत से (Representatıne of all countreıs) भले ही सम्मान करने योग्य हो। किन्तु वह विश्व-साहित्य की तालिका हर्गिज-हर्गिज नहीं है। इसमें हेर हेसे ने बहुत से ऐसे लेखकों के नाम गिनाये हैं जिनको हम विश्व-साहित्यिक नहीं मान सकते। हेर हेसे ने वेद, तथा कानफ्यूसियस के वचन को भी इस तालिका के अन्तर्भुक्त किया है, इससे हमें यह समझ में नहीं आता कि साहित्य शब्द से वे कितना और क्या लेते हैं।

हम साहित्य शब्द से केवल सुकुमार साहित्य लेंगे। इस दृष्टि से भी हेसे की इस तालिका को up-to-date करने की चेष्टा करेंगे। हम इस समय इस काम में किसी पद्धति का अनुसरण नहीं करेंगे। जैसे-जैसे जो बात स्मरण होती जायगी हम लिखते जाएँगे।

यदि हम यह गिनाने लगें कि हेसे ने जो-जो नाम गिनाये हैं, उनमें कौन-कौन से नाम विश्व-साहित्य की तालिका से निकाल दिए जाय तो हमारा काम बहुत बढ जायगा, इसलिए हम वैसा नहीं करेंगे। अवश्य ही हम गेटे, शिलेर, डाण्टे, वर्जिल, होमर, रिखतेर, शेली, कीट्स, बायरन, रासिन, एरिओस्टो आदि को विश्व-साहित्यिक समझते हैं, किन्तु औरों के बारे में पूरा सन्देह है। हेर हेसे ने जिस युग तक का विवरण दिया है उसी युग के अन्दर वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, विक्टर ह्यूगो इत्यादि का नाम न होना बहुत खटकता है।

यहाँ पर एक दिलचस्प प्रश्न यह होगा, क्योंकि यह लेख हिन्दी-भाषियो के लिए लिखा जा रहा है, कि क्या हिन्दी-साहित्य के किसी प्राचीन कवि को अथवा सस्कृत के अतिरिक्त किसी भारतीय भाषा के प्राचीन कवि को विश्व-साहित्य मे स्थान नही दिया जा सकता ? मै हिन्दी के प्राचीन साहित्य से तथा बगला के प्राचीन साहित्य से खूब परिचित हूँ, अन्य भारतीय साहित्यो का पता भी कुछ है, किन्तु मेरा यह सुचिन्तित मत है कि हिन्दी, बगला, मराठी आदि के प्राचीन कवि कभी-कभी विश्व-साहित्य की उच्चता तक उडान भरने मे समर्थ होने पर भी, जैसा कि सभी अच्छे कवि होते है, हम उनमे से किसी को विस्तार तथा गहराई दोनो दृष्टि से विश्व-साहित्य के अन्तर्भुक्त नही मान सकते। मेरी निजी जान मे भारतीय प्राचीन कवियो मे मौलिकता याने सस्कृत-साहित्य से मुक्ति की दृष्टि से कबीर सबसे अधिक विश्व-साहित्य के निकट पहुँचते है। उनकी प्रतिभा मे जितनी मौलिकता, ताजगी तथा क्रातिकारित्व है, उतना किसी मे नही। मै जानता हूँ मेरे इस अभिमत को पढकर हिन्दी के अगडधत पडितगण नाक-भौ सिकाडेगे और शायद यह भी फतवा दे कि मै हिन्दी-साहित्य के विषय मे कुछ भी नही जानता, किन्तु फिर भी मै अपने मत पर दृढ हू। इस सम्बन्ध मे इतना कह देना शायद अप्रासगिक न होगा कि कवीन्द्र रवीन्द्र ने जब एक जमाने मे हिन्दी-साहित्य पर अपना ध्यान दिया था तो उन्होने कबीर की ही कविताओ को अग्रेजी मे अनुवाद करके विश्ववासियो के सम्मुख रखा था। अस्तु।

अब हम आधुनिक युग पर आते है। भला जिस तालिका मे आनातोल फ्रास,रोम्याँ रोला, गैल्सवर्दि,बर्नार्डशा,गोर्की रवीन्द्रनाथ आदि न हो वह तालिका सम्पूर्ण कैसे हो सकती है, इसके अतिरिक्त सिक्लेयर लुईस, आदि कितने ही लेखक इस युग मे है। क्या रवीन्द्रनाथ के अतिरिक्त और भी कोई भारतीय है जिसको हम विश्व-साहित्य मे स्थान दे सकते है ? हाँ। वह कौन है ?" वे है मुहम्मद इकबाल। रह गए शरत् शटर्जी और प्रेमचन्द, हम इनके विषय मे इतना ही कह सकते है कि इनसे कम प्रतिभाशाली कई पाश्चात्य लेखक विश्व-साहित्य से अन्तर्भुक्त समझे जाते है।

१२

# आधुनिक बंगला-उपन्यास

रवीन्द्रनाथ तथा शरच्चन्द्र के जीवन-काल म ही इस बात का आदोलन शुरू हो गया था कि बगला-उपन्यास को इन दो महारथियो की प्रतिभा के क्षेत्र से मुक्त करके बाहर लाया जाय। इस सम्बन्ध मे भाषा तथा रचना दोनो दृष्टियो से नवीन प्रयोग शुरू हो गए थे। फिर भी एक तो प्रतिभा के इन वर-पुत्रो की जकड से उपन्यास-साहित्य को मुक्त करना टेढी खीर थी, और दूसरे जिन लोगो ने इस काम को उठाया, उन्होने यूरोपियन, विशेषकर नार्वेजियन उपन्यासकारो का अनुकरण किया, इसलिए इनके प्रयासो से तत्काल ही कोई युगान्तरकारी नतीजे नही निकले। रवीन्द्रनाथ के उपन्यास मुख्यत. बिलकुल रूढिवादी तो नही पर नैतिक वातावरण को लेकर चलते थे। शरच्चन्द्र मे ऐसा कोई बधन नही था, फिर भी ऊपर से वे बधनहीन होने पर भी भीतर से प्राचीन मान्यताओ को सम्मान की दृष्टि से देखते थे इसमे कोई सन्देह नही।

पर इन नये उपन्यासकारो ने प्रयोग शुरू किये, उन्होने इबसेन, क्नुट हैमसुन, चेखाफ, डोस्टौईयफस्की, टुर्गेनिव आदि लेखको को आदर्श मानकर एक नवीन शैली की सृष्टि करनी चाही। इनके प्रयास किसी भी क्षेत्र मे पूरे तरीके से सफल नहीं हुए, पर इस असफलता मे ही इन्हे कई तरह की नई शैली सृष्टि करने की सफलता मिली और बगला-उपन्यास-साहित्य मे एक नवीनता का सचार हुआ।

असहयोग के युग मे कलकत्ता की हरिसन रोड की एक छोटी-सी गली से 'कल्लोल' नाम की चार आने मूल्य की एक कहानी-पत्रिका निकाली गई। इसके इर्द-गिर्द जो लोग थे वे विशेष विचार रखते थे, और इस प्रकार से 'कल्लोल' एक कहानी-पत्रिका न रहकर एक आन्दोलन के रूप मे हो गई। दुख है कि इसके पुरोधाओ मे गोकुलचन्द्र नाग एक दीर्घ उपन्यास और कुछ कहानियाँ लिखकर ही चल बसे। पर इसके सम्पादक दिनेशरजन दास ने नवीन लेखको को एकत्र किया; और सच तो यह है कि बगाल के इस समय के करीब-करीब

सभी अच्छे उपन्यासकारें 'कल्लोल' के इर्द-गिर्द जमा हो गए। 'कल्लोल' के दफ्तर मे लोग चिल्ला-चिल्लाकर रूसी और स्केण्डिनेवियन साहित्य पढते थे। रवीन्द्र और शरत् से बचने की कोशिश करते हुए भी इनमे से प्रत्येक रवीन्द्र और शरत्-साहित्य को हिफ्ज किये हुए थे। इन लोगो के विचार बहुत स्पष्ट नही थे, पर वे कुछ-न-कुछ कोलाहल, सग्राम, प्रतिवाद यहाँ तक कि विद्रोह चाहते थे। इस गुट के 'कल्लोल' नाम से ही यह ज्ञात होता है कि वे किस प्रकार से लक्ष्य के सम्बन्ध मे अज्ञ तथा अमनोयोगी होते हुए भी कुछ उफान, प्रतिवाद विद्रोह चाहते थे। रवीन्द्रनाथ तक इनकी खबर पहुँचती रहती थी, और वे परेशान थे कि ये नवीन लेखक अपने कर्तव्य को समझ भी रहे है या नही। मानो इसी घबराहट चिता तथा एक प्रकार से पथ-प्रदर्शन के लिए रवीन्द्रनाथ ने इन्ही दिनो 'शेषेर कविता' नामक उपन्यास लिख डाला। यह उपन्यास इन आधुनिक लेखको को मानो चुनौती देकर यह कह रहा था कि तुम्हे इस काम को इस ढग से करना ही है तो यो करो। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि एक बार उल्टी गगा बही और कल्लोल-गुट के लोगो का रवीन्द्रनाथ पर असर पडा। इस उपन्यास का कल्लोल-गुट के लोगो पर यह असर पड़ा कि वे अवाक् होकर कह उठे, 'अरे हम ऐसे ही तो लिखना चाहते थे।' इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने फिर एक बार अपने इन विद्रोही शिष्यो को अपने जाल मे डालकर समेट लिया। तथ्य तो यह है कि केवल इसी मामले मे नही इसके बाद भी रवीन्द्रनाथ जब तक जीवित रहे वे दूसरो के हर नये प्रयोग को अपनाकर इन प्रयोगो के प्रवर्त्तको के आगे रहने की चेष्टा करते रहे, और इसमे वे सफल भी रहे।

कल्लोल-गुट से अलग मनीन्द्रलाल बोस एक अजीब शैली का प्रवर्त्तन तथा प्रयोग करते रहे। उनकी रचना का सबसे महत्त्वपूर्ण अग उनकी अलसाई-सी, धीर मथर राजहंस की चाल वाली मसालेदार भाषा है। उन्होने दो ही तीन उपन्यास लिखे है, इनमें भाषा के अतिरिक्त शायद ही कुछ है फिर भी इनके उपन्यास बहुत ही पठनीय है, और जो लोग 'कादम्बरी' की शैली की चीज को रस ले-लेकर पढने के आदी है, याने कुछ देर पढा और फिर आँखे बद करके सोचते रहे, उन्हे बहुत पसद आयँगे। स्वाभाविक रूप से मनीन्द्रलाल ने अपने उपन्यासों मे कथानक भी ऐसा रखा है जिसमे दीर्घकाल तक सोचने और जुगाली करने की गुन्जाइश हो। इसीलिए उनके कथानको मे तपेदिक-रोग-ग्रस्त व्यक्तियो की भरमार है, जो पडे-पडे न मालूम किस-किस स्वप्न-जगत् मे चले जाते है।

बगला के उपन्यासकारो मे इस समय सबसे प्रमुख नाम श्री ताराशकर

बद्योपाध्याय का है । उन्होने बहुत अच्छा भी लिखा और बहुत अधिक भी लिखा । यह तो कहना कठिन है कि वे रवीन्द्रनाथ या शरच्चद्र की तुलना मे कैसे है, पर इतना कहा जा सकता है कि उनके साहित्य मे आधुनिक बगाल तथा एक हद तक भारत मूर्त्त हुआ है । उनका साहित्य केवल पारिवारिक जीवन को लेकर ही नही चलता, उसमे युगमन का प्रतिफलन सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है । उनका प्रथम उपन्यास 'चैताली घूर्णि' १९३२ के अक्तूबर मे प्रकाशित हुआ । उनका 'गण देवता' तथा 'पच ग्राम' नामक उपन्यास शायद उनकी सबसे उत्कृष्ट रचनाये है । पर इधर १९४७ की जुलाई मे उन्होने 'हामूली बाँकेर उपकथा' नाम से एक उपन्यास लिखा है, जिसकी बहुत प्रशसा हुई है। उनके अन्य उपन्यासो मे 'धात्री देवता', 'कवि' और 'कालिन्दी' बहुत ही उच्च-कोटि के उपन्यास है । 'धात्री देवता' १९३९ के अक्तूबर मे प्रकाशित हुआ । 'कालिन्दी', 'कवि', 'गण देवता', 'पचग्राम', 'मन्वतर', क्रमश अक्तूबर १९४०, मई १९४१, अक्तूबर १९४२, फरवरी १९४४ तथा १९४४ मे प्रकाशित हुए। उनके उपन्यास 'मन्वतर' का हिन्दी-अनुवाद भी हो चुका है । यह एक आश्चर्य की बात है कि वर्तमान बगाल के सबसे प्रसिद्ध लेखक ने मुख्यत गाँवो के सम्बन्ध मे ही लिखा है ।

दरभगा-निवासी श्री विभूतिभूषण मखोपाध्याय बगला के बहुत प्रमुख उपन्यासकारो मे है । उनका प्रथम गल्प-सकलन 'रानू का प्रथम भाग' मई १९३७ के करीब प्रकाशित हुआ । उन्होने उपन्यास, नाटक, कहानी सभी कुछ लिखा है, और बडी योग्यता से लिखा है । उनका 'गरीयसी' नामक उपन्यास तीन भागो मे प्रकाशित हुआ, और उसकी बडी प्रशसा हुई । इनकी रचनाओ मे चित्रण की अद्भुत शक्ति है ।

श्री बुद्धदेव वसु का नाम बगला-साहित्य के बाहर भी हो चुका है । उनका प्रथम उपन्यास 'साडा' पुस्तकाकार मे १९३० मे प्रकाशित हुआ । उनके उपन्यासो का विवरण इस प्रकार है 'साडा' १९३०, 'जेदिन फुटलोकमल' १९३३, 'धूसर गोधुली' १९३३, 'कालोहावा' १९४२, 'विशाखा' १९४६, 'तिथिडोर' १९४९ । 'अन्यकोनखाने' नाम से उनकी एक पुस्तक प्रकाशित हुई है । उनकी रचना मे श्रृङ्गार रस की कही-कही अधिकता है और प्रगतिशीलगण उन्हे प्रतिक्रियावादी लेखक मानते है । उन्होने अग्रेजी मे बगला के आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध मे एक पुस्तक भी लिखी है जिसका नाम है 'एन एकर आफ ग्रीन ग्रास' ।

इस समय के प्रमुख बगला-उपन्यासकारो मे श्री अन्नदाशकर राय का भी

नाम लिया जा सकता है। उनके जीवन का बहुत सा अंश यूरोप में बीता है, इस कारण वे अपने उपन्यासों में यूरोपीय वातावरण बहुत ले आते हैं। उनकी पहली रचना रवीन्द्रनाथ की देख-रेख में निकलने वाली 'विचित्रा' नामक पत्रिका में धारावाहिक रूप से १९२७ से १९३० तक प्रकाशित हुई। इसका नाम था 'पथेप्रवासे'। उनकी पुस्तकाकार में प्रकाशित प्रथम रचना 'तारुराय' १९२८ में प्रकाशित हुई। 'प्रथेप्रवासे' भ्रमण की पुस्तक थी, पर वह इतने दिलचस्प रूप में लिखी गई थी कि इसी से बंगला-साहित्य में उनकी ख्याति हो गई। इन्होंने 'सत्यासत्य' नाम से ६ उपन्यासों की एक माला लिखी जिसके भागों के नाम हिन्दी में अनूदित होने पर यों है १. 'जार जेया देश' या 'जिसका जहाँ देश', २. 'अज्ञातवास', ३ 'कलंकवती', ४. 'दुःखमोचने', ५. 'मर्त्येर स्वर्ग' या मर्त्य का स्वर्ग, ६. 'अपसरण'। उनकी अन्य पुस्तकों में 'मन पवन' भी बहुत प्रसिद्ध है। अन्नदा बाबू हमारे सामने एक नई ही दुनिया रख देते हैं। वे अंग्रेजी-साहित्य के बहुत बड़े ज्ञाता होने के साथ ही भारतीय वैष्णव साहित्य तथा रवीन्द्रनाथ के समान रूप से ज्ञाता हैं। साथ ही वे कवि भी हैं। इस कारण उनके साहित्य में ऐसे रस की उत्पत्ति हुई है, जो रवीन्द्र, शरत् आदि से सम्पूर्ण रूप से पृथक् जगत् की सृष्टि करता है।

श्री अचिंत्यकुमार सेनगुप्त बंगला के बहुत ही शक्तिशाली उपन्यासकारों में हैं। वे नार्वेजियन साहित्य से बहुत प्रभावित हुए और, क्नुटहाससुन की एक पुस्तक के अनुवाद से उन्होंने साहित्य-जगत् में प्रवेश किया। उनका पहला उपन्यास 'बेदे' या बद्दू क्नुटहाससुन की शैली पर ही लिखा गया था। यह १९२७ में प्रकाशित हुआ। उनके उपन्यासों तथा कहानियों की संख्या बहुत अधिक है।

उन्होंने अपने उपन्यासों में कुछ नवीन प्रयोग किये, और ऐसा कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि वे इन प्रयोगों में बहुत-कुछ सफल हुए। अभी हाल में उन्होंने 'जायजेदि जाक' याने 'जाये तो जाये' नाम से एक उपन्यास लिखा है जिसके कारण उनकी ख्याति में बहुत वृद्धि हुई है। इस पुस्तक में बंगाली मध्यवित्त परिवार पर युद्ध तथा दुर्भिक्ष का परिणाम दिखलाया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय साहित्य में यह एक बहुत ही शक्तिशाली दान है।

भागलपुर-निवासी डाक्टर बलाईचाँद मुखोपाध्याय या वनफूल ने बहुत से उपन्यास, कहानियाँ तथा एकांकी लिखे हैं। उनकी रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे बहुत अच्छी कहानी गढ़ लेते हैं, और उनमें मौलिकता

बहुत अधिक है। विशेष विचार-धारा के कायल नही है, और इधर उनको प्रगतिशील लेखको ने कई एक रचनाओ के कारण प्रतिक्रियावादी बताया है। उनका प्रथम उपन्यास 'तृण-खड' 'शनिवारेर चिठी' की तरफ से प्रकाशित हुआ था। उनके 'अग्नि' तथा 'स्वप्न-सभव' नामक उपन्यास शीघ्र ही हिन्दी मे प्रकाशित होने जा रहे है। 'कुछ क्षण' नाम से उनका एक छोटा-सा उपन्यास भी हिन्दी कलेवर मे प्रकाशित हो चुका है।

श्री विभूतिभूषण बनर्जी भी बगला के एक प्रसिद्ध उपन्यासकार है। उनके पाँच उपन्यास बहुत प्रसिद्ध है जिनमे से उनका प्रथम उपन्यास 'पथेर पाँचली' तथा उनका द्वितीय भाग 'अपराजिता' सबसे प्रसिद्ध है। उन्होने भी ग्राम-जीवन को ही उपन्यास का केन्द्र बनाया है। उनके अन्य उपन्यासो के नाम इस प्रकार है—१. आरण्यक २. दृष्टि-प्रदीप ३ देवयान ४. आदर्श हिन्दू होटल। इनके अतिरिक्त उनके कई गल्प-सकलन प्रकाशित हुए है। दो भ्रमण-सम्बन्धी पुस्तके भी प्रकाशित हुई है, जिनमे उपन्यास का मजा आ जाता है।

श्री प्रबोधकुमार सान्याल भी एक शक्तिशाली उपन्यासकार है। वे गद्य के इतने सुन्दर लेखक है कि उनको गद्य का कवि कहना अनुचित न होगा। उनके उपन्यास डिकेन्स की तरह बहुत सगठित नही है, पर वे इतनी नई चीजे पाठक के सामने ला देते है कि पाठक मुग्ध हो जाता है। उन्होने भी कई उपन्यास तथा कहानियो के कई सकलन प्रकाशित किये है।

श्री शैलजानन्द मुखोपाध्याय कई सुन्दर उपन्यास लिख चुके है और उन सबका केन्द्र कोयले की खानो का जीवन है। ऐसा मालूम होता है कि उन्होने कोयले की खानो का बहुत सुन्दर अध्ययन किया है। यह एक ऐसा विषय है जिसे अन्य लेखको के द्वारा करीब करीब अछूता होने के कारण, बगला के उपन्यास-साहित्य मे एक विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। उनकी 'कयला कुटी' या 'कोयले की खान' की बगला मे बहुत प्रशसा हुई। उनकी 'अनाथ आश्रम' नामक पुस्तक और उनकी कुछ कहानियाँ भी हिन्दी मे अनूदित हो चुकी है। प्रेमेन्द्र मित्र अपनी कहानियो तथा उपन्यासो मे अस्वाभाविक और असाधारण को लेकर चलते है। श्री माणिक वन्द्योपाध्याय बगला-उपन्यास के क्षेत्र मे कभी इतने चमके थे कि उनके सम्बन्ध मे समझा जाता था, वे ही शरत् बाबू का रिक्त स्थान ले लेगे। उनका 'पद्मा नदी का माँझी' नामक उपन्यास पद्मा के किनारे के ग्राम-वासियो को लेकर बना है। यह एक बहुत ही शक्तिशाली कृति है, और सब तरह के समालोचको ने इसकी बड़ी प्रशसा की है। बहुत ही साधारण मल्लाह के जीवन को लेकर इतना

बड़ा उपन्यास लिख देना यह उनकी शक्ति का परिचायक है । पर माणिक बाबू को न मालूम क्या हो गया, बाद को वे कुछ अश्लीलता की तरफ बढे । और मनोविश्लेषण के विषय ही उनकी कहानियो तथा उपन्यासो के उपजीव्य बन गए । अवश्य इससे यह समझा जाय कि उनके लिखने की शक्ति मे कोई फर्क आया, पर उसका सामाजिक मूल्य घट गया, इसमे सन्देह नही । श्री परिमल गोस्वामी ने 'ब्लैक मार्केट' नामक एक उच्च-कोटि का गल्प-सकलन प्रकाशित किया है । उनमे व्यग्य तथा विद्रूप की अपूर्व प्रतिभा है ।

इधर के अत्यन्त शक्तिशाली लेखको मे श्री नारायण गागुली का नाम बहुत ही प्रमुख है। उनका 'उपनिवेश' नामक उपन्यास तथा इसके बाद भी उनकी जो कहानियाँ आदि प्रकाशित हुई है, वे महान् प्रतिभा की सूचिका है। गोपाल हालदार ने बंगला-उपन्यास मे कम्युनिस्ट धारा का प्रतिपादन किया है, और उनका उपन्यास 'एकदा' इलिया एलेनबुर्ग की शैली का बहुत शक्तिशाली उपन्यास है ।

अन्त मे मै कुछ अति आधुनिक लेखको का उल्लेख करूँगा जिनसे बगला-उपन्यास-साहित्य को बडी आशाएँ है । ऐसे लेखको मे नारायण गगोपाध्याय ने तो वगला-साहित्य मे जैसे I came, I saw, I conquered के रूप मे पदार्पण किया । उनके पास कथानको का जैसे एक ढेर-सा है । बहुत थोड़े समय मे ही वे बगला-साहित्य मे छा गए । सृष्टि-शक्ति की विपुलता की दृष्टि से उनका नम्बर इस समय ताराशकर के बाद ही है । उनके प्रत्येक उपन्यास मे नवीनता के साथ एक दृढ विचार-धारा का पुट है ।

अन्य अति प्रतिभाशाली आधुनिक लेखको मे समरसेन और सुभाष मुखो-पाध्याय शक्तिशाली ज्ञात होते है । सुबोध घोष ने भी असाधारण कथानको को लेकर कई अच्छे उपन्याम लिखे है, उनके कथानको की असाधारणता उनकी काल्पनिकता मे नहीं बल्कि अल्प परिचित या अपरिचित स्थानो के लोगो को पात्र बनाने मे है । इस समय की उपन्यास-लेखिकाओ मे प्रतिभा वसु, आशा-पूर्णा देवी तथा वाणी राय को गिनाया जा सकता है । पर इनमे से कोई भी साहित्य को कोई नई दिशा देने जा रही है ऐसा नही ज्ञात होता । इनके पहले के युग की लेखिकाएँ जैसे अनुरुपादेवी, प्रभावती देवी, स्वर्णकुमारी देवी तथा निरुपमा देवी शायद उपन्यासकार की दृष्टि से अधिक सफल थी । पर इन सबकी उम्र अभी थोडी है और यह आशा की जा सकती है कि आज के जीवन के थपेडे उन्हे उन बातो को सिखा सकेगे जो वे अन्यथा नही सीख पायँगी ।

अब मै केवल एक और उपन्यासकार नही, बल्कि उपन्यास का उल्लेख

करूँगा। इस उपन्यास का नाम 'जागरी' है, तथा इसके लेखक का नाम सतीनाथ भादुरी है। पता नही यह लेखक कहाँ साधना कर रहा था, पर इन्होने जब 'जागरी' को लेकर एकाएक साहित्य मे पदार्पण किया तो लोग आश्चर्य-चकित रह गए। इस उपन्यास मे एक घटनापूर्ण रात्रि का वर्णन है। इस उपन्यास के मुख्य नायक बीलू को एक राजनीतिक मुकदमे मे फाँसी की सजा सुनाई जा चुकी है। वह जेल मे बद है, और उसे अगले दिन सबेरे फाँसी होने वाली है। उसके माँ और बाप को भी उसकी तरह क्रान्तिकारी मामले मे नही बल्कि १६४२ के आन्दोलन मे कुछ सजा हुई है और वे भी उसी जेल मे बद है। बीलू का छोटा भाई नीलू जेल के फाटक पर है, और उसके सम्बन्ध मे विशेष बात यह है कि अपने राजनीतिक विचारो मे पक्का होने के कारण उसने अपने बडे भाई के विरुद्ध गवाही दी है। पर राजनीतिक कारण से गवाही देने का अर्थ यह नही है कि उसके मन मे बीलू के प्रति प्रेम नही है। सच तो यह है कि बहुत अधिक प्रेम है। अब ये चारो व्यक्ति अपनी-अपनी जगह पर सोच रहे है। यही उपन्यास का मुख्य उपजीव्य है। इसके साथ ही इस उपन्यास मे राजनीतिक लोगो की भलाई-बुराई इस खूबी से आती है कि देखकर दग रह जाना पड जाता है। इसमे सदेह नही कि 'जागरी' एक बहुत ही शक्तिशाली उपन्यास है। 'जागरी' अभी ताजी पुस्तक है। शायद इसके लेखक आगे ऐसी और कोई चीज लिख न पायें। बंगला साहित्य मे ऐसा एक बार और हो चुका है, जब 'यायावर' ने दिल्ली के जीवन पर एक अमर पुस्तक 'दृष्टिपात' लिखी थी।

बगला के अति आधुनिक साहित्य मे जनवादी तरीके से चीजो को देखने की परिपाटी प्रबल हो रही है। अब शरत् की पारिवारिक तथा प्रेम-सम्बन्धी गुत्थियो मे वह उलझा हुआ नही रह सकता। अवश्य अब भी उपन्यासकारों का सबसे बडा उपजीव्य प्रेम ही है। पर इसके साथ-साथ जीवन के अन्य पहलू भी, विशेषकर आर्थिक पहलू, बहुत जोर पकड रहे है। यह एक द्रष्टव्य बात है कि आधुनिक बँगला-साहित्य मे ग्राम-जीवन को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। मै समझता हूँ कि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा होने के कारण जो मर्यादा प्राप्त हुई है, उसके हक मे यह अच्छा होगा कि फौरन कम-से-कम दो सौ आधुनिक बगला-उपन्यासो का हिन्दी मे अनुवाद हो जाय। ये दान हिन्दी के लिए कुछ कम गौरवमय न होगे।

१३

# पत्रकार-कला में प्रगतिशील दृष्टिकोण

साहित्य के अन्य अगो की तरह हमारे देश की पत्रकार-कला भी पिछडी हुई हालत मे है, सम्भव है सज-धज मे तथा अन्य ऐसी बातो मे अर्थात् छपाई-सफाई मे हमारे पत्र-पत्रिकाओ मे कुछ यूरोप के समकक्ष हो गए हो, कम-से-कम ह्वीलर के बुक-स्टालो मे खडे होकर हिंदी-पत्रो को अग्रेजी-पत्रो के बगल मे देखने से ऐसा मालूम होता है, किंतु सच बात तो यह है कि वे अभी बहुत पिछडी हुई दशा मे है। इस पिछडेपन का सबसे बड़ा कारण यह है कि हममे प्रगतिशील दृष्टिकोण का बहुत-कुछ अभाव है। हिंदी पत्र-पत्रिकाओ को ध्यान से देखने पर यही पता लगता है कि इनमे से बहुतो के सचालको को यह भी पता नही है कि प्रगतिशील दृष्टिकोण क्या है, और यदि पता है तो रूढिवाद से जर्जरित होने के कारण वे उसकी पुकार को सुन नही सकते।

प्रगतिशील दृष्टिकोण हम उस दृष्टिकोण को कहते है, जिसमे हम यह अनुभव करते है कि वर्तमान पद्धतियाँ त्रुटिपूर्ण है और इन्हे बदलना चाहिए। यह दृष्टिकोण गतानुगतिक या Laissez Faire दृष्टिकोण का उल्टा है, क्योकि Laissez Faire मे यह कहा जाता है कि जैसा है वैसा ही रहने दो, कोई क्रान्ति या सुधार की आवश्यकता नही। इस Laisscz Faire वालो को या रूढिवादियो को हम दो भागो मे विभाजित करते है, एक तो वे जो कि वर्तमान समाज-प्रणाली से करीब-करीब सन्तुष्ट है, और दूसरे वे जो कि इससे खुश तो नही है किन्तु भविष्य की ओर दृष्टिपात करने के बजाय भूत काल की ओर देखते है, और राम या मुहम्मद के समय को फिर वापिस लाना चाहते है। इन दोनो दृष्टिकोण वालो को हम प्रगति-विरोधी दृष्टिकोण करार देते है। दुःख है कि हिंदी पत्र-पत्रिकाओ मे से अधिकाश इसी वर्ग मे आ जाते है, किंतु प्रगतिशील तथा प्रगतिवादिता इन दो वर्गो के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग है, वह है अवसरवादी वर्ग, जिसके अन्तर्भुक्त पत्र-पत्रिकाएँ

किसी सिद्धात को सामने रखकर नही, या किसी प्रयोग को गलत पाकर नही, बल्कि केवल इसलिए कि ऐसा करने से पत्र की अधिक खपत होती है, समय समय पर अपनी नीति बदल देती है। इस ढुलमुल-यकीन अवसरवादी वर्ग को हम प्रगति-विरोधी वर्ग से अधिक खतरनाक समझते है क्योंकि पता नही वे कब किस ओर ढुलक जायें। इन वर्गों के अतिरिक्त एक और वर्ग है जिसको कि हम बुर्जुआ इण्टेलेक्चुअल वर्ग कहेगे, याने वह वर्ग जो कि ओलिम्पिक शिखरो पर बैठकर हरेक वर्ग की नुकताचीनी करता है, किंतु स्वय किसी मे भाग नही लेता। मेरा मतलब भाग न लेने से यह नही है कि कमर कसकर वे कार्य-क्षेत्र मे उतर नही पड़ते, यह शिकायत मुझे उनके विरुद्ध तो है ही, किंतु वर्तमान-क्षेत्र मे मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि वे साफ-साफ कोई राय भी तो नही देते। उनसे यदि किसी विषय मे प्रश्न किया जाय, याने उदाहरणत यह पूछा जाय कि फैसिज्म अच्छा है कि साम्यवाद तो एक हल्की हँसी उनके चेहरे पर दौड जायगी, और उनकी मुख-मुद्रा ऐसी हो जायगी जिससे स्पष्ट यही जाहिर होगा कि प्रश्न-कर्त्ता की मानसिक सतह दयनीय है। ये लोग प्रत्येक विषय के पक्ष तथा विपक्ष मे घटो लिख तथा बोल सकते है, इतना कि लोग देखकर दग रह जायें। वर्तमान युग की सबसे बड़ी चारित्रिक विशेषता है सर्व बन्धन-विमुक्ति का प्रयास। हम आज किसी भी क्षेत्र मे बेडियाँ पहनने को तैयार नही है। यह लहर जगत्-व्यापी है और हिंदुस्तान मे भी उसकी लहर आकर बही। अपने साहित्य के हृदय पर यदि हम स्टेथस्कोप लगाकर देखे तो यहाँ भी इस लहर के धक्के का प्रभाव ज्ञात होगा किंतु अधिक नही। इसी लहर के वशवर्ती होकर हिंदी मे भी कुछ प्रगतिशील पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही है, किंतु अभी वे कदाचित् सभी क्षेत्रो मे प्रगतिशील नही हो पाई है। अधिकाश पत्र-पत्रिकाएँ हमे हिंदी मे ऐसी मिलती है जो जीवन के एक क्षेत्र मे तो प्रगतिशील विचारो का प्रतिपादन करती है, किंतु साथ ही दूसरे क्षेत्र मे सनातन रूढिवाद का प्रचार करती है। इस बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना चाहिए। बहुत से पत्र तथा लेखक ऐसे है जो सम्पूर्ण रूप से स्त्री-स्वाधीनता का समर्थन करेगे किंतु उस बात का जो अनिवार्य तर्कगत परिणाम है अर्थात् सयुक्त परिवार-प्रथा का टूटना, उससे मुँह मोड लेगे। यह बात होती है। और यह इसलिए होती है कि हम सोचते तो है, किंतु गहराई तक नही सोचते, हममे सोचने की हिम्मत नही है। प्रगतिशील पत्रकार से हम यह आशा करते है कि वह सोचेगा और हिम्मत से सोचेगा। जीवन अलग-अलग विभाजित प्रकोष्ठो का एक समूह नही है। हमारे जीवन का हरेक क्षेत्र

अनिवार्य रूप से एक दूसरे से संयुक्त, सम्बद्ध तथा सहत है। यदि हमे प्रगतिशील होना है तो जीवन के हरेक क्षेत्र मे प्रगतिशील होना पडेगा। किसी एक क्षेत्र मे हम अपनी पत्र-पत्रिकाओ मे प्रगतिशीलता दिखलायँ, तथा दूसरे क्षेत्र मे एकदम रूढिवाद का प्रतिपादन करे, यह दृश्य अत्यन्त हास्यास्पद है। गहराई से तथा बुनियादी ढग से सोचने वाले व्यक्तियो की आँखो मे यह बात बहुत खटकती है। इस ऐब से बचने के लिए हिंदी के पत्रकारो को प्रत्येक विषय की दार्शनिक गहराई तक जाना पडेगा। मुझे दु.ख के साथ कहना पडता है कि भारत के अधिकाश पत्रकार भीरू तथा अपने विचारो के उपसहारो से बिदकने तथा डरने वाले है। वे कुछ हद तक सोचते है किंतु आगे जाकर जब वे देखते है कि बडे ही अजीब साध्यो का सामना है, तो वे घबराकर आँख मूँद लेते है।

पत्रकार का कर्तव्य बड़ा ही कठिन होता है। पत्र-पत्रिकाओ से यह आशा की जाती है कि वे भूत काल के गुण-दोष की विवेचना करेंगे, वर्तमान को प्रतिफलित करेंगे तथा साथ-ही-साथ आगे के लिए कुछ भविष्यवाणी भी करेंगे। इन कर्तव्यो का पालन करने के लिए यह आवश्यक है कि पत्रकार का दृष्टिकोण प्रगतिशील हो तथा वह वैज्ञानिक तरीके से सोचने का अभ्यस्त हो, नही तो वह भूतकाल को बढा-चढाकर प्रशसा करेगा, वर्तमान को तोड-मरोड़कर उपस्थित करेगा, तथा भविष्य के अभियान के विरुद्ध व्यर्थ विद्रोह करेगा जैसा कि हिन्दी के बहुत-से पत्र करते नजर आ रहे है।

प्रगतिशील पत्रकार कोई पैगम्बर नही होता अर्थात् उससे यह आशा नही करनी चाहिए कि जो कुछ वह कहेगा बिना किसी कारण के मान लिया जायगा, इसलिए उसे पाठको के सम्मुख अधिक-से-अधिक तथ्य उपस्थित करने चाहिएँ। हमारे यहाँ के दैनिक पत्र इस सम्बन्ध मे बहुत गाफिल जान पडते है। वे खबर कई बार बहुत देर मे देते है, और उनकी खबरे अक्सर उञ्छवृत्ति द्वारा प्राप्त होती है। यूरोप के समाचार-पत्र जल्दी-से-जल्दी अपने पाठको को समाचार पहुँचाने के लिए करीब-करीब असाध्य-साधन करते है। बहुत-से अखबार यूरोप मे ऐसे है, जिनके हर नगर मे अपने विशेष सवाददाता ही नही बल्कि अपनी पेपर मिले, रेल, तार तथा ट्रैम है। विशेष अवसरो के लिए विशेष योग्यताशाली लेखक नियुक्त किये जाते है, हर एक रुचि के व्यक्तियो को जल्दी-से-जल्दी उनके मतलब तथा रुचि की खबर पहुँचाई जाती है। यूरोप के पत्रो को देखने से पता लगता है कि वे अपने पाठको को विज्ञान के नये-नये करिश्मो से परिचित कराने के लिए

व्याकुल है। Tass, Reuter, Globe, Havas ये तो है ही, इसके अतिरिक्त और खबरे भी देने वाली छोटी-छोटी एजेन्सियाँ है कहने की आवश्यकता नही है कि हिन्दी के पत्र यूरोप के पत्रो की तुलना मे ही नही वरन् अन्य भारतीय भाषाओ के पत्रो से भी पिछडे हुए है। हिन्दी-दैनिक पत्रो मे बगला की 'आनन्द-बाजार-पत्रिका' के मुकाबले का तो कोई भी पत्र नही।

हमारे पत्रो मे पदार्थ-विज्ञान तथा ऐसे विषयो के सामान्य उपसहारो के विषय मे लेख कम निकलते है। हमारे साहित्यिक समझते है कि साहित्य तथा विज्ञान मे साधारण रूप से कोई सम्बन्ध नही है, किन्तु यह बात नही। हम आज साहित्य मे, दर्शन, मे, कला मे किसी भी क्षेत्र मे विज्ञान की मदद के बिना एक कदम भी नही बढ सकते। पहले लोग दर्शन-शास्त्र केवल कल्पना की उडान भरने को या आँख मूँदकर सोचने को कहते थे, किन्तु अब विज्ञान और दर्शन धीरे-धीरे एक होता जा रहा है। भौतिकवादी तो विज्ञान के उपसहारो को ही दर्शन-शास्त्र मानते है, उनके निकट और कोई दर्शन-शास्त्र ही नही है। उपन्यास को लोग पहले मनोविनोद का उपकरण-मात्र समझते थे, किन्तु अब तो उसमे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, जीवन-विज्ञान-सम्बन्धी थोडे मे हर प्रकार की गुत्थियाँ रखी जाती है। और सुलझाई जाती है। तभी तो पाश्चात्य देशो के बहुत से प्रतिष्ठित वैज्ञानिको ने उपन्यास-लेखन मे कदम रखा है। कविता भी विज्ञान से अलग न रह सकी, पहले कुछ विज्ञ लोगो ने कहा था कि विज्ञान, कविता का कब्रिस्तान होगा, किन्तु अब स्पष्ट हो गया कि ऐसी बात नही है, कविता विज्ञान से बड़ी आसानी से रस खीचकर अपनी शाखा-प्रशाखा को हरी बनाए रख सकती है।

हमने विज्ञान के पहलू पर इसलिए दृष्टि आकर्षित की कि विज्ञान ही प्रगतिशील साहित्यिक के हाथ मे सबसे बडा अस्त्र है। भौतिकवादी इसी कारण से विज्ञान का विशद अध्ययन करते है। इस बीसवी सदी मे तो विज्ञान की दृष्टि से दर्शन-शास्त्र की चर्चा होती ही है किंतु उन्नीसवी सदी मे Haeckel आदि ने Riddle of the Universe आदि लिखकर दर्शन को एक नया रूप दिया था। हमारे पत्र-पत्रिकाओ मे विज्ञान की करीब-करीब चर्चा ही नही होती, और होती भी है तो पण्डिताऊ तरीके से, जैसे विज्ञान केवल एकेडेमी के अन्दर चर्चा करने की ही वस्तु हो। सापेक्षवाद Quantum इत्यादि केवल विज्ञान के ही विषय नही है, हमारे जीवन से उनका गहरा सम्बन्ध है, पग-पग पर इन्हे उनसे तो नही उनके उपसहारो से साबका पड़ता है। हमारे पत्रो मे राजनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के

साथ-साथ विज्ञान के इस अग की चर्चा होनी चाहिए। मुझे कहने मे डर मालूम होता है किन्तु यह बात सच है कि हमारे सम्पादक तथा लेखको के ज्ञान की सतह तो नही किंतु उनका दायरा तथा दृष्टिकोण बहुत छोटा है। जब तक हमारे लोक-शिक्षक पिछडे हुए है तब तक आगे क्या हो सकेगा ?

हम हिंदी-पत्रो मे एक बात की ओर बहुत झुकाव देख रहे है, वह यह है कि वे सज-धज तथा Matter के Display मे विशेष ध्यान दे रहे है यह बात कुछ निंदनीय नही है, किंतु उन्हे चाहिए कि वे इससे कही अधिक ध्यान पत्र के लेखो पर दे तो अधिक अच्छा है। जर्मनी के Duetsche Rundschau फ्रेंच का Revues de deux mondes आदि पत्रो मे कोई भी सज-धज, यहाँ तक कि एक भी चित्र नही होता, किंतु उनमे जो बात होती है उनसे उन भाषा-भाषियो की ही नही, बल्कि सारे विश्व की विचार-धारा बहुत-कुछ परिचालित होती है। सज-धज पर समस्त शक्ति को ही केन्द्रित करना गलती होगी।

हिंदी का यह बडा दुर्भाग्य है कि काशी से श्री शिवप्रसाद जी गुप्त द्वारा प्रकाशित 'स्वार्थ' जी नही सका, कानपुर की 'प्रभा' भी अकाल-मृत्यु को प्राप्त हुई, अच्छी पत्रिकाएँ सभी ज्यो-त्यो चल रही है।

अन्त मे मै फिर इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि हमारे पत्रो को हर एक क्षेत्र मे प्रगतिशील होना चाहिए नही तो उनकी लोक-सेवा का व्रत पूर्ण नही होगा। इसके साथ-ही-साथ हम प्रगति-विरोधी सभी शक्तियो को चेतावनी देना चाहते है कि वे व्यर्थ ही प्रगति के विरोध मे अपने समय तथा शक्ति का अपव्यय करते है। भविष्य अपने को भूत काल के मुकाबले मे स्थापित करेगा ही। प्रगति की विजय-वैजयन्ती हमारे साहित्य मे ही नही, जीवन के हर-एक क्षेत्र मे शीघ्र ही फहरायगी, कोई ऐसी शक्ति नही है जो इसकी अग्र-गति के अभियान को रोक सके।

: १४ :

# शरच्चन्द्र का उपन्यास : देवदास

शरच्चन्द्र का उपन्यास 'देवदास' एक अमर कृति है। प्रेम, स्त्री और पुरुष को एक महान् शक्ति है और रहेगी। जब तक प्रेम रहेगा तब तक 'देवदास' को लोग पढेगे। सम्भव है, बहुत से व्यक्ति अपने को जीवन मे केवल एक बार नही बराबर देवदास समझते हो। स्त्रियाँ अपने को कहाँ तक पार्वती समझती है, इस सम्बन्ध मे तो किसी स्त्री की राय ही ठीक रहेगी। 'देवदास' मे पुरुष—देवदास—को ही अपनी प्रेमिका के द्वार पर प्राण-विसर्जित करते दिखाया गया है।

अवश्य, पार्वती के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि वह मरती नही यह ठीक है, पर देवदास की मृत्यु के बहुत पहले से ही वह जीवित शव का जीवन बिता रही है, क्योकि अपनी इच्छा के विरुद्ध वह एक बूढे से ब्याह दी जाती है। समाज के दबाव के कारण उसे उसकी पत्नी होकर रहना पडता है यह मृत्यु से किसी कद्र कम नही।

उस समय हमारे समाज की जो परिस्थिति थी वह अब भी है। उसमें देवदास के लिए मृत्यु का जो रूप हो सकता था, पार्वती के लिए वह रूप नही हो सकता, क्योकि मृत्यु तो उसके लिए उससे भी सख्त किसी अवस्था की जरूरत थी, और उसे हम पार्वती के जीवित रहने मे ही पाते है। सच तो यह है कि हमारे समाज मे रूस के अतिरिक्त सारी मनुष्य जाति मे स्त्रियो के लिए, मृत्यु का यह अत्यन्त दीर्घ रूप दिखाना ही उचित था।

*शहीद कौन है?*

अन्त मे जो देवदास पार्वती के पति की हवेली के दरवाजे पर मरा पाया जाता है, उससे ऐसा आभास मिलता है मानो वही शहीद है, पर वस्तुस्थिति कुछ और ही है। क्या जो मर जाता है, वही शहीद होता है? इसके विपरीत वह उससे भी बडा शहीद है, जो जीवित रहकर आपदाओ का सामना करता

है। 'देवदास' इसी बात का जीता-जागता प्रतीक है।

पार्वती और देवदास बचपन के साथी थे। एक ही पाठशाला मे पढते थे। फिर देवदास शहर गया और वही पढने लगा। उसके मन मे गॉव की स्मृति धुँधली हो चली, और शायद साथ-ही-साथ धुँधली हो गई पार्वती की स्मृति भी। पार्वती के घर वालो के मन मे यह साध थी कि देवदास के साथ उसकी शादी हो, पर पूछे जाने पर देवदास की माता ने यह बात साफ कर दी कि ऐसा नही हो सकता।

उधर कलकत्ते के विचित्र जीवन मे देवदास का मन लग रहा था, पर पार्वती नीरस ग्राम्य-जीवन मे बराबर देवदास का ध्यान करती थी। इन्ही दिनो एक धनी विधुर के साथ पार्वती की शादी हो गई। देवदास इन्ही दिनो गॉव मे आया। उसने सुना, पर बस

वह सो रहा था। पार्वती ने चुपके से उसके कमरे मे दाखिल होकर उसको जगाया। देवदास पहले तो घबराया पर पार्वती बोली, 'नदी मे पानी बहुत है, क्या उतने पानी से मेरा कलक ढक न सकेगा?"

अकस्मात् देवदास ने हाथ पकड़ लिया,"···पार्वती?"

पार्वती ने देवदास के चरणो मे सिर रख दिया, और बोली, '···भैया, इन चरणो मे मेरा स्थान है?"

देवदास देर तक पार्वती को देखता रहा, पार्वती के गरम आँसू उसके पैरो पर गिरते रहे। बडी देर के बाद देवदास बोला,"···क्यो पारो, क्या मेरे अलावा तुम्हारी कोई गति नही?"

पार्वती कुछ न बोली। देवदास फिर बोला,'···जानती हो इसमे घर के लोगो की बिलकुल राय नही।"

पार्वती फिर कुछ नही बोली, उसी प्रकार देवदास के चरणो मे सिर रखे रही। घडी मे टन से एक बजा। देवदास ने पूछा," ··पिता-माता को छोड़ दूँ?"

पार्वती ने उत्तर दिया,"···हरज क्या है?"

"फिर तुम कहा रहोगी?"

"तुम्हारे चरणो मे।"

चार बज गए। देवदास ने उसे घर पहुँचा दिया।

पिता के साथ देवदास ने अगले दिन बातचीत की, पर वे टस से मस नही हुए। तब देवदास उसी दिन कलकत्ता चला गया। देवदास ने पार्वती को एक पत्र लिखा जिसमे उससे भूल जाने को कहा था। फिर वह एक वेश्या के घर गया, पर जी नही लगा। वह दो ही चार दिन मे गॉव लौट आया और पार्वती

से भेंट करके बोला,"···मुझे माफ करो पारो, मैं अपने को समझ नही पाया था, जैसे हो माता पिता को राजी करूँगा ।"

पार्वती ने देवदास के चेहरे पर तीक्ष्ण दृष्टि डाली । बोली,"···तुम्हारे माँ-बाप है, मेरे नही है क्या ?"

यथासमय पार्वती की शादी एक जमीदार से हो गई । इसके बाद की कथा सुपरिचित है । सहगल ने चित्रपट पर इस अमर-गाथा को दुगुना अमर बना दिया, और जिन्होने पुस्तक नही पढी, उन्होने चित्रपट से इस कथा को जान लिया है ।

### पारो शहीद है ?

अब प्रश्न है कि क्या देवदास ही शहीद है, पार्वती नहीं ? क्या तिल-तिल करके वर्षो तक जलना शहादत के दायरे के बाहर है ? देवदास के मर जाने से हमारे मन पर कुछ ऐसी छाप पडती है कि वह अपने प्रेम के लिए मरा और शहीद हो गया, पर शहीद तो पार्वती भी है और शायद उससे भी बड़ी। यो तो शहीदो मे तुलना एक भद्दी वस्तु है । देवदास तो प्रेम से निराश होकर शराब पीता है, वेश्या-गृह जाता है, पर पार्वती अचल और अटल रहती है । वह शराफत के दायरे से बाहर नही जाती । । इस प्रकार उसका जीना विशषत॰ देवदास की मृत्यु के बाद, शहादत का सबसे ऊँचा दर्जा है । ऐसे जीवन के बोझ के मुकाबले मे मृत्यु तो बहुत हल्की चीज है ।

जब रात एक बजे पार्वती ने देवदास के चरणो मे अपना सिर रख दिया, तो देवदास ने उसका विरोध किया । बाद को पार्वती ने भी सहज जिद से उसका विरोध किया । प्रेमी-प्रेमिकाओ मे होने वाले सैकड़ो झगडो मे यह एक ही है, पर इसका नतीजा भयङ्कर होता है । पार्वती का एक जमीदार से विवाह हो जाता है । विवाह होते ही यह बात सामने आती है कि वह सम्बन्ध अटूट है, पत्थर की लकीर है ।

### सामाजिक परिस्थितियाँ

यही पर शरत् बाबू सामाजिक प्रश्न पर आते है । दो के प्रेम मे सामाजिक शक्तियाँ किस प्रकार काम करती है, यह देखने योग्य है । पहली बात तो यह है कि देवदास के माँ-बाप इसी कारण राजी नही होते कि पार्वती के माँ-बाप अपेक्षाकृत गरीब है । इस समाज मे जिसमे धन ही सबसे बड़ी शक्ति है, उसमे गत यौवन पिता-माताओ की यह इच्छा कि उनकी सन्ताने अपने से ऊँचे तबके मे नही तो कम-से-कम बराबर मे शादी करे, बिलकुल उचित है । उसी समाज मे कई लड़को के विधुर बाप पार्वती की तरह एक फूल-सी कली

से शादी कर सकता है। और चूँकि यह समाज पुरुष-प्रधान है, इस कारण विवाह हो गया तो वह पत्थर की लकीर है।

इस दृष्टि से देखे जाने पर शरत् बाबू ऊपरी दृष्टि से प्रेम-कहानी कहते हुए भी सूक्ष्म-रूप वे क्रियाशील क्रांतिकारी के रूप मे हमारे सामने आते है। देवदास और पार्वती शरत् बाबू के दिमाग की उपज नही बल्कि वे भारतवर्ष के घर-घर मे मौजूद है। इस प्रकार भारतीय समाज की ढोल की पोल उन्होंने इस सुन्दरता से खोल दी है कि वह अतुलनीय है।

हम देखते है कि उन्होने पार्वती और देवदास की तरह एक दूसरे से अगाध प्रेम करने वाले व्यक्तियों से भूल से भी एक जगह भी चुम्बन नही होने दिया, बल्कि उसके अभाव को एक त्याग के रूप मे पेश किया है। उनका कथन कही यह नही है कि लोग तब तक इस पद्धति के सामने घुटन टेककर अपने जीवन को नष्ट करते रहे, जब तक कि समाज मे सामूहिक सुधार न हो जाय। पर शरत् बाबू अपने जीवन मे तलाक को चाहते हो या न चाहते हो पर उनकी पुस्तक 'देवदास' तो तलाक की आवश्यकता का जीता-जागता उदाहरण है।

अब तक मैने 'देवदास' के कथानक के जिस हिस्से की ओर पाठको की दृष्टि आकर्षित की है, वह तो बहुत सरल सा है। उसकी उलझने एक तलाक से सुलझ सकती है, ऐसा मालूम देता है, पर इसमे चन्द्रमुखी नामक एक वेश्या भी है, जिससे कथानक एक तरफ तो रोचक तथा दूसरी तरफ जटिल हो गया है। चन्द्रमुखी देवदास से प्यार करने लगती है। यहाँ तक कि उसी के कारण रूप की दुकान बटोरकर अपने जीवन मे काया पलट कर लेती है।

### *जटिल कथानक*

मैने इस जटिलता का उद्घाटन करते हुए 'शरच्चन्द्र एक अध्ययन' मे लिखा था कि "यदि मान लिया जाय कि स्त्री पुरुष के क्षेत्र मे प्रेम-जन्य विवाह अतिम ध्येय है, तो देवदास किसका है ? चन्द्रमुखी का या पार्वती का ? पार्वती भी देवदास से प्रेम करती है, फिर भी दूसरे से शादी कर लेती है, अवश्य ऐसा करने मे उसकी जिद के अलावा उसकी मजबूरियाँ भी है। जिद तो केवल एक ऊपरी रूप है। पर उधर चन्द्रमुखी को देखिए। यदि उसका ब्याह किसी भी कारण से भुवन चौधरी के साथ हो जाता, तो वह नियति को इस प्रकार न मान लेती। वह भाग जाती, वह न मालूम क्या करती। वह शायद एक फ्रेंच उपन्यास की नायिका की तरह देवदास के सम्मुख जाकर कहती, 'मै तुमसे अलग नही रह सकती। पत्नी की मर्यादा तुम मुझे भले

ही न दे सको परन्तु मै तुम्हारी उप-पत्नी तो होकर रहूँगी। साथ न छोड़ूँगी।' इसीलिए यह एक सामाजिक समस्या है। यदि दो स्त्रियो का एक ही पुरुष से प्रेम है, तो हमारे माने हुए प्रेम-जन्य विवाह के अनुसार उसका गठ-बन्धन किससे हो ? इसका उत्तर तो सहज मालूम देता है, वह यह है कि प्रेम-जन्य विवाह का तकाजा है कि आकर्षण पारस्परिक हो, किन्तु यह साथ ही कह दिया जाय कि वह व्यक्ति भी दोनो स्त्रियो को चाहता है, तब तो समस्या और भी जटिल हो जाती है। देवदास उपन्यास मे परिस्थिति सचमुच इसी हद तक पहुँच गई है, किन्तु चन्द्रमुखी वेश्या थी, इसलिए पाठक की सहानुभूति उसकी तरफ नही जाती। इस कारण पार्वती ही पार्वती नजर आती है।

### रोचक कथानक

कथानक का यह अश कहाँ तक वास्तविकता के स्तर पर है, इसमे सन्देह है। इसी कारण उपन्यास की पृष्ठभूमि मे वास्तविक समस्याएँ होने पर भी उसमे रोमाचकता आ गई है। अवश्य इससे कथा की रोचकता बढ गई है। इसी कारण बुद्धदेव बोस-जैसे समालोचक ने कहा है कि २५ साल पहले लोग शरत् बाबू को एक क्रातिकारी योद्धा समझते है, पर अब लोगो की राय बदल गई और वे समझने लगे है कि वे महज एक कथाकार थे।

### समस्या-पूर्ण कथा

कुछ भी हो 'देवदास' मे रीति-काव्य की अधिकता है। जो लोग किसी समस्या के पचडे मे नही पडना चाहते, उनके लिए 'देवदास' केवल एक प्रेम-कहानी है। पर जो लोग साथ-ही-साथ उसमे समस्या देखना चाहते है, उनके लिए भी इसमे मसाला है। 'देवदास' का आख्यान दिमागी नही, वह हमारी भावुकता पर चोट भी करता है। 'देवदास' मे चुभती और फडकती बातचीत तो बहुत है। पार्वती प्रेम की प्रतिमा है, उसमे मानो बुद्धि की प्रखरता की गुञ्जाइश ही नही। जब देवदास ने निराश होकर उसे छडी से मारा तो वह कहती है, "तुमने मेरे माथे पर कृपा करके बचपन का इतिहास लिख दिया।" वहाँ पर उसकी बाते प्रेम मे सनी है, जो कभी भुलाई नही जा सकती।

### सदा अमर रहेगी

भारतीय साहित्य मे प्रेम की इतनी सुन्दर कहानी एक भी नही। जब तक प्रेम और प्रेमिकाएँ रहेगी, तब तक यह कृति अमर रहेगी।

१५

# क्रान्तिकारी साहित्यकार वाल्टेयर

फ्रेंच साहित्य के बाहर बहुत थोडे लोग जानते है कि वाल्टेयर एक इतिहास लेखक, दार्शनिक तथा स्वतत्र विचारक होने के अतिरिक्त एक अच्छे कवि तथा नाटककार भी थे। अवश्य वालटेयर की मुख्य सेवा तथा ख्याति इसी बात मे है कि वे अपने जमाने मे एक प्रचड प्रचारक तथा एक जीवटदार विचारक थे। वालटेयर स्वभाव से ही बडे जोशीले थे। जिस बात के पीछे पड जाते, वे पड़ ही जाते थे, जब तक उसको मटियामेट नही कर देते, तब तक दम न लेते। इस जोशीले तथा कुछ हद तक उतावले स्वभाव के कारण उन्हे बार-बार तकलीफ उठानी पडी फिर भी न तो उनकी कलम ही बन्द हुई और न उनके जोश मे कोई भाटा आया। नक्कारे की आवाज की तरह करीब-करीब एक शताब्दी तक वालटेयर की आवाज अठारहवी सदी के यूरोपीय वायुमडल मे गूँजती रही। पहले जमाने के लेखकगण जिन बातो मे अनर्थक लकीर के फकीर हो रहे थे, तथा जन-समुदाय के जिन कुसस्कारो को साहित्य तथा इतिहास के रूप मे उपस्थित करते थे, वालटेयर ने अत्यन्त निर्दयता से उनका भडाफोड किया। और केवल यही नही उन्होने उनके लेखको को भी खूब आडे हाथो लिया, और सरे बाजार उनकी खिल्ली उडाई। किसी पाठक को यह बात पढकर शायद यह प्रतीत हो कि वालटेयर ने लेखको पर व्यक्तिगत रूप से प्रहार करके अच्छा नही किया, ज्यादती थी, उनके प्रतिपादित विषय की समालोचना तक उन्हे सीमित रह जाना चाहिए था, किन्तु नही, उस जमाने को देखते हुए वालटेयर ने जो किया वह उचित ही नही आवश्यक भी था।

### *अठारहवीं शताब्दी की स्थिति*

अठारहवी शताब्दी का पूर्वार्ध तथा बहुत-कुछ उत्तरार्ध भी लेसेफेयर का अर्थात् गतानुगतिकता के प्रति सम्मान का युग था। यह नही कि उस जमाने मे प्रतिभा का दुर्भिक्ष था, नही इस शताब्दी को प्रतिभा की औसत देन मिली

थी, किन्तु बात यह थी कि लोग आँख खोलकर देखना नही चाहते थे। किसी भाँति उनके कान पर जूँ नही रेंगती थी। एक अँग्रेज लेखक ने अठारहवी शताब्दी का अत्यन्त मर्म ग्राही चित्र खीचा है। वे लिखते है, "अठारहवी सदी के लोग जान एग्लेसेण्ट के कार्डिनल की तरह थे, अर्थात् उन लोगो ने अपने मन को ही इस प्रकार कर लिया था कि वे सतोषमय जीवन-यापन कर सके तथा उदासीनता भरी शान्ति के साथ सुधारक होने से उन्हे तनिक इन्कार था क्योकि उनका कहना यह था कि क्यो नाहक को हम जो चल रहा है उससे लड़ाई मोल ले, क्यो निश्चित असफलता को बुलाये और इस प्रकार एक नकचढा पैगबर का पार्ट अदा करें जिसकी बातें को सुनने के लिए कोई तैयार नही है।"

## *वालटेयर की प्रतिभा*

हेनरी टामस बकल को कोई भी व्यक्ति जो कि उसके सुप्रसिद्ध ग्रथ रत्न हिस्ट्री आव सिविलजेशन इन इग्लैड से परिचित है भावप्रवण अथवा रियासती समालोचक नही कह सकता। बकल मे एक बात बहुत अखरती है कि वह अँग्रेज प्रतिभा का बहुत कायल है, किन्तु फिर भी यही बकल वालटेयर का लोहा बखूबी मानता है और उसकी प्रशसा मे उसने पन्ने-पर-पन्ने रँग डाले है। बकल के इस सम्बन्ध मे समस्त उद्गार को हम यहाँ उद्धृत नही कर सकेंगे, फिर भी कुछ गिने-चुने वाक्यो को हम यहाँ उद्धृत करने का लोभ नही सवरण कर सकते। बकल लिखता है "फ्रास मे एक पुश्त के अन्दर इतिहास-लेखन-कला मे जो परिवर्तन हुआ वह अवाछनीय है।"

## *बोसिये तथा वालटेयर की तुलना*

इस परिवर्तन की थाह लेने के लिए कदाचित् सबसे अच्छा तरीका यह होगा कि हम बोसिये तथा वालटेयर की रचनाओ की तुलना करे, क्योकि ये दो लेखक फ्रासवासियो मे अपने-अपने युग के सबसे प्रमुख तथा प्रभावशील लेखक थे। पहली बडी विशेषता जो हमे बोसियो की वालटेयर के साथ तुलना करने मे दृष्टिगोचर होती है वह मानवीय बुद्धि की मर्यादा की स्वीकृति। हमे स्मरण रखना चाहिये कि बोसिये का अध्ययन ऐसी दिशा मे था जिससे कि उसको मानवीय बुद्धि की मर्यादा का सम्यक् बोध नही हो सकता था। उसने मानवीय ज्ञान की उन शाखाओ को स्पर्श भी नही किया था, जिनसे कि मानवीय बुद्धि अपने समस्त जौहर मे प्रकट होती है। उसने तो केवल पादरियो की किताबो को पढने मे भी जीवन बिता दिया है किन्तु वालटेयर की बात और थी। उसने अपना समस्त जीवन वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति मे न्यौछावर

कर दिया। उसका मन अनिवार्य रूप से आधुनिक था। प्रमाणहीन बाबा वाक्यों को पैरो तले रौदकर तथा परम्परा की तनिक भी परवाह न करके, उसने अपना समय ऐसे विषयो मे नियोजित किया जिनमे कि मानवीय तर्क का लोहा सभी मानने के लिए विवश थे। जितना ही उसके ज्ञान मे वृद्धि होती गई, उतना ही वह उन शक्तियो का कायल होने लगा जिसके द्वारा ज्ञान उपलब्ध होता है, अर्थात् विचार-शक्ति मे उसका विश्वास उत्तरोत्तर दृढ होता गया। इसके साथ-ही-साथ मानवता के प्रति उसका प्रेम दिन दूना और रात चौगुना होता गया।

## *नई इतिहास-लेखन-कला*

"वालटेयर-लिखित 'चार्लस बारहवाँ' मे यद्यपि अनेक त्रुटियाँ है फिर भी उसमे बोसिये की तरह पग-पग पर अप्राकृतिक हस्तक्षेप की कल्पनाएँ नही है।" इस कल्पना के लुप्त हो जाने से हम कह सकते है कि फ्रास की इतिहास लेखन-कला मे एक नयी शैली का सूत्रपात हुआ, "यह पुरानी शैली धर्मध्वजी पौराणिको के मतलब की तो थी, किन्तु स्वाधीन तत्त्वान्वेषी के हक मे बिलकुल घातक थी, क्योकि यह शैली केवल उसे एक रास्ता बताकर ही निवृत्त नही होती रही बल्कि उसके अनुसन्धान की गतिविधि पर एक कृत्रिम रोग लगा देती है।"

## *चौदहवें लुई का युग*

इस पुस्तक के लिखने के बाद वालटेयर कुछ समय तक गणित, पदार्थ-विद्या आदि पर गवेषणा करते रहे, फिर एक इतिहास-सम्बन्धी पुस्तक लेकर वे जनता के सामने आये। अपनी कम उम्र मे लिखित पुस्तक को उन्होने 'चार्ल्स बारहवाँ' नाम दिया था, किन्तु दूसरी पुस्तक का नाम था 'लुई चौदहवाँ का युग'। पहले उन्होने एक राजा की विचित्रताओ को लिपिबद्ध किया था, इस बार उन्होने एक जाति की हलचलो पर विचार किया। इस पुस्तक की भूमिका मे साफ लिखा है कि "एक मनुष्य की कार्यावली का नही बल्कि एक मनुष्य समुदाय के चरित्र की निवृत्ति" करना उसका उद्देश्य है। मानना ही पड़ेगा कि इस व्यापक उद्देश्य को उन्होने बखूबी निभाया है। सामरिक वृत्तान्तो का जिन पर कि बोसिये मरता था, थोडा बहुत वृत्तान्त देकर वे उन महत्त्वपूर्ण विषयो पर विस्तार से लिखते है जिनका कि उनके पहले के फ्रांस के इतिहासों मे कोई स्थान नही था। आभ्यन्तरिक व्यवस्था तथा व्यापार पर इस पुस्तक मे एक अध्याय, राजस्व वगैरह पर एक अध्याय, विज्ञान के इतिहास पर एक अध्याय तथा ललित कला की उन्नति पर एक अध्याय है।

यद्यपि वालटेयर पादरियो के पारस्परिक तथा कथित धार्मिक चोचलो को दो कौडी के बराबर ध्यान के योग्य भी नही समझते थे, फिर भी वे जानते थे कि मनुष्य जाति के कारोबार मे वे अक्सर महत्त्वपूर्ण अभिनय कर चुके है... इसलिए उन पर भी कुछ पन्ने रँग डाले।" कहना न होगा कि इस प्रकार लिखा गया इतिहास बोसिये वगैरह के लिखे हुए इतिहासो से ही नही बल्कि उसके पहले लिखे गए इतिहास पर भी तरक्की थी।

### *जन्म और बाल्य-काल*

वालटेयर का असली नाम फ्रॉस्वाभारि आरुए था। उनके पिता का नाम फ्रास्वा आरुए था, वे एक मामूली कर्मचारी थे। १६६४ ईस्वी के २१ नवम्बर को पैरिस शहर मे वालटेयर का जन्म हुआ। उनका परिवार पैरिस के शिक्षित भद्र समाज मे से था, इसलिए उनके स्वभाव मे स्वाधीन समालोचना, बडो के प्रति एक सम्मानपूर्ण तथा भद्र घृणा, सर्वोपरि कार्यकारी बुद्धि ये सब गुण उन्हे स्वत ही प्राप्त हो गए थे। उनकी शिक्षा जेसुइटो की देख-रेख मे हुई थी, इसलिए उसका भी उनके चरित्र पर जबर्दस्त प्रभाव पडा था। जेसुइट सम्प्रदाय अनिवार्य रूप से धार्मिक सम्प्रदाय है। इसलिए १७०१ मे जब उनको इनकी सस्था मे प्रविष्ट कराया गया और शिक्षको ने थोडे ही दिन मे एक ओर तो उनकी उन्मेषशालिनी बुद्धि, अलौकिक विचार-शक्ति को देखा और दूसरी ओर उनकी बात-बात पर अनास्था तथा अश्रद्धा देखी तो बहुत चकराये। वे एक ही साथ अपने शिक्षको के गौरव तथा भय के कारण-स्वरूप हुए।

### *शिक्षा-काल का वातावरण*

जेसुइट के धर्ममतो को अपनाने मे तो वालटेयर ने बडी आना-कानी की, किन्तु उनको दी हुई साहित्यिक शिक्षा को उन्होने बडे तपाक से ग्रहण किया। प्राचीन लेखको के प्रति श्रद्धा तथा सत्रहवी सदी के लेखको के प्रभाव मे वे प्रतिपालित हुए, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनकी रुचि बहुत मार्जित हो गई तथा फ्रेंच भाषा की आत्मा तक वे पहुँच गए।

वालटेयर हमेशा उत्तर जीवन मे अपनी शिक्षा के दिनो को बडे प्रेम से स्मरण करते रहे। यह केवल इसलिए नही कि उन्हे बडे अच्छे शिक्षक प्राप्त हुए थे, बल्कि वहाँ उनकी कुछ ऐसे लोगो से मित्रता हुई जो कि बाद को उन पर बार-बार आने वाली विपत्ति की आँधियो मे मजबूत छत की तरह प्रमाणित हुए।

### *शील और स्वभाव*

१७१३ मे वालटेयर इस सस्था से शिक्षा समाप्त करके लौटे। उनके धर्म-पिता आब शातोनेफ ने उन्हे इधर-उधर बडे लोगो से परिचित करा दिया। नवयुवक वालटेयर के विचित्र मत कुछ-कुछ पहले से लोगो पर खुल गए थे, इसलिए कुछ पदस्थ व्यक्तियो ने केवल कौतुकवश उन्हे अपनाया। एक से उन्हे धन की एक बडी रकम भी प्राप्त हुई। फासिस्क वियाल लिखते हैं "युवक आरुए में वे सभी गुण तथा अवगुण प्रचुर मात्रा मे वर्तमान थे जिनके बल पर मनुष्य लोक-समाज मे सफलता प्राप्त करता है। चचल, उत्तेजनीय प्रशसा तथा आनन्द के लिए बुभुक्षु, विलक्षण बुद्धियुक्त, अक्लान्त रूप से ओजस्वी, कभी मृदु तथा कभी तीक्ष्ण व्यग से युक्त वे सभी समय लोगो के लिए दिल-चस्पी की चीज थे।"

### *सफल एवं श्रेष्ठ कवि*

वालटेयर ने ऐसे समय का खूब उपयोग किया। वे अविराम गति से कविता लिखते गए। कहना न होगा कि इन कविताओ मे वालटेयर का चरित्र पूर्ण रूप से प्रतिफलित होता था। वालटेयर ऐसा करते थे कि एक कविता लिखकर किसी एकेडेमी मे सामने पेश करते, यदि एकेडेमी ने उनकी प्रतिभा की कद्र करके उन्ही को पुरस्कार दिया तो अच्छी बात है, नही तो फिर उसकी खैर नही। एकेडेमी के हजो मे तथा अपने प्रतिद्वन्द्वियो की निन्दा मे बात-की-बात मे वे कविता लिख डालते थे। इस प्रकार वह जल्दी ही एक प्रसिद्ध व्यक्ति हो गए। यह बात नही कि वे तार्किक तथा विद्रोही के रूप मे ही प्रख्यात हो गए, नही उनकी कविता वस्तुत. अच्छी थी, ओज उस कविता मे कूट कूटकर भरा था। और वे शीघ्र ही तत्कालीन प्रसिद्ध फ्रेच कवियो के समकक्ष तथा प्रतिद्वन्द्वी समझे जाने लगे।

### *प्रगतिशील समाज के मुकुट-मणि*

वर्साई की राज-सभा की छत्र-छाया मे पनपने वाले साहित्यिको की कृत्रिमता तथा क्लिष्टता से ऊबकर कुछ लोगो ने, जिनमे कि देश के बडे-बडे ड्यूक आदि सम्मिलित थे, एक गुट बनाया था। इस गुट के लोग बहुत ही मार्जित रुचि के थे, फिर भी बातो मे तथा शिष्टता मे ये लोग एक नई परिपाटी का प्रवर्तन कर चुके थे। यह गुट सोसियेते दि ताप्ल के नाम से परिचित था। इसमें ऐसे-ऐसे लोग थे जैसे आवेद शोलियॆ, ला फार, लाबेद बिसि, लाबे कुर्ता, कौंतिका प्रास, दिक द सिलि इत्यादि। इनमे से कोई भी नाम फ्रास के बाहर परिचित नही है, किन्तु ये समसामयिक फ्रास मे प्रभावशाली व्यक्ति समझे

जाते थे। वालटेयर अपनी मनोहर भाषा, कर्मशक्ति तथा विचित्र स्वभाव के कारण शीघ्र ही इस समाज के मुकुट-मणि हो गए। यह कोई छोटी बात न थी।

### एक वर्ष की जेल-यात्रा

वालटेयर का जीवन इस प्रकार चैन मे व्यतीत हो रहा था, धीरे-धीरे उनकी प्रतिभा दिग्विजय कर रही थी, इतने में एक घटना हुई जिससे कि उनके जीवन की इस अनायास अलबेली गति मे बाधा हुई। एक शरारत से भरी कविता, जो लुई चौदहवें की स्मृति के लिए अपमानजनक थी, खूब बँटी किन्तु इसमे किसी का नाम नही था। कविता थी बडी फडकती हुई, लोगो ने इसे खूब पढा और खूब हँसे। कुछ लोगों ने कहा कि भाई सिवा वालटेयर के यह किसी की लिखी हुई नही हो सकती। लोग कहने लगे कि इस तरह की फड़कती हुई चीज और किसी की कलम से नही निकल सकती। इस बात के फैलने से और भी कह-कहा लगा, होते-होते परिणाम यह हुआ कि वालटेयर पर विपत्ति के बादल टूट पडे। और वालटेयर १७ मई १७१७ को जेल मे बन्द कर दिए गए। वालटेयर ने बहुतेरा कहा कि बाबा यह कविता मेरी लिखी हुई नहीं है, किन्तु एक नही सुनी गई। साल भर तक वे जेल मे रखे गए।

### काव्य का प्रणयन

इस जेलवास का परिणाम वालटेयर पर अच्छा ही हुआ, क्योकि वे सोचने के लिए तथा लिखने के लिए विवश हुए। बडे धडल्ले से उन्होने कविता लिखनी शुरू कर दी। हेनरी चतुर्थ के ऊपर उन्होने एक काव्य लिखा जिसका बाद मे 'हेनरिडे' नाम हुआ। पहले ही उन्होने 'ओडिपी' नाम से एक नाटक लिखा था, अब उन्होने उसका पुनर्लिखन किया। अपने जेल-जीवन पर भी उन्होने एक हास्यरसात्मक कविता लिखी। अन्त मे वालटेयर की निर्दोषिता अधिकारियो पर प्रकट हो गई और वे मुक्त कर दिए गए।

### सर्वतोमुखी प्रतिभा का विकास

१८ नवम्बर सन् १७१८ मे वालटेयर लिखित नाटक 'ओडिपी' बडी सफलता से खेला गया। इसके ४५ अभिनय हुए। स्मरण रहे कि वालटेयर की उम्र उस समय केवल २४ वर्ष की थी। इसी के बाद वालटेयर ने अपना नाम वालटेयर कर लिया। इस तरह कदाचित् उन्होने अपने उस भूत काल से अपने को विच्छिन्न कर लिया जिसकी बहुत-सी बाते शायद वे पसन्द नही कर रहे थे। एक व्यंग्य-काव्य-लेखक तथा हल्की कविताओ के कवि रूप मे अब वे अपने को दिखाना नही पसन्द करते थे।

अब वे महाकवि तथा युग प्रवर्तक लेखको मे अपनी गणना कराना चाहते थे। वालटेयर इसके बाद पुस्तक के बाद पुस्तक लिखते गए। वालटेयर का स्वप्न सफल हुआ, अब वे केवल फ्रास की सबसे जगमगाती हुई प्रतिभा ही नही बल्कि अपने दु खान्त नाटको से तथा कविता से समसामयिक कवियो मे प्रमुख हो रहे थे।

## *सार्वजनिक क्षेत्र में सफलता*

वालटेयर को सार्वजनिक क्षेत्र मे सफलता बराबर मिलती गई। राज-सभा मे भी उनकी तूती बोलने लगी। राजा ने तथा रानी ने उनका भत्ता बाँध दिया। चारो तरफ वालटेयर की प्रशसा-ही-प्रशसा होने लगी। वालटेयर ने अब धन बटोरना आरम्भ किया और इसमे उन्हे प्रभूत सफलता मिली। लक्ष्मी और सरस्वती दोनो जैसे उन पर कृपा करने के लिए होड करने लगी। लेकिन वालटेयर को यह सब सुख-सौभाग्य नही फला, एक नई उलझन की स्थिति उत्पन्न हो गई।

ड्यक सिली के यहाँ बहुत से लोग एकत्र थे। वालटेयर अपने स्वभाव से मजबूर थे, वे बहुत जोर-जोर से बोल रहे थे। उस जमघट मे देश के बडे गण्यमान्य सज्जन थे। शिवालियेर ट्या रोहा शाबो ने जब देखा कि एक युवक बडे जोर-जोर से बोल रहा है, तो उन्होने कहा—"यह जो महाशय जोर-जोर से बोल रहे है यह कौन है ?"

शिवालियेर ड्य रोहा शाबो ने यह प्रश्न वालटेयर से नही पूछा था, किन्तु वालटेयर ने सुन लिया, फिर क्या था, वे बोल उठे, "हजरत खाकसार कोई तूलतबीलदार नाम धारण नही करता, किन्तु जिस छोटे-मोटे नाम को वह धारण करता है उसे सम्मानित करता है।"

## *नई उलझन के जाल में*

उत्तर अवश्य ही वालटेयर के ही उपयुक्त था, किन्तु इस उत्तर ने बडा गजब ढाया। इसके कुछ दिन बाद उस अमीर ने भुलावा देकर वालटेयर को अपनी आँखो के सामने खूब पिटवाया। वालटेयर इस पर बहुत लाल-पीले हुए, अमीर से अपमान के लिए जवाब तलब किया। भला अमीर के पास क्या जवाब था जो वह देता ? नतीजा यह हुआ कि वालटेयर उबल पडे, उन्होने कहा कि "अच्छी बात है मौके से मै इसका बदला लूँगा।" इसका यह उत्तर मिला कि वालटेयर को "लेत्र दे काशे" मिला, याने वे गिरफ्तार करके जेल मे डाल दिए गए। यह १७ अप्रैल सन् १७२६ की बात है। याने पहली नजरबन्दी के कोई ६ साल बाद। प्राय. एक महीने के बाद वे

इस शर्त पर रिहा कर दिए गए कि अब वे फ्रास छोडकर इग्लैड मे रहेगे। क्या करते वालटेयर एक जेल-कर्मचारी की देख-रेख मे इग्लैड के लिए जहाज मे रवाना हुए। वालटेयर देखने मे चले तो गये, किन्तु कुछ दिनो मे ही बदला लेने के लिए फिर छिपकर आये। पेरिस मे छिपकर उन्होने शेवालियेर दे रोहा शाबो की बडी खोज की, किन्तु वह दुश्मन कही ढूँढे न मिला। क्या करते, लाचार होकर वालटेयर इंगलिस्तान को लौट गए और वहाँ तीन साल रहे।

इसमे सन्देह नही कि इस तीन साल के निर्वासन का प्रभाव उसके समस्त चरित्र तथा विचार-धारा पर जबर्दस्त पडा। पेरिस मे वे लोगो को साहित्यिक तू-तू मैं-मैं तथा आडम्बर मे जीवन व्यतीत करते देखते थे, यहाँ उन्होने देखा कि लोग जीवन को अधिकतर गभीर रूप से लेते है। बकल ने वालटेयर के जीवन की इस घटना का ऐसे वर्णन किया है जैसे इग्लैड ने ही वालटेयर बनाया, किन्तु इस बात को मानते हुए भी कि न्यूटन, लाक, शेक्सपीयर आदि से वालटेयर ने बहुत-कुछ सीखा जैसे कि कोई भी ग्रहण-शक्ति-समर्थ व्यक्ति सीखता, और उनकी विचार-धारा तथा प्रकाश-प्रणाली मे बहुत-कुछ परिवर्तन तथा उन्नति हुई, हम इस बात को मान सकते है। विशेषकर बकल के मुँह से हम इस बात को जरा मुश्किल से ही कबूल कर सकते है। बकल ने एक अध्याय मे यही गिनाया है कि यूरोप की कौन-कौन सी विभूतियाँ इग्लैड से गई थी तथा उनमे से कितने अग्रेजी जानते थे। यह बात सही है कि इगलैड मे जाने से उनके विचारो मे परिपक्वता, दृढता, तथा सजीवता आ गेई। धार्मिक दार्शनिको के बाल की खाल निकालने मे उनकी आस्था पहले ही उठ गई थी, सर्व प्रकार से कट्टरपन से वे पहले ही हाथ खीच चुके थे, तानाशाही के वे पक्के दुश्मन थे ही, स्वाधीनता, परम सहिष्णुता तथा तर्क के वे हामी थे ही। इगलिस्तान की अनूकूल आबो-हवा मे केवल इन विचारो को खुराक मिली। यह बात भी यहाँ माननी पडेगी कि यदि वालटेयर इगलिस्तान के बजाय और कही भी उस समय के यूरोप मे रहते तो उन्हे कदाचित् क्या अवश्य ही इतना लाभ नही होता। यह लाभ उन्हे दार्शनिक तथा साहित्यिक दोनो क्षेत्रो मे हुआ।

मार्च १७२९ मे वे अपनी जन्मभूमि मे पहले से अधिक प्रसिद्ध होकर लौट आए। १७३० मे उनका 'बूटस' नामक नाटक सफलता के साथ खेला गया। १७३१ मे 'चार्ल्स बारहवे का इतिहास' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई।

१७३२ मे 'एरिफिल' नामक नाटक प्रकाशित हुआ, किन्तु यह सफल न रहा। उसी सन् मे २२ दिन के अन्दर लिखा हुआ एक नाटक और प्रकाशित हुआ। यह फ्रास मे अभूतपूर्व सफलता से खेला गया। लोगो ने कहा कि वालटेयर ने कर्नेई को तो पछाड दिया और फ्रास के तब तक सर्वश्रेष्ठ कवि रासिन की बराबरी की। कहा जाता है कि इस नाटक मे 'ओथेलो' की छाया है।

१७३३ मे वालटेयर ने ला तॉम्प्ल दी गुयाने 'रुचि मन्दिर' नामक एक पुस्तक कविता मे लिखी। इस पुस्तक मे असल मे वालटेयर ने अपनी स्वभाव-सिद्ध स्वतन्त्रता से अखिल साहित्य पर अपना मत व्यक्त किया। कहना न होगा कि वालटेयर ने अपने समसामयिको पर खूब हाथ साफ किया था, इसके अतिरिक्त सत्रहवी सदी के लेखको को यहाँ तक कि बोआलो, रासिस, कोर्नेई, फोतनेल को भी, जिनके सम्बन्ध मे फ्रेंच जनता मे आदर भाव था, अछूता न छोडा। वालटेयर ने बाद को स्वयं ही इस पुस्तक के सम्बन्ध मे कहा था "यह तो कुछ कुत्सारूपी पत्थरो का ढेर है।"

१७३४ मे वालटेयर ने अपना लेटर्स फिलासफिक आन लेटर्स अनलेसेस प्रकाशित किया। इस बार वालटेयर ने एक सम्पूर्ण नई बात की थी। अब तक तो वालटेयर ने अपनी कविता, नाटको तथा लेखो मे प्रचलित पद्धति के विरुद्ध दो एक ताने कस दिए थे, लोगो ने उन्हे हँसकर भुला दिया था, किन्तु अब की बार तो वालटेयर ने कैथोलिकवाद तथा राजतन्त्र के गढ के ऊपर खुलकर गोलाबारी की थी। अब की बार वालटेयर एक दार्शनिक, समाज-विद्रोही, तथा बुद्धिवादी परम्परा के शत्रु रूप मे जनता के सन्मुख आये। वालटेयर ने इस पुस्तक मे इंगलिस्तान के विभिन्न फिरके, पार्लमेंट, शासन-पद्धति, राजस्व, शुल्क-नीति, व्यापार, शिष्टाचार, बेकन, लाक, न्यूटन, क्लार्क, शेक्सपियर, मिलटन, पोप एक शब्द मे इंगलिस्तान के धार्मिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक सब पहलुओ पर दृष्टि डाली थी। और इस तरह से उन पर टिप्पणी की थी कि फ्रास की सभी बाते खराब है, फ्रास का धर्म सड़ गया है, शासन-पद्धति बाबा आदम के जमाने की है इत्यादि। भला ऐसी बाते धर्मध्वजी प्रभावित फ्रास को कब भाती ? पुस्तक की सब कापियाँ जला दी गई, पुस्तक का प्रकाशक भी गिरफ्तार कर लिया गया। वालटेयर भाग निकले।

वातावरण शात होने पर वालटेयर जब लौटे भी तो पैरिस में नही। वे सरहद के निकट एक अमीर के आश्रम मे रहने लगे। यहाँ वे मादाम द्य शातले नामक एक विदुषी पर आसक्त हो गए। सब बातो को देखते हुए इस विदुषी

का प्रभाव वालटेयर पर अच्छा पडा। वालटेयर पहले साहित्यिक तू-तू मैं-मै म बहुत समय व्यतीत करते थे, अवश्य ऐसी लडाई मे वे हमेशा विजयी होते थे, किन्तु इससे उन पर जो कीचड पडता था वह कुछ रह ही जाता था। वालटेयर ऐसे-ऐसे व्यक्तियो के साथ साहित्यिक हाथापाई में प्रवृत्त हो जाते थे, जिनकी कि यदि वे अवहेलना करते तभी अच्छा होता। इस निरन्तर झाँय-झाँय मे उनका बहुत समय नष्ट होता था और वे किसी गंभीर विषय के लिए समय नही निकाल पाते थे। मादाम शातले ने उन्हे टुच्ची बातो से निवृत्त किया। मोशिये फागिये ने तो कहा है कि यह महिला उनके लिए "एक दूसरा इगलैड" प्रमाणित हुई। इसी महिला के प्रभाव मे आकर वालटेयर ने पदार्थ विद्या का गभीर अध्ययन किया तथा १७३८ मे न्यूटन पर एक पुस्तक लिख डाली।

मादाम शातले को इतिहास से घृणा थी। वालटेयर ने निश्चय कर लिया कि वे मादाम की घृणा को यह दिखाकर दूर कर देंगे कि इतिहास भी दार्शनिकता पूर्ण हो सकता है, इसलिए उन्होने 'लुई चौदहवे की शताब्दी' पुस्तक जोरो से लिखनी शुरू की। इसके साथ ही उन्होने शार्लमेन के समय से एक 'साधारण इतिहास' लिखना शुरू किया। साथ-ही-साथ वे कविता लिखने लगे। इस बीच मे उनके बहुत से नाटक भी प्रकाशित हुए।

१७३६ मे लेमोनडेन तथा और भी कई पुस्तके प्रकाशित हुई जिससे उनकी दार्शनिक विचार-धारा सम्यक् रूप से जनता के सम्मुख उपस्थित हुई। लेमोनडेन नामक पुस्तक मे कदाचित् वालटेयर की दार्शनिक विचार-धारा परिपक्व रूप मे नहीं आई थी, फिर भी वह उस जमाने की पारलौकिकता तथा क्लीब आध्यात्मिकता के विरुद्ध अच्छा विद्रोह था। लोग उस जमाने मे, जिसको अग्रेजी मे फावड़ा को फावडा कहना कहते है, वैसा नही कहते थे। ढोग तथा बावन गज की बातो का बोल-बाला था।

१७७६ मे वालटेयर को पेरिस-स्थित आकादेमि फ्रासेस मे बैठने का अधिकार मिला। इस बीच मे वालटेयर ने मादाम द्य पंपादुर तथा जैसुइटो की कृपा दृष्टि पा ली थी। वहाँ पर बैठने को मिलते ही उन्होने एक नई बात की थी, पहली वक्तृता मे लोग महान् कार्डिनल की प्रशसा करते थे, वालटेयर ने इसके बजाय फ्रेच भाषा की प्रतिभा पर एक वक्तृता दे दी। छ. महीने बाद वालटेयर को राजा के यहाँ से एक अत्यन्त सम्मानजनक उपाधि मिली। वालटेयर के जीवन मे यह निरवच्छिन्न सुख शान्ति का जमाना था। डचेस थिमेन के यहाँ आमोद-प्रमोद होते थे। इसी समय वालटेयर ने कहानी की

तरह पर एक पुस्तक लिखी, जो कि उनकी रचनाओं में एक विशिष्ट चीज है।

वालटेयर ने कुछ दिन तक तो सभासद् का पार्ट खूब अदा किया, किन्तु बकरे की मॉ कब तक खैर मनाती। वालटेयर एक तो वाचाल स्वभाव के थे और लोग उनकी बात भी बहुत सुनते थे। ऐसी अवस्था मे जो होना था वही हुआ, वालटेयर एक दिन कहते-कहते कुछ ऐसा कह गए जिससे मादाम द्य पपादूर उनसे फिरट हो गई। ढूँढ करके प्राचीन कवि क्रेविलो को निकाला गया और मादाम द्य पपादूर ने उसको बढावा देना शुरू किया। अभिमानी वालटेयर सिरे लौट गए। वहाँ उन्होने अपने प्रतिद्वन्द्वी क्रेबिलों को आडे हाथो लेना शुरू किया। क्रेविलो जिस विषय को लेकर नाटक लिखते वालटेयर भी उसी विषय को लेकर केवल यह दिखाने के निमित्त लिखते कि इसी विषय पर कितनी उत्तम रचना लिखी जा सकती है। अन्त मे वालटेयर कुछ दिनो मे अपनी इस हास्यास्पद मनोवृत्ति को समझ गए।

इसी के बाद मादाम द्य शातले की मृत्यु हो गई। इस घटना से वालटेयर के ऐसे भावप्रवण व्यक्ति को कितनी चोट लगी इसकी कल्पना उनकी उस समय के पत्रो से की जा सकती है। इसके बाद वालटेयर प्रशिया की राजसभा मे चले गए। यहाँ इस समय वही राजकुमार जिन्होने वालटेयर को एक महाकवि बतलाया था फ्रेडरिक द्वितीय के नाम से गद्दी नशीन थे। वालटेयर एक तो आश्रयहीन होने से दुखी थे, वर्साई की राजसभा पर खार खाये हुए थे, इसलिए उन्होने इस निमन्त्रण को बदला लेने के लिए स्वीकार किया। यह सन् १७५० की बात है।

पर बर्लिन पहुँचते-पहुँचते १० जुलाई, १७५१ हो गया। वे तीन साल प्रशिया मे रहे। फ्रेडरिक से उनकी अच्छी तरह बनी नही। फिर वे अपने स्वभाव के कारण कई झगडो तथा पचडो मे उलझते रहे। एक सभासद् के साथ झगडा होने पर उस पर एक पुस्तक ही लिख डाली जिसका नाम था Diatribe du Docteur Akakia। झमेले इतने बढ गए कि फ्रेडरिक नाराज हो गए, और वालटेयर १७५३ के २६ मार्च को चल दिए। पर फ्रान्स मे गये तो वहा किसी ने चोरी से उनकी पुस्तक 'Essais sur les moeurs छाप दी, नतीजा यह हुआ कि उन्हे फ्रान्स मे रहने की अनुमति नही मिली। पर फ्रान्स मे रहने की अनुमति न मिलने का अर्थ केवल पैरिस तथा उसके इर्द-गिर्द न रहने की अनुमति थी। वे घूमते-घामते रहे। अन्त मे उन्होने जेनेवा, सार्डिनिया, फ्रान्स के सन्धि-स्थल पर एक आवास ग्रहण किया, और वहाँ एक रगमंच भी कायम किया, जिसके वे सर्वेसर्वा हो गए। यहीं

पर उनके कई सफल नाटक लिखे गए । १७५८ मे उन्होने फेर्ने मे कुछ भू सम्पत्ति खरीदी । यहाँ आकर उन दिनो के कई प्रसिद्ध व्यक्ति उनसे मिले । १७७७ के अन्त मे वे पैरिस बुलाये गए, और वहाँ जनता ने उनका बडा स्वागत किया । २८ वर्ष बाद वे पैरिस गये थे । पैरिस मे उनका नाटक 'ईरीन' बहुत सफल रहा । पर उनका स्वास्थ्य गिरने लगा । ३० मई को वे मर गये । रोमन कैथोलिको के अनुसार उनसे मरते समय पाप स्वीकार करने को कहा गया, पर उन्होने हाथ हिलाकर पादरियो को हटा दिया, और मर गए। मरने के बाद कब्र देने मे झगडा पडा । क्योकि पाप स्वीकार बिना किये किसी रोमन कैथलिक को कब्र मे नही रखा जा सकता था । इस प्रकार वालटेयर मरने के बाद भी झगड़े के विषय बने, और एक वितर्क छिडा । १७६१ की १० जुलाई को उनकी अस्थियो को पैनथियन मे भेजा गया, और फिर उसे खोद कर निकालकर कही बजर मे गाड दिया गया । १८६४ मे यह प्रस्ताव हुआ कि उन्हे फिर पैनथियन मे रखा जाय, पर अब की बार अस्थि-पात्र खोला गया, तो देखा गया कि अस्थि ही गायब है । इस प्रकार जिस व्यक्ति ने सामन्तवाद की हार मे एक प्रमुख भाग लिया, उसे खुद मरने के बाद भी छुट्टी नही मिली ।

वालटेयर का साहित्य उस युग मे बहुत क्रान्तिकारी साहित्य था । आज भी उसका बहुत-सा भाग हमारे लिए क्रान्तिकारी बना हुआ है ।

-१६

# साहित्य का नया कर्तव्य

बदली हुई परिस्थितियो मे साहित्य का बदलना जरूरी है। सहित शब्द से साहित्य की जो व्युत्पत्ति बताई गई है, इससे भी यही सूचित होना है। साहित्य जाति के सहित चलेगा, इसी में साहित्य की सार्थकता तथा उपयोगिता है। पर प्रश्न तो यह है कि क्या परिस्थिति बदली है ?

इस प्रश्न का उत्तर देना पड रहा है, यही सूचित करता है कि कुछ लोगो के अनुसार परिस्थिति बदली नही है। पर यह मत अत्यन्त भ्रात है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद किस प्रकार बीसियो वर्ष से हमारी प्रगति के सब रास्तो को रोक कर बैठा था, इसे हम बखूबी जानते है। इसलिए यहा से उसका बिस्तर बध जाना कुछ है नही, ऐसा जो लोग समझते है या प्रचार करते है उनके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वे तथ्य से कोसो दूर हैं। मैं इस प्रसग मे अधिक कड़े शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर नही कर रहा हू।

फिर भी यह एक तथ्य है कि हमारे साहित्य मे स्वतत्रता प्राप्ति का जिस प्रकार प्रतिफलन होना चाहिये था, वह नही हुआ। हमारे साहित्य से मेरा मतलब सारे भारतीय साहित्य से है। शायद ही किसी अच्छे लेखक की कहानी मे स्वतन्त्रता प्राप्ति का आनन्द झलका हो, बल्कि इसके विरुद्ध कडवापन ही प्रतिफलित हुआ। मैने स्वय कई कहानियाँ लिखी जो बहुत कडवापन लिये हुए थी, उनमे भ्राति-भग का वातावरण था। ऐसा ही औरो ने किया। यह न समझा जाय कि यह किसी षड्यत्र के कारण हुआ।

इसके लिए ऐतिहासिक कारण थे। वे ऐतिहासिक कारण क्या थे, इस पर भी दो शब्द कह दिए जायँ। पहली बात तो यह हुई कि स्वतन्त्रता प्राप्ति की घोषणा के साथ ही देश का धार्मिक विभाजन हुआ। बहुतो के लिये यो ही हमे जो अधूरी, सिमटी हुई, भग्नाग स्वतन्त्रता मिली, उसका कोई महत्त्व नही था, पर इस कारण तो उनके निकट स्वतत्रता का कोई अर्थ ही नही

रहा। फिर इसके पहिले जो भयंकर दगे हो चुके थे, और जो दगे १५ अगस्त, १९४७ ई० के बाद पहले से दसगुने हो गये, उनकी खबरो से देश मे जो भावना फैली, उसमे खुशी का कोई स्थान नही हो सकता था। लाखो की तादाद मे लोग बे-घर-द्वार हो गए, भयकर नर-हत्या हुई, स्त्रियाँ भगाई गई, बेइज्जत की गयी उनके स्तन काट लिये गये, बच्चो को बेरहमी से मारा गया।

स्वाभाविक रूप से इनसे इतनी समस्याओ की उत्पत्ति हुई कि नई सरकार को उन्हे सुलझाने मे लेने के देने पड गए। लाखो शरणार्थियो को फिर से बसा देना किसी भी सरकार के लिए बडी कठिन बात थी। इस कारण इस युग के साहित्य मे टार्च लेकर ढूँढने पर भी आनन्द की कोई रेखा नही मिलती, मिलती है निराशा, कडवापन, घबड़ाहट। दगो पर सैकडो कहानियाँ लिखी गई, लेखको के लिए यह एक अच्छा विषय हो गया और इन कहानियो मे न तो कही स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उल्लास का पता था, और न उनमे यही आशावाद था कि चलो अभी न हुआ न सही भविष्य मे समस्याएँ सुलझ जायेगी। सदियो की गुलामी के अन्त का उल्लास कही नही था।

दूसरो को क्या कहूँ, मैने भी ऐसा ही किया। मैने जेल मे रहते समय १९४७ ई० मे 'गृहयुद्ध' नामक उपन्यास लिखा था। उसका विषय हिन्दू-मुसलमान दगा था, उसमे अन्त सलिला फल्गु नदी की तरह आशावाद की एक तगडी धारा थी। पर १९४७ ई० मे मैने इसी विषय पर जो 'चक्की' लिखी, उसका वातावरण तुलनात्मक रूप से निराशापूर्ण है। तबसे इस विषय पर कई उपन्यास देखने मे आये, उन सबका यही हाल था। मै अपनी रचनाओ का इस कारण बार-बार उल्लेख कर रहा हूँ कि एक सज्ञान विचार-धारा के बावजूद परिस्थितियो ने मेरी कलम से भी अपना ही चित्र खिचवा लिया। सचमुच परिस्थितियाँ बडी निराशापूर्ण हो रही थी। पर लेखक केवल वर्तमान का फोटोग्राफर नही, उसके केमरा मे भविष्य की आशाएँ भी झलकनी चाहिएँ।

इन सबके तुरन्त बाद ही आया काश्मीर का युद्ध। लेखकगण तो अब तक इस पर कहानियाँ लिख रहे थे, पर यह एक विशेष मार्के की बात है कि राजनैतिक दृष्टि से काश्मीर की उलझन कैसी भी समझी जाय, साहित्य-क्षेत्र मे इसकी प्रतिक्रिया अच्छी ही रही। जब से मिस्टर जिन्ना ने दो राष्ट्र-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, तब से एक घटना के बाद दूसरी घटना ऐसी घटित हो रही थी कि प्रति पग पर उनके सिद्धान्त का प्रत्यक्ष समर्थन ही होता जा रहा था। जब उत्तर-पश्चिम सीमाप्रात के पठानो का भी बहुमत पाकि-

स्तान के पक्ष मे रहा, तब तो बहुतो की दृष्टि मे हिन्दू-मुस्लिम की एक-जातीयता का सिद्धान्त बिलकुल टूट गया।

पर जब काश्मीर के शेख अब्दुल्ला ने गरजकर कहा, हम भारत के साथ रहेगे, तब कुछ धारा बदली। इसी कारण जैसा कि मैने कहा काश्मीर युद्ध पर जितनी भी कहानियाँ निकली, उनमे एक नृत्यशील आशावाद की अंतर्धारा है। काश्मीर युद्ध के मामले मे साहित्यिको ने पूरे तरीके से राष्ट्रीय सरकार का साथ दिया। इस विषय पर कई कहानियाँ बहुत अच्छी रही।

पर यह तो एक पहलू है, बाकी सब पहलू असन्तोष के सूचक रहे। गत वर्षो के साहित्य मे आनन्द का उपादान कम है, और विषाद का अधिक। मैने जिन ऐतिहासिक कारणो को गिनाया, उनके अलावा कुछ ऐसे कारण थे जैसे भ्रष्टाचार, पुरानी नौकरशाही की धाँधली, जिनको किसी एक परिभाषा के अन्दर लाना कठिन है, पर उनके कारण असन्तोष बढा।

जब तक स्वतन्त्रता का सग्राम जारी था, तब तक संग्रामकारियो मे उद्देश्य तथा लक्ष्य की विभिन्नता, यहाँ तक कि किसी-किसी क्षेत्र मे परस्पर विरुद्धता होने पर भी सब कन्धे से कन्धा भिडाकर उस सग्राम मे शामिल थे, पर स्वतन्त्रता मिलते ही विभिन्न स्वार्थो की परितृप्ति का मौका नही मिला, वही असन्तुष्ट हो गए। भूतपूर्व काग्रेसजनो मे से बहुत इस कारण असन्तुष्ट हो गए और असन्तुष्ट है कि स्वतन्त्रता-सग्राम तो उन्होने लडा और शासन के पदो पर पहले की नौकरशाही बनी रही। कहना न होगा, यह असन्तोष बिलकुल बेबुनियाद नही था। इसका भी साहित्य मे प्रतिफलन हुआ।

मजदूर जो कुछ चाहते थे, वह उन्हे नही मिला, किसान जो कुछ चाहते थे, वह उन्हे नही मिला। इस प्रकार असन्तोष बढा। विशेषकर वामपक्षी लेखको की कृतियो मे यह असन्तोष झलका, और मजे की बात है कि दक्षिण पक्षी लेखक कोई था ही नही, जो कुछ लिखते।

मै स्वय इस मत का हूँ कि हमे जो स्वराज्य मिलता है, वह इस प्रकार है जैसे किसी को जमीन का पट्टा मिल जाय। पट्टा और फसल मे बहुत अन्तर है। आधुनिक इतिहास मे १९१७ ई० को रूसी क्रान्ति सबमे बडी क्रान्ति है पर वहाँ १९१९ ई० मे देशव्यापी भयकर दुर्भिक्ष हुआ, इतना बडा दुर्भिक्ष कि मर्दुमखोरी का प्रचलन हो गया। वहाँ १९२३ ई० तक बुरा हाल रहा, यद्यपि वहाँ समाजवाद था। पर वहाँ किसी सोपान मे आशा की कमी नही रही क्योकि प्रयत्न, सही प्रयत्न जारी रहे।

मै समझता हूँ कि अब हमारे साहित्य को रचनात्मक होने की आवश्यकता

है, अर्थात् विनाशात्मक भी हो, तो उसमे भी रचनात्मक इगित अन्तर्निहित हो। साहित्य का काम केवल दार्शनिकता करना, व्याख्या करना या आलोचना करना नही है। साम्राज्यवाद के अधीन भारत मे केवल कटुता उपयुक्त थी, पर अब हमे रचनात्मक आलोचना करनी पडेगी। साहित्य के द्वारा दुनिया की व्याख्या करना नही, बल्कि उसको बदल डालना पडेगा। अगर यह नही चाहिए तो क्या चाहिए, यह प्रत्येक क्षेत्र मे बताना पडेगा। यही साहित्य का नया कर्त्तव्य है।

पराधीन भारत मे राष्ट्र-निर्माण मे साहित्य का स्थान स्वाभाविक रूप से राजनीति से पीछे था, पर अब स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ साहित्यकारो को आगे बढना होगा। पर दुख है, अधिकाश साहित्यिको को अपने सामने के मार्ग का कुछ पता नही। यह बहुत ही दयनीय है। कुछ लोग 'कला कला के लिए' इस नारे के शिकार है। उनके निकट स्वान्त सुख के अतिरिक्त, अधिक-से-अधिक पाठको के मनोरजन के अतिरिक्त साहित्य का कोई कर्तव्य नही है। कहना न होगा कि हमारे देश के नये ताने-बाने मे ऐसो के लिए कोई स्थान नही हो सकता।

फिर कला-कला के लिए, इसका मथितार्थ क्या है? मोपासाँ को 'कला कला के लिए' मतवाद का सबसे बडा उदाहरण कहा जा सकता है, पर उनकी कहानियो में सासामयिक ह्रासशील सामन्तवादी वर्ग का चित्रण है। उनकी कहानियो से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि इस वर्ग को नष्ट होना ही चाहिए, इसी मे जगत् का कल्याण है। यदि लेखक बिलकुल कल्पना के पख पसारकर नही उड रहा है, यदि वह वस्तुवादी नही तो वास्तविकता का कुछ भी आधार रखता है, तो अवश्य ही उसके विश्लेषण करने पर उसमे सही इगित मिलेगा। सभी साहित्य लेखक की निजी अनुभूति की चलनी से होकर आने के लिए बाध्य है, पर जिस साहित्य मे सकुचित अर्थ मे केवल निजी अनुभूति ही है, वह दो कौडी का है।

यह द्रष्टव्य है कि केवल सोवियट रूस मे ही नही आधुनिक युग के सब बडे कलाकार 'कला-कला के लिए' मत के नही है। बर्नार्ड शा, आनातोले फ्रास, रोम्याँ रोलाँ, गैलसवार्दी, इबानेज, सिक्लेयर लिविस, अप्टन सिक्लेयर, पर्ल बक, लिन यु टॉग, प्रेमचन्द, शरच्चन्द्र, एक सामाजिक आदर्श को लेकर चले। यद्यपि रवीन्द्रनाथ सिद्धान्त रूप मे साहित्य मे आभिजात्य के पक्षपाती थे, फिर भी उनकी 'गोरा' आदि मुख्य रचनाएँ उद्देश्यमूलक थी, और उनमे एक मिशन था।

अवश्य जैसा कि मैने अपनी विराट पुस्तक 'कथाकार प्रेमचन्द' मे लिखा है केवल मिशन होने ही से, चाहे वह अच्छा से-अच्छा मिशन हो, कोई महान् कलाकार नही हो जाता। जार्ज डिमिट्राफ ने सोवियट लेखको मे बोलते हुए यह स्पष्ट कर दिया था कि "वह लेखक क्रान्तिकारी लेखक नही है, जो अपनी कृतियो मे बार-बार इन्कलाब जिन्दाबाद करता रहता है।" लेखक, कलाकार, उपन्यासकार या नाटककार एक वैज्ञानिक की तरह है तथा वह उपलब्ध उपादानो से और उपादानो के नियमो को मानकर ही सफलतापूर्वक लिख सकता है। कुछ लेखको मे जिस छिछोरेपन से क्रान्ति की या प्रगतिशील शक्तियो की जय दिखलाने की परिपाटी दृष्टिगोचर होती है, उससे न तो क्रान्ति या प्रगतिशील शक्तियो का कोई लाभ होता है, और न वह कला है। जो कलाकार जितने छिपे रूप से, आहिस्तगी से, बिलकुल नेपथ्य मे रहकर अपने मिशन को चित्रित कर सकता है, वह कलाकार उतना ही श्रेष्ठ है। काश्मीर युद्ध पर जो कहानियाँ लिखी गई है, उनमे कही-कही यह छिछोरापन दृष्टिगोचर हुआ है। उसी हद तक वे कहानियाँ कला के दर्जे से उतर गईं। लेखक का वक्तव्य कथावस्तु के अन्दर से सूक्ष्म रूप से झलक जाना चाहिये।

मै समझता हूँ भविष्य मे कहानी का महत्त्व बढता जायगा। हिन्दी-साहित्य मे ही कहानियो के जरिये से अखाड़ा चलने लगा है। एक तरफ 'टेढे मेढ़े रास्ते' ऐसे है, तो दूसरी तरफ अन्य उपन्यास है। कहानी मे उपन्यास तथा नाटक को भी गिन रहा हूँ भविष्य मे बडा शक्तिशाली माध्यम होगा। दुख है कि हिन्दी मे अच्छे कहानीकार कम है, जो है उन्हे प्रोत्साहन नही मिलता।

लोक-शिक्षा मे कहानी का स्थान सबसे ऊँचा इस कारण होने के लिए बाध्य है कि प्रवचन सब नही पढते, न सब लोग अच्छे-अच्छे तथ्यपूर्ण लेख ही पढते है, पर कहानी पढने का रिवाज बढता ही जा रहा है। आजकल की तेज गति वाले जीवन मे उपन्यास स्त्रियो के अलावा कम लोग पढ जाते है। सच तो यह है कि हिन्दी मे उपन्यास स्त्रियो की बदौलत जीवित है, पर कहानी सब पढते है। मै कहानी को सग्राम का, सुन्दरतर विश्व के लिए सग्राम का, एक जबरदस्त हथियार समझता हूँ। यदि कहानीकार शोषणहीन विश्व के लिए सग्राम मे हाथ न बटा सका तो उसकी कला व्यर्थ है।

अवश्य ही मै यह नही कहता कि कला या साहित्य मे एकरूपता हो या वह आर्डर पर तैयार हो, पर इतना तो साहित्य से अब जरूर माँग करनी पडेगी कि वह आगे की ओर देखे और आशावाद का सन्देश दे। आज हमे अपनी

सारी शक्ति को एकत्र करके द्रुत वेग से शोषणहीन समाज की ओर जय-यात्रा करनी है। मैं लेखको की इस स्वतन्त्रता को नही मानता कि वे चाहे तो पीछे की ओर चले। पर यह भी नही कहता कि वर्तमान समय मे ऐसे साहित्य को कानून से रोका जाय। नही, यह लेखक-समाज का कर्तव्य है कि वह अपने अन्दर के ऐसे लेखको को रोके और और जनता को उनसे सचेत कर दे। साहित्य की विपुल-शक्ति को हृदयगम करते ही विभिन्न प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ उसे खरीदकर अपने उल्लू सीधा करने के लिए दौड पडेगी, साहित्यिकों मे पतन की प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर होगी। इस कारण मै साहित्य के अन्तिम निर्णय का भार जनता पर ही छोडना पसन्द करूँगा।

जो कुछ भी हो, साहित्यिक को अपने प्रति सच्चा रहने के साथ ही आगामी समाज के प्रति सच्चा रहना पडेगा। यह अपरिहार्य है। जब तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद का यहाँ बोल-बाला था, तब तक पत्रकारो तथा साहित्यिको का काम उसका विरोध करना था, यानी यदि वे भविष्य का कोई चित्र न देकर विरोध करते जाते, तो भी उनके कर्तव्य के सारभाग की पूर्ति हो जाती। अवश्य मै यह नही कहता कि उस समय उनका एक सही कर्तव्य था। हमारे अन्दर कितनी ही सामाजिक कुरीतियाँ थी, उनसे भी लडना, उनका पर्दाफाश करना आवश्यक था।

पर अब किसी भी हालत मे केवल विरोध की नीति पर हमारा साहित्य खडा नहीं हो सकता। मै यह नही कहता कि साहित्यिक चाटुकार हो जायँ, यह तो बड़ी भारी विपत्ति होगी। पर मै यह अवश्य कहता हूँ कि आलोचना तथा विरोध रचनात्मक विकल्प के सुझाव के साथ हो। कौन इस बात को महसूस नही करता कि प्रगति तथा क्रान्ति की प्रक्रिया रुक गई, वह तो अपने नियम के अनुसार चलती रहगी। पहेली मात्रागत परिवर्तन, फिर गुणगत। पहले धीरे-धीरे, फिर एकदम से तेजी के साथ क्रान्ति तो होगी।

मेरा साहित्यिको से यह कहना है कि नये युग के कर्तव्य को समझने के लिए साथ ही अपनी टैकनिक मे उन्नति करने के लिए एक तो सामाजिक शक्तियो के नियमो को वैज्ञानिक रूप से समझे। मैने अपनी पुस्तक 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' में इस सम्बन्ध मे एक खाका पेश किया है। रूसी लेखको ने तथा शहीद लेखक राल्फ फाक्स ने विशेषकर लेखको के कर्तव्य पर बहुत कुछ लिखा है।

मै यह इशारा नही कर रहा हूँ कि कथित उग्र लेखको को ही अपनाया जाय। काटायेफ नामक रूसी आलोचक ने यह साफ कर दिया है कि ऐसी

कोई बात नही । उन्होने सोवियट लेखको को उपदेश देते हुए यहा था कि गोर्की रोम्याँ-रोलाँ को अपनाया जाय । स्मरण रहे कि रोलाँ अध्यात्मवादी थे, जीवन के आध्यात्मिक मूल्यो मे विश्वास करते थे । फिर भी वे अनुकरणीय समझे गए । काटायैफ ने साफ कहा "रोलाँ की रचनाएँ जिन सामाजिक और दार्शनिक उत्पत्ति-स्थलो से अपनी अनुप्रेरणा लेती थी, उनके कारण कुछ उनमे कुछ सशोधन करके पढना पडेगा, पर फिर भी वे हमारे सबसे नजदीकी है ।" इसी प्रकार हमारे साहित्यिको को प्रेमचन्द, प्रसाद, शरत्, रवीन्द्र सबको पढने की आवश्यकता है । अपनी साहित्यिक धरोहर को समझकर ही हम साहित्य की रचना कर सकते हे ।

अब तक साहित्यिक बहुत पीछे रहते थे । मै चाहता हूँ कि वे आगे आकर अपना सही स्थान ले । हमे अपने हाथी के दाँत की मीनार से उतरकर सुन्दरतर विश्व के लिए सग्राम मे हाथ बटाना पडेगा, निडर होकर आलोचना करनी पडेगी । पर हमारी आलोचना एक प्रियजन की आलोचना हो, हाँ, यह स्मरण रहे कि कभी-कभी प्रियजन को त्यागकर यहाँ तक कि उसें कष्ट देकर भी हमे प्रेम निबाहना पडता है । समग्र जगत् मे शोषणमूलक पद्धतियो का अन्त करना है । इस शिव आदर्श को, असुन्दर पर सुन्दर की विजय हो, सामने रखा जाय । इस सत्य को सामने रखकर हम सत्य, शिव, सुन्दर समाज के निर्माण के लिए बढ जायँ ।

## १७

# राष्ट्र-निर्माण और रेडियो

हम किसी को अपने घर तथा परिवार मे आने-जाने तभी देते है, जब उसके सम्बन्ध मे पूरी जाँच कर लेते है, और जब हम यह जान लेते है कि वह हमारा कुछ नुकसान नही करेगा। रेडियो अब हमारे घर की चीज हो चुकी है, यो तो अखबार तथा मासिक पत्र भी घर मे है, पर उनकी पहुँच उतनी नही। घर के कम पढे-लिखे लोग नौकर, यहाँ तक कि बच्चे भी, रेडियो सुनते है।

अक्सर ऐसा होता है कि रेडियो खुला हुआ है, हम उसे नही सुन रहे है, पर ऐसी हालत मे भी वह परोक्ष रूप से हमारे विचारो को प्रभावित करता है, हमारी सास्कृतिक सतह को गिराता या उठाता है, हमारी कला-सम्बन्धी धारणाओ का निर्माण करता है।

जिसमे इतनी शक्ति है, उसके सम्बन्ध मे कोई भी नही सोचता, यह दुख की बात है। टाल्स्टाय ने अपनी 'क्रायत्सेर सोनाटा' नामक पुस्तक मे यह दिखलाया है कि चूंकि सगीत मे अनन्त शक्ति है, उसके जरिये श्रोता के मन मे उसके अनजान मे जो चाहे वह प्रभाव पैदा किया जा सकता है, इसलिए सगीत को व्यक्तियो के हाथ मे न छोडा जाय, उसे सार्वजनिक विषय बनाया जाय, याने सार्वजनिक नियन्त्रण मे काम मे लाया जाय। टाल्स्टाय की उल्लिखित पुस्तक मे यह दिखाया गया है कि किस प्रकार सगीत के जरिये एक स्त्री को पथ-भ्रष्ट किया गया था।

जब सगीत के सम्बन्ध मे यह बात है, तो रेडियो के सबध मे तो यह बात कही अधिक विस्तार के साथ लागू है, क्योकि रेडियो मे सगीत तो है ही, और भी सैकडो बाते है जो हमे बनाने-बिगाडने का कारण हो सकती है।

हमारे देश मे रेडियो पर गभीरता के साथ सोचने वाले विद्वान् एक भी नही है। हमको यदि उसका कार्यक्रम पसन्द नही आता, तो उसको भी वैसा

ही एक दुर्भाग्य समझ लेते है जैसे रेल का या बसो का लेट चलना, बिजली का जब-तब बन्द हो जाना, सडक की धूल, महँगाई इत्यादि। इस सम्बन्ध मे कुछ पत्र जब-तब अखबारो मे आते है, पर एक तो वे पत्र कहाँ तक विद्विष्ट या अनुप्रेरित है, इसका ठीक-ठीक पता नही। दूसरे इस नक्कारखाने मे तूती की आवाज़ की क्या बिसात ?

रेडियो के दफ्तर मे श्रोताओ के पत्र आते रहते है, अमुक कार्यक्रम पसन्द है, अमुक का गाना या 'टॉक' पसन्द है, इन पत्रो मे कितने जाली होते है इसका पता लगाना मुश्किल है। जाली पत्रो से मेरा मतलब ऐसे पत्रो से है जो रेडियो मे 'टॉक' आदि देने वालो द्वारा लिखाये जाते है।

इस सम्बन्ध मे गहराई तक पहुँच पाना टेढी खीर है। फिर इधर हमारे देश मे हिन्दी-हिन्दुस्तानी, उर्दू का जो झगडा मचा हुआ था, मै यह नही कहता कि वह निरर्थक या बेकार था, पर उससे रेडियो के विषय पर कम ध्यान गया, और उसकी भाषा पर अधिक। भाषा वाहन अवश्य है, पर विषय ही असली वस्तु है। भाषा विषय के लिए है न कि विषय भाषा के लिए। अवश्य भाषा का महत्त्व भी बहुत है, क्योकि उसी के माध्यम से विषय हृदयगम होता है।

यद्यपि हमारे देश मे रेडियो पर गम्भीर विवेचन नही हुआ है, पर पाश्चात्य देशो मे इसके प्रत्येक पहलू पर अति गम्भीर विवेचन हुआ है। आज मै इस लेख मे उसका थोडा-सा परिचय दूँगा।

रेडियो की समस्या एक विश्व-समस्या है, और उसको उसी आधार पर समझना चाहिए। पाश्चात्य देशो के सुधीगण इस सम्बन्ध मे जिन उपसहारो पर पहुँच रहे है, वे हमारे लिए भी महत्त्व रखते है और हम पर लागू भी है।

हैदराबाद पर पुलिस-हमले के दिनो मे यह देखा गया कि रेडियो हमारे जीवन का एक अपरिहार्य अग हो चुका है। लोग उन दिनो अखबारो की प्रतीक्षा न करके हर घटे रेडियो सुनते थे। पर लोग अखिल भारतीय रेडियो के अतिरिक्त पाकिस्तन रेडियो तथा जब तक मिला हैदराबाद रेडियो भी सुन रहे थे। बी० बी० सी तो सुनते ही थे।

इस प्रकार घुमा-फिराकर सब रेडियो सुनने का तथ्य निरर्थक नही है। उसका भी अर्थ है। सच तो यह है कि इस तथ्य से रेडियो का एक पहलू सामने आ जाता है। रोम्याँ रोलाँ ने पत्र-जगत् को La grande menteuse या महान् झूठा कहा है, मालूम होता है हमारे यहाँ की जनता रेडियो के सम्बन्ध मे भी यही बात समझ चुकी है। द्वितीय महायुद्ध की अभिज्ञता

का परिणाम है, तब मित्र-पक्ष जिस बात को जैसे कहते थे, शत्रु-पक्ष उसी बात को बिलकुल विरुद्ध रग मे रँगकर कहता था। लोग अखिल भारतीय रेडियो की हैदराबाद-सम्बन्धी खबरो का विश्वास तो करते थे, पर उनकी तसदीक शत्रु तथा अमित्र रेडियो से चाहते थे। यह हमारी जनता की बुद्धि का परिचायक तो है, पर शायद हमारी स्वदेशी सरकार के लिए विशेष सम्मान की बात नही कि अभी उसको स्थापित हुए जुम्मा-जुम्मा आठ रोज़ नही हुए थे, और लोग उसमे उन्ही सब दुर्गुणो का आरोप करने लगे। अस्तु।

विगत महायुद्ध से रेडियो के सम्बन्ध मे कुछ विशेष तथ्य ज्ञात हुए। प्रत्येक सरकार अपने पत्रो मे खबरो को इस प्रकार से सेंशर करके छापती थी कि वह उसी के अनुकूल जाय। इस प्रकार यह चेष्टा की जाती थी कि जनता वही सोचे जो नेता सोचते है, पर हर देश की जनता शत्रपक्ष का रेडियो सुनती थी। हमारे यहाँ भी जर्मन और जापानी रेडियो बडे चाव से सुना जाता था।

जर्मन-अधिकृत देशो मे जो प्रतिरोध आन्दोलन चला, वह इतने-इतने सालो तक तकलीफ उठाने के बावजूद चल ही नही सकता था यदि बी० बी० सी० तथा अन्य गुप्त रेडियो-स्टेशन काम न करते। स्वतन्त्रता के योद्धाओ के लिए रेडियो बड़े काम की चीज साबित हुई।

साथ ही रेडियो के जरिये रूस, इगलैड, अमरीका, फ्रान्स तथा यहूदियो के विरुद्ध बडी-बड़ी झूठी बाते फैलाई गई। अवश्य मित्र-पक्ष भी दूध के धुले नही थे, उन्होने रेडियो के जरिये जो प्रचार-कार्य किया, उसमे झूठ की मात्रा प्रचुर थी।

इन बातो को साधारण जनता भी समझती है। इस कारण रेडियो का प्रचार उतना ही असर पैदा करता है जितना अखबारी प्रचार। यदि रेडियो को प्रचार-कार्य के लिए काम मे लाया जाय, तो यह न समझा जाय कि फौरन असर पैदा करेगा। असर पैदा होने की प्रक्रिया बिलकुल मन्थर है। युद्ध-काल मे काम मे आने वाले विभिन्न देशो के रेडियो के असरो का वैज्ञानिक अध्ययन किया गया है, जिससे यह नतीजा निकलता है कि बी० बी० सी० का ढग सबसे अच्छा था।

उसने युद्ध के प्रारम्भ से ही यह कहना शुरू किया कि शुरू मे बहुत दिनो तक हम हारेंगे क्योकि हम प्रस्तुत नही थे, पर यह लडाई उत्पादन की लडाई है, और अमरीका तथा ब्रिटेन उत्पादन मे सबसे आगे है, इस कारण लडाई मे हमारी जीत होगी। बाद मे चलकर यह भविष्यवाणी सच

निकली। पराजित देशो के लोगो को इस प्रचार से अनुप्रेरणा मिलती थी।

बी० बी० सी० ने हारो को एक हद तक ही छिपाया। शायद कभी ऐसी बात कही जो बाद को गलत प्रमाणित हुई। स्मरण रहे कि यहाँ केवल युद्ध-समाचार की बात हो रही है। यो बी० बी० सी० बृटिश साम्राज्यवाद का एक अग तो था ही। पर प्रचार मे भी तरीके होते है।

प्रचार तभी असर पैदा कर सकता है जब उसका सम्बन्ध सीधे तथ्यो से हो। हवाई प्रचार एक सीमा तक ही चल सकता है, बाद को उसका पर्दा-फाश हो जाता है। यदि देश मे लोग भूखो मर रहे हो, महगाई बढ रही हो, तो यह प्रचार नही किया जा सकता कि हम समृद्धिशाली हो रहे है। भारत के उदाहरण को लिया जाय। यदि हम जल्दी भुखमरी, महगाई तथा गरीबी पर काबू न पा सके, तो इसमे सन्देह नही कि बहुत से लोग यह शक करने लगेगे कि स्वतन्त्रता मिलना अच्छा रहा या नही। कुछ लोग, जो इससे गह-राई तक सोचते है, और स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे सही रूप से गुलाबी धारणा रखते है, वे कहेगे और कह रहे है कि स्वतन्त्रता मिली नही। रेडियो से ही दिन-रात भले ही प्रचार हो, पर जनता अधिक ठोस प्रमाण माँगेगी।

रेडियो की शक्ति असीम है, यह समझना भूल है। फिर भी अखबारो से इसकी शक्ति दूर तक पहुँची हुई है। कई Chauvrinist या अन्ध देश-भक्ति-मूलक राष्ट्र यह जो चाहते है कि उनके नागरिक प्रत्येक बात को एक रगीन चश्मे से देखे, विदेशी रेडियो सुनने के चस्के के कारण वह चल नही सकता। यह कहा गया है, और ऐसा कहना बिलकुल तथ्यहीन नही है कि इसमे आशा के उपादान है ( Une grande raison despoir ) द्वितीय महायुद्ध में फ्रास के पतन के वाद लोगो की हालत बडी विचित्र हो गई थी, पैरिस तथा विदेशी रेडियो से कोई खबर तो मिलती नही थी, इस कारण लोग या तो बी० बी० सी० सुनते थे या स्टुटगार्ट सुनते थे।

शान्ति-काल मे भी विदेशी रेडियो सुनने का रिवाज बढता जा रहा है इससे ज्ञान का प्रसार होगा और परमत-सहिष्णुता बढेगी। भारत मे भी दूसरी भाषा मे रेडियो मे समाचारादि देने के रिवाज का प्रसार हो रहा है। पर यह सारा कार्यक्रम उचित नियन्त्रण मे होना चाहिए। विश्वस्त लोगो को ऐसे समाचार देने का भार देना चाहिए।

सुनने मे आया है कि भारत-सरकार द्वारा मध्यपूर्व की भाषा मे प्रका-शित एक पत्र मे बिहार के दगो के विषय मे जो समाचार निकला, उसमे भारत-सरकार ही पर दोष लादा गया। पत्र प्रकाशित होकर मध्य पूर्व मे

पहुँच भी गया, और किसी को इस शरारत की कानों-कान खबर तक नही हुई। बाद को इसका पता लगा। तब तक सम्पादक पाकिस्तान जा चुका था।

ऐसा नही होना चाहिए। रेडियो के सचालक अपने को विशेषज्ञो या भाषाविदो,को दया पर छोड न दे। ऐसे विश्वास-पात्र व्यक्ति होने चाहिएँ जो उनके काम पर पूरी देख-रेख रख सके।

रेडियो के विरुद्ध, केवल ए०आई०आर० नही, सारे रेडियो के विरुद्ध एक बडा अभियोग यह भी है, उसे इस सम्बन्ध मे ध्यान मे रखना पडेगा। फ्रेच लेखक जोनाथा ग्रिफ ने इस सम्बन्ध मे बहुत गम्भीर सन्देह प्रकट किये है। उसका कहना है "हर समय यह जो सन्दिग्ध मूल्ययुक्त प्रोग्राम का ताँता चला करता है, क्या उससे अन्त तक जाति के मान-दड का निम्नीकरण न होगा। क्या उससे एक निरन्तर कुछ-न-कुछ सुनते रहने की आदत नही पड जाती है, और धीरे-धीरे फिर तो सुनना ही रह जाता है, और सुनने की सूक्ष्म शक्ति लुप्त हो जाती है।"

घटे-घटे खबर सुनने की आदत भी कौतूहल की मात्रा को एक पाप तक बढा देना है! किसी भयङ्कर सकट के समय तो यह कौतूहल समझ मे आता है, पर साधारण समय मे भी इस प्रकार अप-टु-मिनिट अप-टु-डेट होने की धमकी की सराहना नही की जा सकती, क्योकि फिर गभीर चिन्तन के लिए कोई नही बचता। स्त्रियाँ दोपहर मे तथा पुरुष छुट्टी के दिनो मे अक्सर रेडियो खोले पडे रहते है, इस प्रकार जिस समय को वे शायद गभीर चिन्तन, पाठ या अन्य कार्य मे बिताते, वह इस प्रकार व्यर्थ व्यतीत हो जाता है।

सभ्यता, जो एक-एक कदम आगे बढी है, उसके पीछे गभीर चिन्तन है; इस प्रकार गभीर चिन्तन का रास्ता रुक जाना बहुत अनुचित होगा।

मोशियेग्रिफ ने इस सम्बन्ध मे रेडियो की एक और त्रुटि पर रोशनी डाली है, जो ए०आई०आर० पर भी उसी प्रकार लागू है जैसे अन्य रेडियो पर। वह त्रुटि यह है कि रेडियो के प्रोग्राम बनाने वाले सस्कृति तथा मनोरजन को एक करने की चेष्टा न करके दोनो को बिलकुल पृथक् समझते है। इसका नतीजा यह होता है कि मनोरजन के नाम से जो कार्यक्रम आता है, वह बिलकुल ही घटिया दर्जे का होता है। जिसे पाश्चात्य देशो मे आज सगीत कहते है, उसी का वहाँ बोल-बाला है, और हमारे यहाँ हल्के गाने तथा रेकार्ड है। मै हल्के गानो के विरुद्ध नही हूँ, पर सवेरे से शाम तक केवल एक विशेष

तरह की उत्तेजना पैदा करने वाले गाने सुने जायें, यह कोई अच्छी बात नही।

इन गानो से जीवन के सम्बन्ध मे जो धारणा पैदा होती है, वह सही नही है। जीवन उतना न तो आसान है और न उतना तरल। जीवन मे प्रेम है, पर उसके साथ ही सम्बद्ध त्याग है। सच तो यह है कि त्याग के बिना प्रेम का कोई अर्थ ही नही होता। सग्राम हमारे जीवन का एक प्रधान अङ्ग है, और यदि सच कहा जाय तो सग्राम भी उतना ही दिलचस्प है जितना प्रेम।

सस्कृति और मनोरञ्जन को पृथक् करने के कारण दूसरो का जो कार्य-क्रम दिया भी जाता है, उसे लोग सुनते नही। अवश्य समय-समय पर राज-नीतिक नेताओ के जो भाषण होते है, उन्हे लोग भारत मे सुनते है, पर उन भाषणो मे सस्कृति का कितना उपादान होता है, यह सन्दिग्ध है।

रेडियो का काम यह होना चाहिए कि अच्छी-से-अच्छी कलात्मक कृतियो, कविता, सगीत, लेख, कहानी का प्रचार करे। रेडियो का उद्देश्य जनता की रुचि को ऊपर उठाना तथा उसे परिचालित करना है, अवश्य इस उद्देश्य को वह तभी सफलता पूर्वक कर सकता है जब वह एक हद तक उसके द्वारा परिचालित हो, पर ऐसा वही तक जहाँ तक उद्देश्य सिद्ध होता है। मनोरजन मे भी राष्ट्र-निर्माण के उपादान होने चाहिएँ।

मनोरंजन के बहाने तीसरे दर्जे की चीजे परोसने का कोई अर्थ नही होता। अभी हमारे देश मे रेडियो की परिचालना मुख्यत ऐसे लोगो के हाथो मे है जो बहुत अधिक हुआ तो दूसरे दर्जे के लोग है। पर यह बहुत ही भारी जिम्मेदारी का काम है। रेडियो की परिचालना के लिए याने उनके मूल सूत्रो को तय करने तथा यह देखने के लिए कि उनके द्वारा निश्चित मूल सूत्रो का ठीक-ठीक अनुसरण होता है, यह जरूरी है कि बी० बी० सी० की तरह ए० आई० आर० की गवर्निग बॉडी हो, जिसमे ये लोग हो—

(१) उच्च कलाकार, साहित्यिक सगीतज्ञ,

(२) राष्ट्र-निर्माण के सम्बन्ध मे स्पष्ट विचारयुक्त ऐसा या ऐसे व्यक्ति जिनकी देश-भक्ति असन्दिग्ध हो।

(३) प्रचार-कार्य-विशेषज्ञ।

इस विषय को दूसरे दर्जे के विशुद्ध पेशेवर लोगो के हाथो मे छोड रखना खतरे से खाली न होगा।

हमारे देश के रेडियो के परिचालक यह समझते है कि लोग केवल आशिकाना गज़ले पसन्द करते है, पर यह ग़लत है। ब्रिटेन की ग्रामोफोन कम्पनियो के

आँकडो से पता लगता है कि गत बीस वर्ष मे लोग क्लासिकल गीत तथा जाज़ की तरफ झुक रहे है। बीच की किस्म के हल्के-फुल्के गानो की ओर से लोगो की रुचि हट रही है।

हमारे रेडियो मे राजनीतिक नेताओ के अलावा जो लोग बोलते है, उनमे से अधिकाश के सम्बन्ध मे यह सदेह होता है कि वे कोई-न-कोई हथकण्डा लडाकर वहाँ पहुँचे है। जिन्हे कुछ कहना है, उन्हे ही बोलने का मौका देना चाहिए। चर्वित चर्वण के लिए रेडियो मे मौका नही देना चाहिए।

जनता क्या पढे, इस पर रेडियो की तरफ से सही ढग पर पथ-प्रदर्शन होना चाहिए। नई पुस्तको की आलोचना का कार्यक्रम तो सब रेडियो मे है, पर एक तो उसे पूरा कम किया जाता है और जब किया भी जाता है तो पार्टीबन्दी से। क्या इसकी कोई दवा नही है ?

रेडियो के सम्बन्ध मे सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या वह सरकार का विभाग हो, या वह कम्पनियो के हाथो मे हो ? कम्पनियों के हाथो मे होने से यह कहा जाता है कि आपस मे प्रतियोगिता होगी, और उससे सुनने वालो को फायदा होगा। पर ऐसा भी तो हो सकता है कि इस मनोपोली या एकाधिकार के युग मे सब कम्पनियाँ आपस मे समझौता कर ले, सुनने वाले रह जायँ।

अमेरिका तथा कैनाडा मे रेडियो की गैर-सरकारी कम्पनियाँ है। कैनाडा का यह तजुरबा है कि कैनाडा की किसी कम्पनी ने किसी अच्छे वक्ता, गायक, गायिका आदि का आविष्कार किया तो उसे अमेरिका के धनी रेडियो कम्पनियाँ चौगुना पारिश्रमिक देकर अपने यहाँ ले जाते है।

रेडियो राष्ट्र-निर्माण का एक प्रधान साधन है, शायद उसे व्यवसायियो के हाथो मे छोड देना उचित न होगा। जैसे प्रकाशक पुस्तक-प्रकाशन मे इस बात का खयाल नही करते कि इस समय कैसी पुस्तक का प्रकाशन उचित है, केवल मुनाफे का खयाल करते है, उसी प्रकार रेडियो-कम्पनियो का भी होगा। अवश्य अमेरिका की कम्पनियाँ अपने श्रोताओ को जल्दी-से-जल्दी खबर देते है, पर यह भी व्यावसायिक दृष्टि से।

तो अब यही विकल्प रह जाता है कि राष्ट्रीय और सरकारी रेडियो एक बात नही है। मै इस सम्बन्ध मे मोशिये ग्रिफाँ को उद्धृत करता हूँ—

"यदि रेडियो को व्यापारी कम्पनियोके हाथमे नही छोडना है, तो उन्हे राष्ट्रीय होना चाहिए, न कि सरकारी। यदि रेडियो केवल सरकारी दृष्टिकोण को पेश करता है, बराबर उसमे हस्तक्षेप होता रहे और सेसर होता रहे, तो वह उसके लिए मौत है। और श्रोता उस लाश के पास भी नही फटकेंगे। लोकतान्त्रिक

राष्ट्रम रेडि ो अन्ततोगत्वा पार्लियामेट के प्रति उत्तरदायी है पर वह रोजमर्रा की कार्रवाई मे स्वतन्त्र हो । उसे चाहिए कि सरकारी घोषणाओ का प्रकाशन करे, और सरकारी सन्देशो को अपने समय का एक उचित अश दे, पर साथ ही दूसरे महत्त्वपूर्ण दलो को ही नही स्वतंत्र व्यक्तियो के विचारो का भी प्रचार करे।"

इस प्रकार से स्वतत्र रेडियो के शीर्ष स्थल पर राष्ट्रीय महत्त्व के लोग हो जैसा कि मै बता चुका। इसकी जॉच करने के लिए एक अन्वेषण विभाग भी होना चाहिए जो रेडियो के कार्यक्रम के सम्बन्ध में गुप्त रूपसे यह पता लगावे कि कहॉ तक असर पैदा हो रहा है, तथा लोग क्या कहते है।

रेडियो के सम्बन्ध मे एक प्रस्ताव यह भी है कि एक विश्व-राष्ट्र के प्रारम्भ के रूप में एक विश्व रेडियो हो जो विभिन्न भाषाओमे कार्यक्रम चलावे। प्रत्येक राष्ट्रीय रेडियो को विश्व-रेडियो के कार्य-क्रम को एक कम-से-कम हद तक अपने यहॉ की भाषा मे देना पडेगा। यह प्रस्ताव बहुत ही सुन्दर है, पर अभी वह दिन दूर है। पहले अपने देश के अन्दर रेडियो सास्कृतिक दृष्टि से तो चलाये जायँ।

१८

# स्वतन्त्र भारत में अंग्रेजी और अन्य भाषाएँ

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ अन्य सैकडो प्रश्नो के साथ यह भी एक प्रश्न उठ रहा है कि अब भारतवर्ष में अग्रेजी भाषा का क्या स्थान हो। दुख है कि इतने बडे विषय पर विचार करते समय भावुकता से काम लिया जाता है, एव वस्तुस्थिति पर विचार नही किया जाता। कुछ लोग तो यह कहते दृष्टिगोचर हो रहे है कि तुरन्त अग्रेजी को सब तरह से हमारे जीवन से निकाल दिया जाय, और कुछ लोग, जिनकी सख्या अधिक नही है पर वे प्रभावशाली है, यह कहते दृष्टिगोचर हो रहे है कि अग्रेज भले ही चले गए हो, अग्रेजी का रहना आवश्यक है।

इन दो वक्तव्यो मे से कौन सा वक्तव्य सत्य के अधिक निकट है या वस्तु-स्थिति को प्रतिफलित करता है, इस विषय पर हम तभी किसी नतीजे पर पहुँच सकते है जब हम दोनो पक्ष के तर्को पर विचार करे, इसलिए हम पहले दोनो पक्ष के तर्को पर प्रकाश डालेगे।

यह तो बिलकुल स्वाभाविक है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्त के साथ-साथ अग्रेजी की वह मर्यादा रह नही सकती। यह कहना बिलकुल गलत है कि भारतवर्ष मे अग्रेजी को जो स्थान प्राप्त हुआ, वह शेक्सपीयर, मिल्टन, शेली, कीट्स, बायरन, शा, गाल्सवर्दी आदि के कारण प्राप्त हुआ है। यदि भारतवर्ष मे अग्रेजो का राज्य स्थापित न होता, तो ये सब बडे-बडे युगान्तरकारी लेखक तथा कवि धरे ही रह जाते, पर भारतवर्ष मे अग्रेजी का इतना प्रचार न होता। जर्मन, फ्रेच तथा रूसी भाषा मे भी अच्छे-से-अच्छे लेखक हुए है और उनमे गेटे, शिलर, कैट, हेगेल, मार्क्स, विक्टर ह्यूगो, पुश्किन आदि बहुत से बडे-बडे लेखक हुए है, पर उन भाषाओ का भारतवर्ष मे प्रचार नही के बराबर है। इसलिए जो लोग अग्रेजी के प्रचार के सम्बन्ध मे उस साहित्य की उत्तमता के तर्क को पेश करते है, वे थोथी बात करते है इसमे सन्देह नही।

किसी भाषा का विदेशी मे प्रचार केवल साहित्य की उत्तमता के कारण ही होता हो ऐसी बात नही। कम-से-कम इतिहास का कोई भी विद्यार्थी जानता है कि अंग्रेजी का प्रचार भारतवर्ष मे इस रूप मे नही हुआ। अंग्रेजी साम्राज्य स्थापित होने के पहले शेक्सपियर का जन्म तथा उदय हो चुका था पर इस कारण यहाँ कौन अंग्रेजी सीखता था। यदि कहा जाय कि उन युगो मे यातायात का साधन सुलभ नही था, और प्रत्येक देश बहुत-कुछ आत्मःसमाहित-सा रहता था, तो यह पूछा जा सकता है कि वर्तमान समय मे अंग्रेजी के अतिरिक्त कम-से-कम फ्रेंच तथा जर्मन साहित्य बहुत उच्चकोटि का है, पर इस कारण उनका प्रचार भारतवर्ष मे कितना है? यहाँ एक हजार अंग्रेजीदाँ पर एक फ्रेंच या जर्मन जानने वाला मिलेगा या नही इसमे सन्देह है। यह स्पष्ट है कि साहित्य की उत्तमता वाला तर्क केवल बाद का एक तर्क है।

हम भाषाओ के प्रचार के प्रश्न पर विचार करते हुए कई अन्य कारणो पर पहुँचते है। एक तो भाषा का प्रचार राज्य-विस्तार के द्वारा होता है। विजेता जाति अपने झंडे के साथ-साथ अपनी भाषा को भी ले जाती है। अन्य देशो की बात जाने दी जाय, भारतवर्ष मे अंग्रेजी के पहले जो फारसी का रिवाज था, वह शेखसादी, हाफिज उमर खैयाम, आदि के कारण नही बल्कि उन विदेशी विजेताओ के कारण था जिनकी या तो फारसी मातृ-भाषा थी, या जिन्होने फारसी को मातृ-भाषा की मर्यादा दे रखी थी। अंग्रेजी के पहले फारसी इसी कारण से राज्य-भाषा थी।

जैसे अंग्रेजी के क्षेत्र मे शेक्सपीयर आदि को उसने भारत मे प्रचार का कारण कहना गलत होगा, उसी प्रकार फारसी के भारत मे प्रचार के लिए शेखसादी आदि का नाम लेना गलत होगा। साहित्य की उत्तमता की दृष्टि से देखा जाय तो संस्कृत का ईरान मे प्रचार होना चाहिए था न कि भारत मे फारसी का।

अंग्रेजी एक विश्व-भाषा हो गई, इसका कारण अंग्रेजो का विराट साम्राज्य है। अंग्रेजो ने तो कई नये देशो की भाषा ही अंग्रेजी बना दी। ऐसे देशो मे अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैड, कैनेडा, दक्षिण अफ्रीका आदि है। क्या कोई कह सकता है कि यदि अंग्रेज जाकर इन देशो को जीतकर उनके प्राचीन अधिवासियो को मारकर या सम्पूर्ण रूप से दबाकर अपने देश के लोगो को उन देशो मे ले जाकर बसा न देते, तो देशो मे अंग्रेजी का प्रचार होता? उसी प्रकार यदि भारत, मलाया द्वीप, बर्मा, अफ्रीका आदि देशो मे ब्रिटेन का साम्राज्य न होता, तो क्या इन देशो मे इतने अंग्रेजीदाँ होते? स्पष्ट है कि न होता।

भाषा के प्रचार का एक कारण धार्मिक भी हो सकता है। अरब के बाहर अरबी का जितना भी प्रचार है, वह सब अधिकाश रूप से धार्मिक कारण से ही है। हो सकता है कि अरबी-साहित्य अपने ढग से ऐश्वर्यशाली हो, पर यह कहना कि वह इसी कारण प्रचारित हुआ है तथ्य से बिलकुल दूर होगा। मुसलमान जिन-जिन देशो मे गये या मुसलमानी जिन-जिन देशो मे गई उन-उन देशो मे अरबी का पठन-पाठन भी हो गया। अग्रेजी के क्षत्र मे यह कारण एक हद तक ही क्रियाशील रहा। जो लोग ईसाई बने, उनमे से बहुतेरे गोरे मिशनरियो या मिशनो के जरिये से ईसाई बने, इस कारण राज- भाषा के अतिरिक्त धार्मिक रूप से भी उनमे अग्रेजी की कुछ भक्ति पैदा हुई। पर यह कारण बहुत ही गौण रहा।

ऊपर जो कुछ लिखा गया उससे स्पष्ट है कि अग्रेजी न तो यहाँ साहित्य की उत्तमता के कारण आई और न वह इस कारण रह सकती है। जब से अग्रेज भारतवर्ष मे आये, तब से भारतवर्ष की प्रतिभा का एक बडा अंश उसी के जरिये विकसित हुआ। कितने ही ऐसे व्यक्ति, जो कदाचित् अपनी मातृ-भाषा के साहित्य को अपनी रचनाओ से अलकृत करते, अग्रेजी को अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप मे अपनाने के लिए बाध्य हुए। इन रचनाओ मे अग्रेजी साहित्य समृद्ध हुआ, पर उसी हद तक देशी भाषाओ का नुकसान हुआ। अरविन्द घोष, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, सरोजिनी, राधाकृष्ण, जवाहरलाल, महात्माजी, राजेन्द्र बाबू, मुल्कराज आनन्द आदि कितने ही भारत के लालो ने अग्रेजी मे लिखा और उसके साहित्य को समृद्ध किया। सर्वकाल के लिए यह साहित्य अग्रेजी का हो गया। मजे की बात यह है कि आज किसी भी भारतीय भाषा मे भारतीय दर्शन का उतना विस्तृत तथा प्रामाणिक इतिहास मौजूद नही है, जितना अग्रेजी मे है और अग्रेजी मे एक नही कई प्रामाणिक इतिहास है।

हिन्दी, बॅगला आदि साहित्य के कई टैकनिकल अग बिलकुल नही के बराबर है, पर भारतीय लेखको के द्वारा लिखी हुई इस सम्बन्ध की अग्रेजी पुस्तको को ही लिया जाय, तो ज्ञात होगा कि अग्रेजी साहित्य बहुत ऐश्वर्य-शाली है। यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि यदि मातृ-भाषाओ को उन्नत करके उन्हें जगत् की समृद्ध भाषाओ के साथ एक पक्ति मे लाना है, तो भविष्य मे भारतीय प्रतिभा के इस रोडे को रोकना पडेगा।

जब रोडे की बात चल पडी तो हम केवल पुस्तको तक ही अपने को सीमित नहीं रख सकते। अग्रेजी समाचार-पत्रो, दैनिको, साप्ताहिको एव

मासिकों के रूप में हमारी बहुत सी प्रतिभा मातृ-भाषा के क्षेत्र के बाहर खर्च हो रही है। उसे रोकना ही पड़ेगा। यदि साधारण तौर पर कहा जाय तो यह मानना ही पड़ेगा कि देशी भाषा के पत्र अंग्रेजी पत्रों के मुकाबले में निकृष्ट होते हैं। उनका सम्पादन, उनके लेख, और बहुत से क्षेत्रों में तो उनकी समाचार सर्विस अंग्रेजी पत्रों से निकृष्ट होती है। इसलिए लोग उन्हें पढ़ते कम हैं। इसलिए वे बिकते कम हैं और उनकी उन्नति नहीं हो पाती। अंग्रेजी पत्रों के सम्पादकों तथा लेखकों को हिन्दी बँगला आदि पत्रों के लेखकों से पारिश्रमिक मिलता है, इसी कारण वे अच्छे लेख भी लिख सकते हैं। आजकल का युग याने प्रामाणिक ग्रंथों को देखकर, उनकी सहायता लेकर तब कुछ कहने का या लिखने का युग है। केवल दिमाग से तथ्यपूर्ण लेख नहीं निकल सकते।

अच्छा लिखने के लिए यह जरूरी है कि लेखक हर समय न लिखे। उसे अवसर तथा सुयोग हो, जिससे वह आलोच्य विषय के सम्बन्ध में ताजी-से-ताजी जानकारी प्राप्त कर सके, नहीं तो उसका लेख घटिया दर्जे का होने के लिए बाध्य है। केवल सुललित वाक्य-विन्यास से तथ्यों की दरिद्रता तथा जानकारी की कमी छिपाई नहीं जा सकती और यदि किसी कारण से छिपाई जा भी सके, तो वह लेख निकृष्ट होगा, पर पैसे कम मिलने के कारण देशी भाषाओं के लेखकों को यह सुविधा नहीं होती कि वे अपने विषय पर पुस्तकें खरीद सकें। इसलिए देशी भाषाओं की द्रुत उन्नति के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि कम-से-कम अंग्रेजी दैनिकों को बन्द कर दिया जाय। यह कहा जा सकता है कि इस सुधार का आर्डिनेन्स बनाना व्यक्ति की स्वाधीनता पर आघात करना है, पर यह बात नहीं है। अंग्रेजी यहाँ कृत्रिम रूप से ही आई है। यह सत्य है कि इस साहित्य के सस्पर्श में आने के कारण प्रारम्भ में देशी भाषाओं को बड़ी उत्तेजना मिली, और तभी से देशी भाषा में आधुनिक साहित्य का उदय हुआ, पर इस रूप में अंग्रेजी ने देशी भाषाओं को जितना फायदा पहुँचाया उससे कहीं अधिक क्षति भारतीय लेखकों के अंग्रेजी को माध्यम बनाने के कारण हुई। अब समय आ गया है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ कम-से-कम ४० साल के लिए भारत में अंग्रेजी दैनिकों को एक मियाद दी जाय जिसके अन्दर यदि वे चाहें तो अपने को देशी भाषा के पत्र में परिणत कर दें, उसके बाद उन्हें बन्द कर दिया जाय। स्वतन्त्र जाति के सदस्य के लिए यह लज्जा की बात है कि वह सबेरे उठकर एक विदेशी, विशेषकर उस भाषा के जरिये से अपने देश की खबर जाने, जो अब तक जबर्दस्ती यहाँ की राजभाषा बनी हुई थी। इस लज्जा का दूरीकरण अत्यन्त आवश्यक है।

यह हम मानते है कि अग्रेजी भले ही यहाँ जबर्दस्ती आई हो और एक विदेशी शासन की जबर्दस्ती के कारण ही हमे कई पुश्त से अग्रेजी सीखनी पड़ी हो, पर अब चूँकि उसका पठन पाठन यहाँ बहुत दिनो से होता रहा है, इस कारण उसका पठन-पाठन एक हद तक आसान भी हो गया है। साथ ही चूँकि अग्रेजी जगत् के साथ हमारे लेन-देन की भाषा है, इस कारण उसे हम बिलकुल त्याग नही सकते है, और न इसमे हित है कि हम सम्पूर्ण रूप से त्यागे। पर इसके लिए कतई आवश्यक नही है कि हम उसे देशी भाषा के दैनिको का गला घोटकर अग्रेजी दैनिक निकाले जायें। हम दूसरे देश की बातो को जानने के लिए अग्रेजी की सहायता बराबर लेते रहे। अग्रेजी साहित्य, साप्ताहिक, मासिक, दैनिक मँगाये, अपनी बात दुनिया को कहने के लिए अग्रेजी मे साप्ताहिक और मासिक आदि निकाले, यह ठीक है। इस सम्बन्ध मे हमे किसी प्रकार की आपत्ति नही ज्ञात होती।

पर इसके साथ ही अब एक बात और कहने की जरूरत है वह यह कि क्या स्वतन्त्र हो जाने के बाद यह हमारी मर्यादा के विरुद्ध न होगा कि हम अग्रेजी के ही चश्मे के जरिये से सारी दुनिया को देखे। पच्चीस, तीस साल पहले ही श्री विनयकुमार सरकार ने इस प्रश्न को भारतीय विद्वत्-समाज के सामने रखा था। श्री सरकार स्वय इस विषय के आदर्श थे। उन्होने रोम मे रहते समय इटालियन मे फ्रास मे फ्रेंच मे, और जर्मनी तथा आस्ट्रिया मे जर्मन मे भारत की संस्कृति पर व्याख्यान दिये। उनका कहना था और यह ठीक है कि किसी भी जाति के लेखक कितने भी निष्पक्ष बने, वे एक ऐसे दृष्टिकोण का प्रतिपादन करेगे ही जो उस जाति के लिए ही विशेष है। इसलिए उनके मतानुसार उचित यह था कि हमारे यहाँ के नौजवान अग्रेजी के अतिरिक्त दूसरी-दूसरी भाषाओ को सीखे, और उनके जरिये जगत् को देखे।

इसमे सन्देह नही कि जो हजारो लोग आज अग्रेजीदाँ है वे अग्रेजी के माध्यम से ही जगत् को देखने के अभ्यस्त है और देखेगे, पर हमारे नौजवानो को चाहिए कि वे अग्रेजी के अतिरिक्त जगत् की दूसरी मुख्य तथा अमुख्य भाषाओ को भी सीखे। इस प्रकार जब हम सभी जातियो के दृष्टिकोण से जगत् को देखेगे तभी हमे जगत् के सम्बन्ध मे सही ज्ञान प्राप्त होगा। मै समझता हूँ कि जब स्वतन्त्र भारत के स्वतन्त्र विश्वविद्यालयो का पाठ्य-क्रम तैयार किया जायगा, तो उसमे प्रारम्भिक श्रेणियो मे तो मातृ-भाषा के अतिरिक्त किसी भी भाषा को स्थान न दिया जायगा। भाषा-शिक्षण-विशेषज्ञो के मतानुसार भी जब एक छात्र किसी एक भाषा को तुलनात्मक रूप से अच्छी तरह सीख

लेता है, तभी उसे दूसरी भाषा शुरू करानी चाहिए, तब वह उसे जल्दी सीखेगा। हमारे यहाँ यह जो प्रथा है कि बचपन से ही दो तीन भाषाओ को एक साथ शुरू कराया जाता है, यह भाषा शिक्षा की दृष्टि से बिलकुल गलत है। इसी शिक्षा का नतीजा यह है कि लोग एक भी भाषा को पुख्तगी के साथ नही सीख पाते।

जब आगे बढे हुए छात्र को कोई विदेशी भाषा सिखाई जाय जैसे अग्रेजी, तो मेरी राय यह है कि प्रत्येक छात्र को एक ही भाषा–अग्रेजी–सीखने के लिए बाध्य न किया जाय। प्रत्येक उच्च शिक्षा देने वाली सस्था मे इस बात की व्यवस्था होनी चाहिए कि छात्र चाहे तो अँग्रेजी सीखे, चाहे फ्रेच, जर्मन, रूसी स्पेनिश, या इस प्रकार की कोई विश्व-भाषा सीखे। शुरू-शुरू मे तो छात्रो को फ्रेच, जर्मन, स्पेनिश, रूसी भाषा सीखने के लिए प्रोत्साहन के निमित्त विशेष पुरस्कारो की व्यवस्था की जाय। हम अग्रेजो की गुलामी से मुक्त हो चुके पर हमे अग्रेजी की गुलामी से भी मुक्त होना है।

पर अग्रेजी से मुक्ति अग्रेजी छोडकर सस्कृत, फारसी, अरबी या भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओ को सीखने से न होगी। अग्रेजी को छोडकर हमे उसकी जगह पर ऐसी भाषा सीखनी पडेगी जो उसके अभाव की पूर्ति कर सके। कहना न होगा कि फारसी आदि भाषाएँ उस अभाव की पूर्ति नही कर सकती क्योकि वे तो हमारी हिन्दी-बँगला आदि भाषा से भी पिछडी हुई है।

इससे हमारा यह अभिप्राय नही है कि लोग इन भाषाओ का पठन-पाठन छोड़ दे। बल्कि हम तो यह चाहते है कि एशिया की इन भाषाओ का पहले से अधिक व्यापक रूप मे शिक्षण होना चाहिए, क्योकि हमे एशिया के अन्य देशो से मित्रता करनी है और जहाँ भी जो प्रगतिशील ताकत है, उसे सहायता पहुँचानी है। हमे अपने पडोसियो को और भी व्यापक रूप से तथा गहराई के साथ समझना चाहिए। हमे निरन्तर उनके साहित्य से सम्बन्ध बनाये रखना चाहिए। प्रत्येक हिन्दी-बँगला-दैनिक पत्र के दफ्तर मे ऐसे व्यक्ति होने चाहिए जो नियमित रूप से चीनी, जापानी, ईरानी, अरबी आदि रेडियो को सुने, वहाँ की राजनीति की अन्तर्धाराओ को समझे, वहाँ के साहित्य के उद्यान से पुष्प तथा विचार चुनकर हमारे साहित्य को समृद्ध करे। एक बडी जाति बनने के लिये हमे इन बातो को करना ही है, नही तो स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नही होगा।

हम यह भी चाहते है कि पहले से अधिक व्यापक रूप मे लोग सस्कृत का पठन-पाठन करे, इसलिए नही कि वह देवभाषा है, इसलिए नही कि इसका

धार्मिक महत्व है, बल्कि इसलिए कि संस्कृत मे ही हमारा प्राचीन इतिहास, साहित्य, कला और संस्कृति की जडे मौजूद है। हम आज भले ही उस संस्कृति को वर्तमान काल के उपयुक्त न समझे, और ऐसा समझना हमारे लिए स्वाभाविक ही है, पर अपनी जड़ो को जानने के लिए हमे पहले से अच्छी तरह संस्कृत का अध्ययन करना है।

अन्त मे स्वतन्त्र भारत की भाषा, शिक्षा के सम्बन्ध मे हमे यह बात स्पष्ट कर देना है कि जैसे आज लोग स्कूलो मे संस्कृत, फारसी, अरबी सीखते है, उस प्रकार से हमे कोई भाषा नही सीखनी है। हम जिस भाषा को सीखेगे उसे अच्छी तरह सीखेगे ही नही जिसका हमारे कर्म-जीवन के साथ कोई अनिवार्य सम्बन्ध न हो। जिस भाषा का बाद के कर्म-जीवन से कोई सम्बन्ध नही होता, उसके सीखने मे जो भी कर्म-शक्ति लगाई गई, वह करीब व्यर्थ ही गई।

मै पहले ही बता चुका हूँ कि प्रारम्भिक शिक्षा मे मातृ-भाषा के अतिरिक्त किसी भाषा की शिक्षा आवश्यक नही, पर उच्च शिक्षा मे बहुत दिनो तक हमे मातृ-भाषा के अतिरिक्त एक यूरोपीय भाषा, एक भारतीय भाषा तथा हो सके तो एक अन्य एशियायी भाषा सीखनी पडेगी। इसी से हम अपने देश को सफल तथा पूर्ण सम्पन्न बना सकेगे।

१६

# आँद्रे जिद

समसामयिक साहित्यिक विभूतियो मे फ्रेंच लेखक आद्रे जिद का स्थान बहुत ही अद्भुत था। मृत्यु के पहले कई सालो से ही उसकी वाणी मूक हो चुकी थी, फिर भी उनका साहित्य मरा नही था यह इसी बात से स्पष्ट है कि जब अभी अभी उनका देहान्त हुआ, तो लेखको ने अपनी सारी परिपाटी तोड-कर उनके सम्बन्ध मे उस लैटिन कहावत का सम्पूर्ण रूप से अनुसरण नही किया जिसमे यह कहा गया है कि 'मृत व्यक्ति के सम्बन्ध मे अच्छाई के सिवा कुछ मत कहो।' फ्रेंच साम्यवादियो के मुख्य पत्र 'ह्युमानिते' ने लिखा 'अभी-अभी एक लाश मरी है।' समसामयिक विख्यात लेखको मे एक वे ही प्रगतिवादी नही थे, इस कारण 'ह्युमानिते' की यह बात समझ मे आती है। जॉ पाल सार्त्र ने इसी वाक्य को उद्धृत करते हुए कहा कि इसी से ज्ञात होता है कि अस्सी साल के इस बूढे मे जिसने करीब-करीब लिखना छोड दिया था कितना वजन था।

इसमे सन्देह नही कि आद्रे जिद ने अपने साहित्य से लोगो को अधिकतर नाराज ही किया, शायद ही किसी को खुश किया हो। उन्होने किसी परम्परा, मतवाद, अनुशासन को यदि कभी माना तो अगले ही क्षण वे उसके विरुद्ध हो गए, कोई ऐसी बात कह दी जिससे उसकी जड ही कट गई। उनको साम्राज्य-वाद उपनिवेशवाद पसन्द नही थे, उनको उन्होने धक्के पहुँचाये। फिर साम्यवाद को अपनाया, पर उसे धक्का मारकर अलग हो गए। उनके स्वभाव का यह परिणाम हुआ कि मरते समय वे कोई ऐसी प्रशसक मडली नही छोड गए जो यह कहे कि वह उनका अनुयायी है, क्योकि उनके सारे साहित्य मे से कोई सन्देश नही निकलता सिवा इसके कि मन मे जो लहरे उठे, उन्हे किसी की यहाँ तक कि अपनी तथा अपने पहले के वक्तव्यो की परवाह बिना किये कहो। ऊपर से यह सन्देश भी जब कि प्रत्येक क्षेत्र मे मतो का दमन एक आम बात है एक

अच्छा और सुन्दर सन्देश मालूम होता है, पर ऐसे व्यक्ति के साहित्य से जीवन को जीने के लिए कोई स्पष्ट सकेत या इगित नही निकलता। वे मानो सशय और द्वन्द्व की प्रतिमूर्ति थे।

यदि यह बात देखी जाय कि आँद्रे जिद का जन्म १८६९ मे हुआ था, जब हर बात को स्वीकार करने तथा मान लेने की परिपाटी थी, तो यह समझ मे आयगा कि उनका मन संशय मे क्यो बस गया। इगलैड मे उस समय विक्टोरिया-युग चल रहा था, तो फ्रास भी अभी एक ज्वालामुखी के सामने खडा था। १७८९ और उसके बाद नैपोलियन के युग तक फ्रास ने खूब सोचा और दूसरो को सोचने के लिए बाध्य किया। पर फ्रैको-प्रुसियन युद्ध के रूप मे उसे एक धक्का मिलने ही वाला था, जो उसे तिलमिला देता। सच तो यह है कि अभी तक द्वितीय महायुद्ध मे फ्रास की द्रुत पराजय और अभी अटलैण्टिक पैक्ट और उसके तत्त्वावधान मे जर्मनी के पुन: शस्त्रीकरण तक धक्को का वह सिलसिला चला ही आ रहा है। आँद्रे जिद ने सशय उत्पन्न करके पहले के आत्मसन्तुष्ट वातावरण को फाडकर फेकने मे सहायता दी यह तो अच्छा किया, पर फ्रास को, यूरोप को, दुनिया को वे कोई रचनात्मक बात नही दे सके जिससे जीवन का उन्नयन होता, बल्कि उन्होने उन्नयनकारी सिद्धान्तो तथा प्रयोगो मे भी उसी प्रकार मे सशय उत्पन्न किये जैसे उन्होने सडे-गले सिद्धान्तो मे किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि उनका सारा साहित्य एक विराट् प्रश्न-चिह्न के रूप मे हो गया। प्रश्न-चिह्न अपनी जगह पर अच्छा होता है। पर वह सर्वत्र काम तो नही दे सकता।

पर आँद्रे जिद के स्वभाव मे यह आत्मविरोध, सशय और द्वद्व शायद अन्तर्निहित थे, ऐसे द्वन्द्व जिनमे कभी समन्वय नही हुआ। जैसा कि एन्थनी कर्टिस ने लिखा है "जिद के जन्म के पहले ही इन असगतियो का सूत्रपात होता है। उनके पिता फ्रास के दक्षिण के प्रोटैस्टेटपन्थी थे, और उनकी माता नर्माण्डी की कैथोलिक थी। उनके कथनानुसार इन युध्यमान प्रभावो ने उन्हे एक 'कथोपकथन के जीव' के रूप मे उत्पन्न किया, जो हमेशा चेष्टित रहता था कि पूर्ण सत्य की प्राप्ति करे, पर उसके पास पहुँचकर घूम पडता था, जिसमे कर्म के उत्स के रूप मे आवेग के बाद बुद्धि का सचरण होता था, जिसके लिए भविष्य भूत काल के मुकाबले मे अनन्त रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण है।" पर क्या केवल सशयो के बीज मे भविष्य की सुनहली फसल उत्पन्न हो सकती है, प्रश्न तो यह है। सशय रचनात्मक हो सकते है, पर एक हद तक ही, याने वहाँ तक जहाँ तक कि वे रचना मे बाधक शक्तियो को हटाकर

रचनात्मक शक्तियो को ढूँढ लेने मे सहायक होते है ।

मौरिस बारेस ने जिद के विरुद्ध एक बार यह अभियोग लगाया था कि वे 'देरासिने' याने जडकटे है, उनकी कही जड नही है, इसके उत्तर मे जिद ने कहा था "उजेस-निवासी पिता तथा नार्मन माता से पैरिस मे उत्पन्न होने पर भी आप मुझसे यह आशा करते है कि मेरी किसी जगह जड होगी।" सचमुच ही जिद केवल भौगोलिक दृष्टि से ही नही सैद्धान्तिक दृष्टि से भी जड़कटे थे, उनकी कही जड नही थी। उनकी समसामयिक विभूतियो मे शा और आनातोले फ्रास परम्पराओ के विरुद्ध परम विद्रोही थे; व्यग्य विद्रूप उनके मुख्य अस्त्र थे, पर उनके सम्बन्ध मे य; नही कहा जा सकता कि सिद्धान्तो के क्षेत्र मे वे बिलकुल जडकटे थे। पर जिद के सम्बन्ध मे यह कहना मुश्किल है कि उनकी कसौटी पर कोई चीज खरी भी उतरी। वहाँ तो हमेशा नेति-नेति ही रहा, और चूँकि उनकी इस नेति के फतवे मे परस्पर विरुद्ध बाते, जैसे फ्रेच औपनिवेशिकवाद और साथ-ही-पाथ सोवियट समाजवाद आ गए, इसलिए इस वस्तु तथा विषय-निरपेक्ष सशयवाद से कुछ निकालना कठिन है। अर्थात् जो कुछ निकलता है, वही जिद का व्यक्तित्व है।

जिद कोई अच्छे छात्र नही थे। कहते है कि करीब-करीब हमेशा उनका स्थान अपनी श्रेणी मे सबसे पीछे रहता था। कैसे इस प्रकार का यह बुरा छात्र बाद का इतना बडा विद्वान् और विचारक हुआ, इसकी व्याख्या इस प्रकार करने की चेष्टा की गई है कि उन पर किसी बाहरी बात का प्रभाव नही पडता था। जब तक तथा जहाँ तक वे अपने को उन्मुक्त करते थे तभी तक तथा वही तक उन पर किसी बात का प्रभाव पडता था। उन पर जो कुछ लादा गया, उसे उन्होने ग्रहण करने से इन्कार किया। उन पर भ्रमणो का बडा प्रभाव इस कारण पडा कि वे उन पर लादे नही गये थे। एसे ही दो भ्रमणो के कारण उन्होने दो बार अपने समसामयिको को बहुत भयकर धक्का पहुँचाया, एक बार तो उन्होने फ्रेच साम्राज्यवादियो को तब धक्का पहुँचाया जब वे फ्रेच कागो भ्रमण से लौटकर आये थे, और दूसरी बार प्रगतिवादियो को धक्का दिया, जब वे रूस का भ्रमण करके लौटे।

इन्ही कारणो से वे अपने युग के सबसे बडे व्यक्तिवादी कहे गए है। उन्होने स्वय भी 'सिलग्रानमेर' मे कहा है—

"मेरा यह निश्चित मत है कि प्रत्येक प्राणी को इस जगह मे एक हिस्सा अदा करना है—एक ऐसा हिस्सा जो केवल उसी का अपना है, और जो दूसरो के हिस्सो से विभिन्न है। इसलिए, एक साधारण नियम के अन्तर्गत अपने को

लाने की चेष्टा मेरी दृष्टि मे एक धोखा-मात्र है, और मै उसकी तुलना स्पिरिट या आत्मा के विरुद्ध एक पाप से करूँगा, जो कभी भी ऐसे कार्य को क्षमा नही करती जिसके कारण एक विशेष जीवन अपना पृथक् अपरिवर्तनीय निजत्व खो डालता है जो उसकी अपनी विशेषता है।"

मालूम होता है यह निजत्व ही उनकी सबसे बड़ी सम्पदा थी जिसे वे किसी भी हालत मे खोना नही चाहते थे। इसकी उन्होने हर हालत मे रक्षा की, और जब उन्हे ऐसा लगा कि उनके अहवादी निजत्व को आँच लग रही है, जैसा कि साम्यवाद या किसी समूहवाद मे लगना अपरिहार्य था, तो उन्होने उसे त्याग दिया।

जिद का प्रथम प्रकाशन 'आँद्रे बल्तर का रोज़नामचा' के नाम से निकला। इसमे उन्होने प्रथम यौवन के स्फुरण से मन मे उठने वाले विचारो का वर्णन किया है। पर इस पुस्तक से उन्हे विशेष ख्याति नही मिली। उनकी प्रथम महत्त्वपूर्ण रचना, जिनसे वे साहित्यिक मानचित्र मे आ गए थे, 'पृथ्वी के फल।' इस पुस्तक मे उन्होने उच्चवर्ग के एक फ्रेचमैन की तरह इस मत का प्रतिपादन किया कि इन्द्रियानुभूति तथा उच्छ्वास ही सब कुछ है, नियमो का कोई अस्तित्व नही है, इन्द्रियानुभूतिलब्ध आनन्द ही परम सुख है। इस पुस्तक मे वे प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजी सभावना की ओर इगित करते हुए पाये जाते है।

उन्होने 'इम्परालिस्त' या चरित्रहीन नामक पुस्तक मे इसी परम्परा को कायम रखा। उन्होने स्वय इस पुस्तक की तुलना मरुभूमि मे होने वाले उस सेब के साथ की, जिसके अन्दर तीखी राख होती है, और जो प्यासे आदमी के तलवे को जला देता है। इस प्रकार से इस पुस्तक की उपमा देने पर भी उनका कहना है कि सुनहले बालू पर फिर भी ये सब अपना निराला सौन्दर्य रखते है।

इस प्रकार सम्पूर्ण रूप से इन्द्रिय-सुख का प्रचार करते-करते जिद १९०७ मे 'बहके हुए लडके का गृहप्रत्यावर्तन' लेकर सामने आये जिसमे वे 'पृथ्वी के फल' मतवाद के सम्पूर्ण विरोधी के रूप मे—एक भक्त ईसाई के रूप मे आये। इन्द्रियसुखवाद से शायद वे अघा गए थे। पर वे नही मानते कि उन्होने बिलकुल दिशा पलट दी। वे बोले, "मुझे इन रास्तो मे होटलो को खोजना नही था, बल्कि भूख को ही खोजना था।"

कहना न होगा यह कथन वस्तुस्थिति पर रोशनी डालने के बजाय उसे शायद और जटिल बना देता है। मामूली आदमी को तो यही जँचेगा

कि किसी रास्ते को पकडकर यात्रा करने मे रास्ता साधन है, गन्तव्य स्थान या लक्ष्य ही प्रधान है, और ये होटल तथा यात्रा करते हुए जो भूख लगती है, वह तो कोई भी महत्त्व का बात नही है। पर नही, जो चिरकाल तक यात्री ही रहा है, जिसका कोई न लक्ष्य है, न गन्तव्य स्थान है, जिसे पथ मे ही रह जाना है, जान-बूझकर कही पहुँचना नही है, उसके लिए पथ की चाहे कोई बात, यहाँ तक कि लगने वाली भूख महत्त्वपूर्ण हो सकती है।

रहा भूख को खोजना, सो यह भी आँद्रे जिद के ही उपयुक्त है, जो सारी जिन्दगी यही खोजते रहे कि वह कौन सी चीज है जिससे उनकी भूख मिटेगी। क्या इतने से ही निरवच्छिन्न व्यक्तिवाद की व्यर्थता सिद्ध नही होती? पर इस सिद्ध करने के लिए आँद्रे जिद की तरह एक महान् जीवन को प्रयोग करते हुए उसकी बलिवेदी पर चढ जाना जरूरी था।

उनकी बाद की रचनाओ मे 'सिक्के बनाने वाले' नामक पुस्तक सबसे अधिक सफल रही। यो तो उनकी बहुत सी पुस्तके प्रकाशित हुईं। इस पुस्तक को कुछ आलोचको ने वर्तमान युग का सबसे महान् उपन्यास बताया है। इसमे सन्देह नही कि फ्रेच साहित्य पर जिद ने अमिट छाप छोडी, और यद्यपि ऐसे व्यक्ति की शिष्य-परम्परा की कोई बात नही उठती, फिर भी यह माना जाता है वर्तमान युग के सबसे ख्याति-प्राप्त लेखकगण — जैसे सार्त्र, कामिस तथा सैलिन पर उनका बडा प्रभाव है। यद्यपि जिद किसी दार्शनिक मतवाद के प्रतिपादक नही थे, पर उनकी रचनाओ को पढने से यह ज्ञात हो जाता है कि वाद को जिस एक्सिस्टैन्सियलिज्म को लेकर सार्त्र चले वह कोई नई उपज नही, बल्कि जिद भी उसके पास ही थे।

आँद्रे जिद के विद्रोह का मजाक उडाते हुए यह कहा गया है कि वे फ्लैनैल के तीन वैस्टकोटो से सुरक्षित होकर बहुत खतरनाक जीवन व्यतीत करते थे। इसमे सन्देह नही कि वे कोई कर्मवीर नही थे। उनके सम्बन्ध मे ऐसा दावा भी कोई नही करता। पर वे विचारो मे भी किसी ऐसे सामयिक नतीजे पर नही पहुँचे जिसे दिखाकर वे कह सकते कि आओ लोगो इस पर चलो। वे तो कभी किसी बात पर टिके ही नही। इसके लिए सार्त्र ने उनके साहस की दाद दी। उनका कहना है "जब ऐसा करना खतरनाक था, तब उन्होने सोवियट रूस का पक्ष लिया, और जब इस मत से सार्वजनिक रूप से पीछे लौटने के लिए इससे भी अधिक साहस की आवश्यकता थी, तो वे गलत या सही तौर पर इस निर्णय पर पहुँचे कि उन्होने गलती की थी।" कहना होगा कि साहस के लिए, यहाँ तक कि लोगो को धक्का पहुँचाने के लिए साहस का कोई अर्थ

ही नही होता, यदि गलत साहस दिखलाया गया तो वह कायरता के मुकाबले मे कोई वरणीय गुण नही कहला सकता। अतएव केवल साहस की दुहाई देकर किसी लेखक की प्रशसा करना बुद्धिमत्तापूर्ण नही जँचता। पर एक तो इसके सिवा आँद्रे जिद के सम्बन्ध मे कुछ कहना सम्भव नही था, दूसरा इससे सार्त्र को समझना भी आसान हो जाता है।

उनकी अन्य रचनाओ मे 'पास्टोरल सिम्फनी' उल्लेखनीय है। इसमे धर्म और जीवन मे सघर्ष दिखाया गया है। 'वैटिकन की गुफाएँ' नामक पुस्तक मे भी यही विषय लिया गया है, पर इसमे उस सघर्ष को और भी विस्तृत रूप से दिखाया गया है। स्मरण रहे कि आँद्रे जिद अन्त तक निरीश्वरवादी हो गए थे। इस कारण साम्यवाद-विरोधी हो जाने पर भी साथ ही निरीश्वरवादी होने के कारण प्रगतिविरोधी गुट उन्हे पूर्ण रूप से अपना नही सका। रूस के विरुद्ध उनके लेख को 'दि गाड दैट फेल्ड' मे लाखो की सख्या मे पुनर्मुद्रित किया गया, पर उनके धर्म मे सशय और अनास्था उत्पन्न करने वाली रचनाओ को महत्त्व नही दिया गया।

उनकी सबसे अच्छी रचनाओ मे 'जर्नल्स' भी है जिसकी तुलना उसके अग्रेजी अनुवादक जस्टिन ओब्रियेन ने गैटे के 'एकैरमैन से बातचीत' तथा मोतेन्यि की 'लेखमाला' से की गई है। यह पुस्तक भी विचार-प्रधान है, पर यथेष्ट ऊहापोह के बावजूद इससे कोई मन्तव्य निकालना कठिन है। ऐसा मालूम होता है विभिन्न रूपो मे आँद्रे जिद ही बोल रहे है। जैसा कि किसी ने इसके सम्बन्ध मे कहा है जितना ही वे अन्तरग ज्ञात होते है, और जितना ही पास वे मालूम होते है, वे उतने ही दूर है। ऊपर से तो मालूम होता है कि दिल खोलकर गूढतम बाते बता रहे है, पर सोचने पर मालूम होता है, वे अपने को छिपा रहे है। यह धोखा इस कारण होता है कि इस व्यक्ति का कोई अन्तरग है ही नही। जैसे एक नदी की जल-राशि बराबर बदल रही है, वैसे ही जिद का हाल है। उनके लिखने का एक ही कारण मालूम देता है, वह यह कि वे चुपचाप बिना लिखे सोच नही पाते।

किसी विश्वास को लेकर न चलने पर भी उन्होने इतना सुन्दर गद्य लिखा, केवल यही नही उन्होने अपने सशयवाद मे समसामयिक यूरोपीय मध्यम वर्ग के मनोजगत् को ऐसी सफलता के साथ चित्रित किया कि उन्हे नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ था। सार्त्र आँद्रे जिद की परम्परा को वर्तमान युग मे चला रहे है, ऐसा कहना शायद पूर्ण सत्य न होगा क्योकि व्यक्तिवादी की परम्परा ही बनी तो वह फिर व्यक्तिवादी कहाँ रहा। पर सार्त्र उनके सबसे

बडे प्रशसक है इसमे सन्देह नही और सार्त्र की उनके सम्बन्ध मे सबसे बड़ी प्रशसा यह है कि वे आप अपने लिए आप सत्य बने। पर आंद्रे जिद के तरीके पर प्रश्न करते हुए इस लेख को समाप्त किया जाता है कि क्या प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए आप सत्य बन सकता है, और यदि थोडी देर के लिए मान लीजिये बन ही जाय तो क्या सत्य का वह अर्थ रहेगा जो आज है ? क्या सत्य शब्द मे ही यह अन्तर्निहित नही है कि वह केवल एक के लिए ही सत्य नही है ?

२०

# भारतीय संस्कृति

जिसको देखो, वही आज भारतीय संस्कृति की दुहाई देकर अधिकारपूर्वक बात करने मे जरा भी नही हिचकिचाता ! सबसे मज़े की बात तो यह है कि भारतीय सस्कृति का नाम लेकर परस्पर विरुद्ध उपसहार निकाले जाते है। यह प्रमाणित करने की चेष्टा की जाती है, मानो भारतीय सस्कृति की उत्पत्ति, धारा और विकास के नियम अन्य सस्कृतियो के विकास के नियमो से पृथक् थे। इस सम्बन्ध मे इतनी धाँधली मची हुई है, और इस धाँधली के साथ इतने बडे-बड़े नाम सयुक्त है कि सहसा ऐसा मालूम होता है कि जो कुछ दावे किये जाते है, वे अकाट्य होगे। इसलिए यह और भी आवश्यक है कि भारतीय सस्कृति को विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखा जाय।

भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध मे जो सबसे गलत धारणा है, वह यह कि यह आर्यो की सस्कृति है। ऐतिहासिक कसौटी पर इस दावे को कसने पर कुछ और ही तथ्य ज्ञात होते है। जिस प्रकार हम भारतीय गण नस्ल की दृष्टि से विशुद्ध आर्य नही है, उसी प्रकार—और शायद उससे अधिक हद तक—कथित 'भारतीय सस्कृति आर्य-सस्कृति' नही है। इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे अच्छी गवेषणाएँ हुई है और अब हमे अपनी सभ्यता और सस्कृति के प्रागैतिहासिक सोपानो के सम्बन्ध मे बहुत-कुछ मालूम हो चुका है। पर दुख है कि इस सम्बन्ध मे जो गवेषणाएँ हुई है और जो ज्ञान उपलब्ध हुआ है, उनका साधारण जनता से 'ब्लैक आउट'-सा कर दिया गया है। इस सम्बन्ध मे विद्वानो का एक षड्यन्त्र-सा मालूम होता है। जो बाते इस प्रसग मे ज्ञात हो चुकी है, वे बहुत ही अद्भुत है, और जिन लोगो ने भारतीय सस्कृति की जडो का गहराई के साथ अध्ययन नही किया है, उनको शायद ये उपसहार बहुत ही आश्चर्यजनक—यहाँ तक कि सनसनी उत्पन्न करने वाले भी—ज्ञात हो !

यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है कि भारत मे आर्यो के आगमन के पहले यहाँ कम से-कम दो सभ्यताएँ मौजूद थी, जो आर्यो से किसी भी प्रकार निम्न कोटि की नही थी, बल्कि कई दृष्टियो से उससे उच्च कोटि की थी। इन दो सभ्यताओ के नाम आस्ट्रिक और द्राविड है। आस्ट्रिक जाति ने कृषि-कार्य मे बडी उन्नति की थी। वे व्रात्य या बद्दू अवस्था को पार करके बहुत पहले ही शालीन हो चुके थे। इस सम्बध मे शालीन शब्द द्रष्टव्य है। मनुष्य-जाति मे सर्वत्र शाला या स्थायी घर मे निवास करने के साथ ही शालीनता या सभ्यता को सयुक्त किया गया है। आस्ट्रिकगण कृषि के क्षेत्र में कई विषयो मे युग-प्रवर्त्तक थे। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के शब्दो मे "वे धान, पान, लौकी, बैंगन, नारियल आदि उत्पन्न करते थे। पहाड़ को काटकर वे धान के खेत तैयार करते थे, समतल भूमि को तो वे जोतते ही थे। पहले वे हल के लिए लकडी के पैने कुन्दो का व्यवहार करते थे। धनुष ही उनका प्रधान अस्त्र था। वे पेड के तने से बनी हुई डोगियो का प्रयोग करते थे। कई तनो को एक साथ बाँधकर उनसे एक तरह की डोगी बनाते थे। जिस पर वे बडी-बडी नदियो—यहाँ तक कि सागरो—को पार कर जाते थे।"

ऐहिक बातो मे ही नही, कई अन्य बातो मे भी वे आज के हिन्दुओ के गुरु थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य मे एक या एक से अधिक आत्माएँ होती है, जो मनुष्य की मृत्यु के बाद अन्य जीवो, तथा पेडो, पहाडो मे प्रवेश कर जाती थी। डॉक्टर सुनीतिकुमार ने बतलाया है कि बाद को चलकर यही धारणा हिन्दुओ मे पुनर्जन्मवाद के रूप मे उनके धर्म और दर्शन का सबसे प्रमुख अग बन गई। कहना न होगा कि यह बात इसलिए और भी बडी हो जाती है कि भारत में आने वाले आर्यो मे—यहाँ तक कि जब वे भारत मे बहुत दिनो तक बस चुके थे, तब भी—जैसा कि ऋग्वेद से ज्ञात होता है—पुनर्जन्मवाद की धारणा की उत्पत्ति नही हुई थी। ऋग्वेद मे, जो भारतीय आर्यो का सबसे प्रमुख और प्राचीन साहित्य है, जन्मान्तरवाद का कोई पता नही चलता। इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना चाहिए कि जन्मान्तरवाद ही भारतीय धार्मिक दर्शन और विचार-धारा की सबसे बडी विशेषता है। यहूदी, ईसाई और मुसलमान पुनर्जन्म मे विश्वास नही करते। उनके यहाँ तो कयामत का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार कयामत के दिन सब आत्माएँ उठेगी। इस प्रकार हम यह देखते है कि भारत के धार्मिक दर्शन की जो सबसे बडी विशेषता है, वह आर्यो से ली हुई नही है।

हिन्दुओ के धार्मिक जीवन का एक प्रधान अग श्राद्ध भी है, जिसकी

अन्तर्निहित विचार-धारा यह है कि मृतको को बीच-बीच मे रसद पहुँचाई जाय। यह धारणा भी आस्ट्रिको मे मौजूद थी, यद्यपि यह नही कहा जा सकता कि केवल आस्ट्रिको मे ही यह विश्वास था। यह विश्वास तो कई प्राचीन जातियो मे पाया जाता है, और यदि यह कहा जाय कि यह विश्वास करीब-करीब सार्वदेशिक था, तो इसमे कोई अत्युक्ति न होगी। प्राचीन मिस्र-निवासियो मे इस विचार का सबसे चित्रमय प्रदर्शन मिलता है, वहाँ मृतको को गाडते समय उनके साथ दैनिक आवश्यकता की सब वस्तुओ के साथ-साथ खाने-पीने के द्रव्य भी गाड दिए जाते थे। ऊँचे घरानो के लोगो के साथ तो गुलाम तथा बीवियाँ भी गाड दी जाती थी। अस्तु।

आस्ट्रिक जाति के लोग शायद सारे भारत मे फैले हुए थे। सम्भव है, ईरान तक फैले हो। ऐसा अनुमान किया गया है कि भारतीय सभ्यता का सबसे बडा प्रतीक 'गगा' आस्ट्रिक भाषा का शब्द है। स्मरण रहे कि ऋग्वेद मे 'गगा' का उल्लेख शायद कुल मिलाकर छै बार किया गया है, जब कि पजाब की दूसरी नदियो के नामो का बार-बार उल्लेख हुआ है।

शायद आस्ट्रिको के साथ नेग्रिटो का भी मिश्रण हुआ था। कुछ आस्ट्रिक शाखाएँ आर्यों के आगमन-काल तक अच्छी तरह सभ्य नही हो पाई थी। ये ही असभ्य आस्ट्रिक सस्कृत-साहित्य मे निषाद, भिल्ल, कोल्ल आदि नामो से उल्लिखित है। अनुसन्धान से पता लगा है कि आधुनिक कोल-जाति की विभिन्न शाखाएँ—जैसे सन्थाल, मुण्डा, हो, भूमिज, शवर-गदव, कुरकु, भील आदि—प्राचीन आस्ट्रिक जाति की ही सन्ताने है। जो आस्ट्रिक सभ्य थे और इस कारण जो आर्य-साम्राज्य के दायरे मे आ गए, वे तो हिन्दू-समाज मे बिलकुल खपा लिए गए। कैसे खपा लिए गए, यह एक बहुत ही गूढ प्रश्न है, पर यहा केवल इतना इगित कर दिया जाय कि आर्यो की समाज-रचना मे उन्हे निकृष्ट-तम स्थान दिया गया। आर्यगण भी उनके पहले के तथा बाद के विजेताओ की तरह थे, और उन्होने विजितो के प्रति वही बर्ताव किया, जो विजेता विजित के साथ करते आए है। आर्यो की विजय का अर्थ निकृष्ट सभ्यता पर उत्कृष्ट सभ्यता की विजय नही थी, वरन् वह श्रेष्ठतर सगठन तथा सैनिक शक्ति के कारण ही हुई। रामायण, महाभारत आदि मे वानरो, राक्षसो आदि की नगरियो का जो वर्णन आता है उससे भी इसी बात की पुष्टि होती है कि आर्येतर जातियो के सुन्दर-से-सुन्दर नगर बने हुए थे, और अन्य दृष्टियो से भी वे कुछ बुरे नही थे। लका की राजधानी अयोध्या की राजधानी से किसी प्रकार निकृष्ट नही थी। राम ने रावण पर जो विजय पाई, वह श्रेष्ठ-

तर सैनिक-शक्ति के ही कारण हुई। अवश्य इसके साथ रामायणकार ने यह दिखलाया है कि अधर्म पर धर्म की विजय हुई। आर्यो की यह विजय अन्य विजेताओ की तरह ही एक विजय थी। हिन्दुओ के धार्मिक साहित्य मे आर्य विजयो को अधर्म पर धर्म की विजय दिखलाया गया है, पर यह केवल आरोप-मात्र है।

अब इस दशा मे हुई गवेषणा के बाद यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दुओ के धार्मिक अनुष्ठानो मे जो नैवेद्य आदि मे पान, हल्दी, सिन्दूर, केला, सुपारी, धान आदि का प्रयोग होता है, यह आस्ट्रिक प्रभाव का ही फल है।

द्राविड़ो के सम्बन्ध मे यह ज्ञात होता है कि वे तथा उनकी नस्ल वाले एशियायी कोचक, ईराक, ईरान तक फैले हुए थे। ये लोग आस्ट्रिको से अधिक सुसगठित थे, और उनकी सभ्यता मे नगर की प्रधानता थी। बहुत से विद्वानो का अनुमान है कि मोहेंजोदडो और हडप्पा की सभ्यता आदिम द्रविडो की ही सभ्यता थी। अभी इन सभ्यताओ के सम्बन्ध मे पूरी जानकारी प्राप्त नही हुई है, पर जितना भी मालूम हो सका है, उससे इतना तो पता लग ही जाता है कि इन दोनो स्थानो की सभ्यता वैदिक आर्यो की सभ्यता से किसी भी क्षेत्र मे निकृष्ट नही थी। नगर-निवासी होने के साथ-ही-साथ ये खेती से परिचित थे, और ऐसा अनुमान किया गया है कि यही लोग बाहर से जौ और गेहूँ ले आए। द्राविड और आस्ट्रिक जातियो के लोग पड़ोसी के रूप मे रहते थे। छोटा नागपुर मे इसका एक उदाहरण अब भी मिलता है। वहाँ द्राविड जाति के ओरांव और आस्ट्रिक-जाति के मुण्डा अब भी एक साथ पाए जाते है। तामिलनाड मे द्राविड जाति की सभ्यता बहुत दिनो तक विशुद्ध रूप मे मोजूद रही। उत्तर भारत मे तो आर्य, द्रविड़ तथा आस्ट्रिक जातियो की सभ्यताएँ बहुत जल्दी एकरूप हो गई, और जिसे हम भारतीय सभ्यता या सस्कृति कहते है, वह इन तीन जातियो की संस्कृतियो के मिश्रण से ही बनी है।

यह बहुत ही मार्के की बात है कि शिव और उमा, विष्णु और श्री आदि हिन्दुओ के मुख्य देवता द्रविड लोगो से ही लिये गए है। अवश्य Syncretism या आदान-प्रदान की प्रक्रिया के अनुसार कोई भी देवता कही से विशुद्ध रूप मे नही आया। एक देवता मे आकर कई देवता शामिल हो गए और इस प्रकार हिन्दुओ के देवता बने। स्मरण रहे कि वैदिक आर्य हिन्दुओ के वर्तमान देवताओ से सम्पूर्ण रूप से अपरिचित थे। वैदिक आर्य इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, पर्जन्य, मरुत, ऊषा, वात आदि के पूजक थे। यद्यपि वैदिक आर्य

बहुदेववादी थे, फिर भी उनके देवताओ की संख्या बहुत सीमित थी। यहाँ पर मै इस प्रश्न पर जाना नही चाहता कि ये वैदिक देवता कैसे थे और इनकी कैसे उत्पत्ति हुई, यद्यपि यह एक बहुत ही दिलचस्प विषय है। हमारे इस लेख के उद्देश्य के लिए इतना ही जानना यथेष्ट है कि हिन्दू अपनी सभ्यता तथा सस्कृति को कितनी भी आर्य समझे, पर कम से-कम देवी देवताओ के क्षेत्र मे वे वैदिक आर्यो के उत्तराधिकारी नही है।

हम पहले ही इगित कर चुके है कि वैदिक धर्म मे पुनर्जन्मवाद का कोई पता नही है। फिर भी वैदिक आर्य जिस रूप मे मृत्यु के बाद जीवन मे विश्वास करते थे, उसका कुछ स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। वे यह तो विश्वास करते थे कि मृत्यु माने बिलकुल इति नही है, जैसा कि एक मन्त्र से (ऋक्, १०, १६, १-६) ज्ञात होता है। कई तरह के विचार एक साथ चलते थे। कोई सुनिश्चित विचार नही थे। जातवेद यानी अग्नि से यह कहा गया है कि वह मृतक को पितरो के पास भेज दे। फिर कहा गया है कि सूर्य उसकी आँख पावे, मरुत उसकी आत्मा को ग्रहण करे और जैसी उसकी अर्हता है, उसके अनुसार वह स्वर्ग या नरक को जाय। यदि उसके भाग्य मे है, तो वह जल मे जाय, वह जाकर अपने प्रत्यगो के साथ पौधो मे घर करे। पहले यह बता दिया जाय कि यह मन्त्र अपेक्षाकृत बाद के समय का मालूम होता है, फिर भी इसमे पुनर्जन्म का कही पता नहीं है। विण्टरनिट्ज के अनुसार ऋग्वेद मे कोई १२ मन्त्र ऐसे है, जिन्हे दार्शनिक कहा जा सकता है। इन मन्त्रो मे बाद के भारतीय दर्शन के कुछ विचार बीज-रूप मे मिल सकते है। पर पुनर्जन्मवाद का—जो बाद के भारतीय दर्शन, इस कारण हिन्दू-सभ्यता और सस्कृति का मूलगत विशिष्ट विचार है—इनमे भी कही पता नही है।

बाद के भारतीय दर्शन मुक्ति की कामना से भरे पडे है। पर वैदिक साहित्य मे इस प्रकार के विचार का कही पता नही लगता। इसका कारण यह था कि वैदिक आर्य अपने इहलोक से सन्तुष्ट थे, इसी से वे परलोक और मोक्ष के पीछे भागते नही फिरते थे जैसा कि मैने अपनी पुस्तक 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' मे लिखा है—"वेदो का युग एक तरह से आत्म-तृप्ति का युग था। बात यह है कि अभी तक आर्यो को बराबर नई-नई ज़मीने मिलती जा रही थी, वृद्धिशील साम्राज्य के कारण आपसी वर्ग-सघर्ष बहुत-कुछ छिपा हुआ था। इसलिए उस युग मे लोगो को मुक्ति या निर्वाण की कोई आवश्यकता नही जान पडती थी। इन्द्र, वरुण, अर्यमा, भग, यम आदि जो थोडे-से देवता थे, वे कोई बाहरी व्यक्ति नहीं थे। वे आर्यों के ही पूर्वपुरुष तथा उन्ही

के वीर थे। आदिम वैदिक धर्म मे आत्म-विलोप का कोई स्थान नही था। वह कुछ तो पितृ-पूजा और कुछ प्राकृतिक शक्तियो के विषय मे अत्यन्त अल्प-ज्ञान या अज्ञान होने के कारण तिलिस्म मे विश्वास का युग था। वैदिक धर्म के प्रथम युग मे धर्म बिलकुल सरल था। देवताओ को जो सोम-पान कराया जाता था, या उनकी जो प्रार्थना की जाती थी, वह भी प्रथम युग मे कट्टर अनुष्ठान के रूप मे नहीं था, बल्कि जैसे हम वृद्ध अपाहिज पिता को खाना पहुँचाते है, वह कमो-बेश उसी रूप मे था। सर जेम्स फ्रेजर ने धर्म की यह जो व्याख्या की है कि "धर्म से मै मनुष्य के द्वारा ऐसी श्रेष्ठ शक्तियो की तुष्टि तथा अनुकूलता प्राप्त करना समझता हूँ, जिनके विषय मे यह विश्वास किया जाता है कि वे मनुष्य-जीवन तथा प्रकृति की गति को नियमित और परिचालित करती है', यह कहाँ तक आदिम वैदिक धर्म पर लागू होती है, इसमे सन्देह है, क्योकि वरुण, इन्द्र, यम, अर्यमा और भग निसन्देह श्रेष्ठ शक्तियाँ समझी जाती थी, किन्तु उनकी यह श्रेष्ठता अभी तक उसी प्रकार की थी, जैसी पुत्र के सामने पिता या माता की होती या उससे अधिक, इसका निर्णय करने मे हम असमर्थ है।"

मै यहाँ इस विवाद मे पडना नही चाहता कि वैदिक देवता प्रकृति की बडी शक्तियो के कल्पनात्मक मूर्त मानव-रूप थे, जैसा कि श्री जयचन्द्र विद्यालकार तथा अन्य अनेक अध्यात्मवादी इतिहासकार मानते है, या वे आदिम वीरो तथा पूर्वपुरुषो के सूक्ष्मीकृत रूप-मात्र थे, जैसा कि मै समझता हूँ। यहाँ इस विषय पर आलोचना की आवश्यकता नही कि इनमे से कौन सा मत सत्य के अधिक निकट है। पर इतना तो बिलकुल निश्चित है कि वैदिक देवताओ से जो प्रार्थनाएँ की जाती थी, उनमे ऐहिक कामना ही दृष्टिगोचर होती है। बाद के स्तोत्रो की तरह उनमे मुक्ति की कोई प्रार्थना नही है। किस प्रकार देवताओ से कुछ माँगा जाता था, ऋग्वेद के एक मन्त्र (७।३५) मे देखिए—"इन्द्र और अग्नि हमे अपनी दया से सुख अर्पण करे। इसी प्रकार से इन्द्र और वरुण भी करे, जिनके लिए यह यज्ञ किया जा रहा है। इन्द्र और सोम हमे सुख, कल्याण तथा आशीर्वाद प्रदान करे। इन्द्र और पुषाण शत्रु से प्राप्त धन की प्राप्ति कराके हमे सुख दे। भग हमे सुख दे। धाता हमे सुख दे। पर्वत हम सुख दे इत्यादि।" इसी मन्त्र मे अग्नि, मित्र, वरुण, आश्विनो तथा मरुतो से भी सुख ही माँगा जाता है। वीर की गरिमा का वर्णन करते हुए यह बताया गया है कि अपहृत गायो की बगल मे वह बहुत सुन्दर मालूम होता है। ऋग्वेद (९, १६, ६) के इस मन्त्र को देखिए, जिसमे सोम की प्रशसा की गई

है--"सोम अपनी पूर्ण गरिमा मे ऐसे मालूम होते है, जैसे कोई वीर युद्ध के बाद अपहृत गायो को लिये हुए मालूम होता है।" इन्द्र कोउ लाहना देते हुए कहा जा रहा है (ऋग्वेद ८, १३, १+२)--"हे इन्द्र, यदि मै तेरी तरह सब भली चीजो का प्रभु होता, तो मेरे भक्त को पशु-यूथो की कमी न होती। तब तो मै उसे बहुत चीजे देता और उस ज्ञानी गायक पर आशीर्वाद की वर्षा करता। हाँ, यदि मै तुम्हारी तरह शक्ति का आधार तथा पशुओ का स्वामी होता।" इसी प्रकार एक दूसरे मन्त्र मे (ऋक् ८, १९, २५+२६) अग्नि तथा मित्र को कहा गया है कि यदि उनके भक्त गरीबी, अवहेला के शिकार हो तथा हानि उठायें, तो यह बडे आश्चर्य की बात है। बाद की प्रार्थनाओं तथा भजनो मे जैसे इस प्रकार की बाते कही गई है कि भव-बन्धन को काट दो, जन्म-मरण के वृत्त से मुक्ति दिलाओ आदि का वैदिक प्रार्थनाओ मे कही पता नही है। एक उदाहरण और देता हूँ। एक मन्त्र (ऋक् ५,८५) मे यह कहा गया है कि यदि हमने ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध कुछ किया है, जो हमसे प्रेम करता है, या भाई, मित्र अथवा साथी को हानि पहुँचाई है, या पडोसी या अतिथि को कष्ट दिया है, तो हे वरुण, हमको इस दोष से मुक्त कर दो। यदि हमने जुए मे धोखा दिया है, जान-बूझकर या अनजान मे इस प्रकार की कोई गलती की है, तो हमारे इन कुकृत्यो को बेडियो की तरह खोल दो और हमे अपना प्रिय बना लो।

इस प्रकार के सैकडो उदाहरणो से ऋग्वेद भरा पडा है। इस अर्थ मे बहुत गम्भीरता के साथ यह कहा जा सकता है कि बाद की हिन्दू-सभ्यता या सस्कृति और वैदिक सभ्यता बिलकुल भिन्न है, और भिन्न इस कारण से है कि इन दोनो के विश्व को देखने के ढग बिलकुल अलग है। केवल पूजित देवताओ की विभिन्नता के कारण ही नही, जो अवश्य एक बहुत बडा कारण है, बल्कि मौलिक रूप से विचारधारागत पार्थक्य के कारण यह कहा जा सकता है कि भले ही बाद का हिन्दू-धर्म या सस्कृति अपने पूर्वजो मे वैदिक धर्म को गिना सके, पर उन दोनो मे मौलिक करीब-करीब प्राणि-जातियो का अन्तर है। इस क्षेत्र मे यह दावा नही किया जा सकता, जैसा कि प्राणि-जातियो के सम्बन्ध मे दावा किया जा सकता है, कि जो चीज बाद को आई, वह पहले के मुकाबले मे विकसित है। बल्कि इससे विपरीत ऐसा समझने का कारण है कि बाद को चलकर जो कुछ भी हुआ, अवश्य वह सामाजिक, आर्थिक कारणो से हुआ, वह वैदिक धर्म की विकृति और पतन था।

बाद की भारतीय सस्कृति और कुछ भी हो, आर्य-सस्कृति नही है--

अवश्य स्वाभाविक रूप से उसमें आर्यों का दान काफी है। आर्यगण विजितो पर यो तो सब-कुछ लादना चाहते होगे। पर जिस चीज को वे सफलतापूर्वक लाद सके, वह थी उनकी भाषा। फिर भी विशेषज्ञो के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि उत्तर भारत की आर्य-भाषाओ मे—यहाँ तक कि बाद के युग की सस्कृत तथा प्राकृत मे भी—द्राविड तथा आस्ट्रिक प्रभाव दृष्टिगोचर है। सुप्रसिद्ध भाषातत्वज्ञ श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का कथन है कि 'बँगला तथा अन्य आर्य-भाषाओ मे ऐसी बहुत-सी रीतियाँ है, जो वैदिक या अन्य आर्य-भाषाओ मे नही मिलती, पर द्राविड और आस्ट्रिक भाषा मे ये रीतियाँ मौजूद है। आर्यो के इसी भाषागत प्रभाव के कारण ही हमारे पूर्वजो को तथा हमे बहुत भ्रम रहा है कि हमारी सस्कृति वैदिक आर्य-सस्कृति है, जब कि इसके विपरीत परिस्थिति यह है कि एक भाषा के अतिरिक्त सभी क्षेत्रो मे हमारी सभ्यता तथा सस्कृति अनार्य-सस्कृतियो से अधिक प्रभावित है।"

भारतीय सस्कृति के सम्बन्ध मे एक और कुसस्कार यह फैला है कि वह आध्यात्मिक है। पर ऐसी आध्यात्मिकता का मूल्य ही क्या, जिसकी छत्रछाया मे पलकर आदमी बुजदिल हो जाता है, सैकडो वर्षो तक गुलाम रहता है तथा साहित्य, विज्ञान, कला आदि सभी दृष्टियो से दूसरो से सैकडो वर्ष पीछे रह जाता है? जो लोग यूरोप के इतिहास से स्वल्प भी परिचित है, वे यह जानते है कि वहाँ के लोग धर्म तथा चर्च को बहुत अधिक महत्त्व देते रहे है। अब भी चर्च का वहाँ कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, वह प्रत्येक जानकार व्यक्ति को पता है। रहा शकर आदि की तरह आत्मवादी दर्शन का बोल-बाला, सो यूरोप मे भी स्पीनोजा आदि उस तरह के बहुत-से दार्शनिक हो गए है। यूरोप की सभ्यता और सस्कृति भी उतनी ही अध्यात्मवादी रही, जितनी कि भारत की!

भारतीय सस्कृति की सबसे बडी विशिष्ट सस्था वर्णाश्रम पर भी दो शब्द लिख देना जरूरी है। स्मरण रहे कि यह आश्रम-धर्म हिन्दुओ मे किसी युग मे भी नियमानुसार पालित नही होता था। मुख्यतया तब भी दो ही आश्रम थे—एक ब्रह्मचर्य अर्थात् छात्रावस्था और दूसरा गार्हस्थ्य। इसलिए आश्रम-धर्म के सम्बन्ध मे कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नही है। अब रह जाता है वर्ण, सो इसके सम्बन्ध मे भी हमे स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि रोटी के मामले मे वर्ण इस समय बहुत-कुछ लुप्त हो चुका है, फिर भी बेटी अर्थात् विवाह मे वर्ण अभी एक जीवित सस्था है। गीता मे स्वय भगवान् से यह कहलाया गया है कि उन्होने ही चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की। वर्णो के फल-

स्वरूप हमारे यहाँ करीब ५ करोड व्यक्ति अस्पृश्य है । इनके अतिरिक्त हमारी समाज-व्यवस्था इतनी उत्तम है कि कथित जरायमपेशा लोगो की सख्या भी दो करोड है । इनके अलावा कोई डेढ करोड आदिवासी है, जो तरह-तरह के कारणो से करीब-करीब प्राक्-सभ्यता के युग मे ही जीवित है । सनातन धर्मी विद्वान् अब भी वर्णों का गुण-गान करते थकते नही। इस सम्बन्ध मे डॉ० बी० आर० अम्बेदकर ने अपनी पुस्तक 'दि अनटचेबल्स' में लिखा है—"इन श्रेणियो का होना एक लज्जाजनक बात है । यदि इन सामाजिक उपजो की दृष्टि से हिन्द-सभ्यता को नापा जाय, तो उसे शायद ही कोई सभ्यता कहा जा सके । मनुष्यता को दबाने तथा उसे गुलामी मे रखने के लिए यह एक पैशाचिक पद्धति है । इस पद्धति का नाम कलुष या पाप रखा जाय, तो वह उचित होगा । एक सभ्यता, जिसने एक ऐसे समूह को उत्पन्न किया, जो अपराध द्वारा जीविका-निर्वाह को स्वाभाविक समझता है, एक दूसरी श्रेणी को उत्पन्न किया, जो सभ्यता के बीच मे रहकर भी आदिम बर्बरता के युग मे निवास करती है, और एक तीसरी श्रेणी को उत्पन्न किया, जिनके साथ मिलना-जुलना तो दूर रहा, जिनको छूने से ही मनुष्य अपवित्र हो जाता है, उस सभ्यता के सम्बन्ध मे और क्या कहा जा सकता है ? किसी और देश मे इस प्रकार की श्रेणियो के अस्तित्व से लोगो के मन मे आत्म-परीक्षा तथा इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे खोज की प्रवृत्ति उत्पन्न होती, पर हिन्दू के मन मे इस प्रकार की कोई भी बात नही उठी है । इसका कारण बहुत सरल है । हिन्दू यह नही समझता कि इन श्रेणियो का अस्तित्व लज्जा का विषय है, और वह इस बात की जिम्मेदारी महसूस नहीं करता कि वह उसके लिए प्रायश्चित्त करे, या कैसे इस पद्धति की उत्पत्ति हुई । इसके विपरीत प्रत्येक हिन्दू को इस बात की शिक्षा दी जाती है कि उसकी सभ्यता न केवल प्राचीनतम है, बल्कि बहुत से पहलुओ से अद्वितीय भी । कोई भी हिन्दू इन दावो की पुनरावृत्ति करते हुए थकता नही । हिन्दू-सभ्यता अत्यन्त प्राचीन है, इस बात को तो कोई समझ सकता है और उसे मान भी सकता है । पर यह समझना सरल नही है कि किन आधारो पर यह दावा किया जाता है कि हिन्दू-सभ्यता अद्वितीय है । हिन्दू चाहे इस बात को पसन्द न करे, पर जहाँ तक कि अहिन्दुओ की बात है, उनके इस दावे का केवल एक ही आधार हो सकता है, और वह है इन श्रेणियो का अस्तित्व, जिसके लिए हिन्दू सभ्यता जिम्मेदार है । किसी भी हिन्दू को यह बताने की जरूरत नही कि ऐसी श्रेणियो का अस्तित्व सचमुच अद्वितीय है । पर हिन्दुओ को यह समझना

चाहिए कि यह लज्जा का विषय है, न कि गर्व का।"

डॉ० अम्बेदकर ने वर्ण-व्यवस्था के बारे मे जो कुछ कहा है, उसके अलावा और कुछ कहने की आवश्यकता नही है। केवल एक बात की तरफ और ध्यान दिलाना है कि डॉ० राधाकृष्णन्, डॉ० भगवानदास आदि विद्वान् यह कहते नही थकते कि हमारे धर्मशास्त्र बडे ऊँचे दर्जे के है। मै उडानो की बात नही करूँगा। इसमे सन्देह नही कि उडाने भरने मे हमारे पूर्वपुरुष किसी से पीछे नही थे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' खूब चलता था, पर कानून तक मे अलग-अलग जातियो के लिए अलग-अलग सजा का विधान इसी देश के धर्म मे था। यदि ब्राह्मण शूद्रा के साथ बलात्कार करे, तो उसे कुछ-नही के बराबर सजा देने का विधान था, जब कि शूद्र ब्राह्मणी के साथ ऐसा करे, तो उसके लिए प्राण-दड की व्यवस्था थी। यह तो कानून की बात हुई, पर व्यवहार मे शायद शूद्र को तो हमेशा सजा मिलती थी और ब्राह्मण को कभी नही मिलती थी। यह थी हमारी आदर्श सभ्यता और सस्कृति! अब तक हमारी सभ्यता सामन्तवादी रही है, और उसमे भी वे सारी विशेषताएँ थी, जो अन्य सामन्तवादी सभ्यताओ मे पाई जाती है। फिर भी चतुर्वर्ण की जिस पद्धति का विकास हुआ, उससे बढ़कर सामाजिक दमन का यन्त्र शायद ही किसी देश मे किसी भी समय रहा हो।

हमारी सस्कृति के सम्बन्ध मे जो एक बात और बहुप्रचलित है, वह यह कि नारी का सम्मान यहाँ सबसे अधिक रहा। यूरोप मे न मालूम कब से एक विवाह उचित और भद्र समझा जा रहा है, पर यहाँ अब भी धार्मिक रूप से बहुविवाह उचित है। अवश्य ढूँढने पर 'जहाँ नारी पूजी जाती है, वहाँ देवता रमण करते है' आदि वाक्य शास्त्रो मे मिलने पर भी व्यवहार मे स्त्रियो की जो अवस्था है, वह किसी से छिपी नही। स्त्रियो को बहुत साधारण अधिकार दिलाते हुए 'हिन्दू कोड-बिल' के नाम से जो विधेयक ससद के सामने पेश था उस पर ही कितनी दिक्कत हुई थी!

अन्त मे मै यही कहूँगा कि भारतीय सस्कृति के बडप्पन का भ्रम छोडकर हम अपनी आँखे खोले और जो बाते हमारे यहाँ अच्छी है, उनको रखते हुए बाकी बातो को त्याग दे। क्या अच्छी है और क्या बुरी, इसकी हमारे पास एक ही कसौटी है, और वह यह कि कौन सी बात जनता के लिए वास्तविक रूप से अच्छी है और कौन सी खराब। उस कसौटी पर सके जाने पर हम अपनी सभ्यता और सस्कृति की बहुत सी बातो को त्यागना पडेगा।

२१

# सृष्टि-क्रम में मनुष्य का स्थान

समस्त धर्मों मे यह एक बद्धमूल धारणा रही है कि मनुष्य सृष्टि-क्रम का मध्यबिन्दु है, अशरफुलमखलूकात है तथा समस्त सृष्टि-चक्र उसी के चारो ओर विवर्तित हो रहा है। सूर्य उसी के लिए तपता है, चन्द्र उमी के प्रेम को मधुर-तर अथवा विरह को अधिकतर दु खमय बनाने के लिए आकाश के आँगन में नित नये प्रकार से अपनी नृत्य-छटा विकीर्ण करता है। तारो की आवश्यकता इसीलिए है कि मनुष्य जब रात्रि के एकान्त मे आकाश की ओर दृष्टिपात करे तो कोई सुन्दर वस्तु उसको आँखो को अभिनन्दित करे। जब सुदूरस्थित तारो को भी इस प्रकार घसीटकर मनुष्य जाति की कार्य-सिद्धि के लिए सोद्देश्य कहा गया है तो फिर कहना न होगा कि इस पृथ्वी के ऊपर की तथा आस-पास की सभी चीजे मनुष्य को इसी रग मे नज़र आती होगी। सृष्टि के क्रम तथा गूढ रहस्यो से अनभिज्ञ व्यक्ति भी यह बता देगा कि अमुक वस्तु मनुष्य के अमुक उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनी है। साराश यह है कि इस मत मे सृष्टि की सभी चीजें मनुष्य के किसी-न-किसी प्रत्यक्ष या परोक्ष उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही बनी है। यह धारणा एक ओर तो जाकर इस ऊँचाई पर पहुँच गई है कि जो कुछ भी हो रहा है सब अच्छाई के लिए हो रहा है, दूसरी तरफ बिगडकर इस नीच धारणा मे परिवर्तित हो गई है कि जो कुछ भी बना है सब मनुष्य की वासना की तृप्ति के लिए ही है।

इसमे सन्देह नही कि यह धारणा समूचे मानव-समुदाय के लिए बडी प्रिय रही है। सब धर्मों ने परिश्रम से इस धारणा की जड मे पानी देकर इसे सीचा है, और इसकी हरियाली कायम रखी है—"God made man to his own image and likeness." ईश्वर ने मनुष्य को अपनी ही शक्ल तथा सरूपता का बनाया। और तो और स्वय ईश्वर अथवा उसकी विभूति पैगम्बर, प्राफेट या अवतार के रूप मे इसी मनुष्य जाति में अवतीर्ण होता है।

भला जिस योनि मे ईश्वर स्वय अवतरित हो, उसका क्या कहना ? हिन्दू धारणा के अनुसार चौरासी लाख योनियो मे मनुष्य योनि ही सबमे श्रेष्ठ है। देवतागण भी उसमे जन्म लेने के लिए तरसते है।

कवियो ने अपनी कल्पना की सारी पूँजी लगाकर इस धारणा को पुष्ट किया है। दार्शनिको ने इस पर सत्य का मुलम्मा चढाया है। पैगम्बरो ने ईश्वर की ओर से इस पर हामी भरी है। होते-होते इस धारणा ने जन-साधारण के मन मे यहाँ तक घर कर लिया है कि अब वह अकाट्य, अच्छेद्य समझी जाने लगी है। भला किसकी मजाल है कि इसे सन्दिग्ध दृष्टि से देख सके ?

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अर्नेस्ट हेकल ने इस धारणा को Anthropism की अभिधा दी है। इसको हिन्दी मे हम मनुष्यवाद कह सकते है, यानी वह वाद जिसमें मनुष्य ही सब सृष्टि का मानदण्ड हो। इसके तीन भाग कहे गए है—

(क) मनुष्य केन्द्रवाद, यानी वह धारणा जिसमे मनुष्य सारी सृष्टि का मध्यबिन्दु समझा जाता है, Anthropocentrism.

(ख) ईश्वर के ऊपर मनुष्य गुणारोपवाद, अर्थात् ईश्वर का मनुष्य का रूप धारण करना। इसमे ईश्वर के सम्बन्ध मे ऐसी धारणा है कि वह मनुष्य के ही तरीके पर न केवल सब कामो को पूरा करता है बल्कि उसी तरह सोचता भी है। इस धारणा के अनुसार मनुष्य केवल ईश्वर का एक नन्हा सस्करण ठहरता है, Anthropomorphism.

(ग) मनुष्यातिरञ्जनवाद, अर्थात् मनुष्य को उसके वस्तुगत अस्तित्व से बडा करके मानना। होते-होते यह धारणा मनुष्य की अमरता के विश्वास तक पहुँच जाती है, Anthropolatrism.

स्वाभाविक ही है कि इन धाराओ के साथ एक और धारणा भी अकाट्य रूप से सयुक्त है, वह धारणा यह है कि मनुष्य जैसा अब है वैसा ही वह शुरू से है, उसमे कोई उन्नति या क्रम-विकास नही हुआ है। पुराणो के अनुसार तो मनुष्य-जाति दिन प्रतिदिन अधोगति को प्राप्त हो रही है, क्योकि पहले के मनुष्य हजारो वर्ष जीने वाले, अमित बलशाली तथा अतुल प्रतिभासम्पन्न होते थे। सच बात तो यह है कि सब धर्मों का यह अविरल रुदन रहा है कि हम पहले स्वर्ण-युग मे थे और अब बडी अवनत अवस्था मे है।

जिस जमाने मे मनुष्य का ज्ञान-विज्ञान और विश्वास अटकलपच्चू तथा परम्परा के शिकञ्जे में जकडा हुआ था, जिस युग में वस्तु सर्वस्व (Objective) नाप-तोल की सुविधाएँ कम प्राप्त थी, जिस जमाने में आने-जाने की सहूलियते

नही के बराबर थी, उस जमाने में 'बाबा वाक्य प्रमाण' मानकर मनुष्य को सृष्टि का केन्द्र-विन्दु, उद्देश्य तथा सर्वस्व मानना क्षम्य था, और कुछ हद तक शायद स्वाभाविक भी परन्तु अब, जब कि विश्व के अन्तगत समस्त मैंटर का वजन कर लिया गया है, जब कि आकाश के कोने-कोने की खाक वैज्ञानिको ने छान डाली है, जब कि वर्ण-विश्लेषक के द्वारा ग्रहो के उपादान तथा उनकी पारस्परिक दूरी का पता लगा लिया गया है, तब ऐसी धारणाओ के बहाव में बिना सोचे समझे बहने जाना क्या बुद्धिमानी कहला सकता है ? अब समय आ गया है जब हमे अपने चारो ओर आँख उठाकर देखना चाहिए।

जब हम रात के एकान्त मे अगणित तारो से जटित नीले आकाश की ओर देखते है, तथा छायापथ की धवल व्योमगगा के बहाव मे अपने मन को खेते है, तो स्वभावत. मन मे यह प्रश्न उठने लगता है कि यह जो असीम सृष्टि का सागर हमारे सम्मुख लहराता है, इसमे हमारा क्या स्थान है। सभी पूर्णांग मतवादो मे तथा धर्मों मे अपने-अपने ढग से मानव-मन की इस स्वाभाविक जिज्ञासा की मीमासा की गई है। इस मीमासा को हम मतवाद का Weltanschauung या विश्व-दृष्टिकोण कह सकते है। मननशील मानव-मन की इस स्वाभाविक जिज्ञासा का फायदा उठाकर भूत काल मे बडी-बडी धाँधलियो की सृष्टि हुई है। यहाँ तक कि धर्मवादियो का यह हमेशा से एक नाका रहा है।

हम यहाँ इन जटिल प्रश्नो पर, किसी मतवाद अथवा धर्म की दृष्टि से नही, बल्कि विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करेंगे, और देखेंगे कि इन धारणाओ से बना हुआ यह पुराना मोर्चा विज्ञान के लौह-प्रहार का कहाँ तक सामना कर सकता है।

विश्व की विशालता की पैमाइश के लिए कोई साधारण मानदण्ड यथेष्ठ न होगा। यदि हम विश्व की रामकहानी को मीलो के माध्यम मे फिर भी समझने-समझाने का दुराग्रह करे तो हमें अको के बाद इतने शून्य लगाने पडेंगे कि उससे बात को समझ सकना तो दूर, और बुद्धि-भ्रम ही पैदा होगा। चाँद को हम रोज रात को देखते है, कवियो ने कविताओ के जरिए और दादी-नानी ने कहावतो के द्वारा इस चाँद को बिलकुल हमारे घर की चीज-सा बना दिया है। इसलिए पहले इसे लिया जाय।

चाँद पृथ्वी से बहुत ही करीब है। इसकी दूरी हमसे लगभग २५००० मील है। सुलिबैन का कहना है कि यदि रेलगाडी ६० मील की रफ्तार से फी घण्टा चले तो उसे यहाँ से चन्द्रलोक मे पहुँचने मे ६ महीने से ऊपर लगेंगे।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, चाँद बहुत निकट है, इसलिए इस गाडी वाली बात से शायद दूरी के समझने मे कुछ सहायता मिले, किन्तु यदि दूर तक तारो की दूरी को हम इस गाडी से थाह लेना चाहे तो हमे बडी निराशा होगी। लाखो बरस मे भी ऐसी गाडी उन तारो के पास भी नही फटक पायगी।

सूर्य हमारी पृथ्वी से ९ करोड ३० लाख मील की दूरी पर है। पृथ्वी इसी दूरी पर रहकर सूर्य की परिक्रमा करती रहती है, कभी दूरी इससे कुछ कम हो जाती है और कभी कुछ अधिक। हिसाब लगाकर देखा गया है कि यदि हम इस दूरी को इस पन्ने पर छपे हुए किसी नुक्ते से दिखायँ, अर्थात् इञ्च का शतांश कर दिखायँ तो इस पैमाने से आकाश की दूरतम वस्तु को हम दस लाख मील से दिखाना पडेगा।

वैज्ञानिको ने आकाश की पैमाइश करने के लिए एक मानदण्ड निश्चित किया है। वह मानदण्ड है रोशनी। सब गतिशील चीजो मे रोशनी की गति सबसे अधिक है। तरह-तरह के प्रयोगो से यह सिद्ध हो चुका है कि रोशनी की गति एक सेकेंड मे १८६००० मील है। चाँद की दूरी हमारी पृथ्वी से लगभग डेढ सेकेंड ठहराई गई है, यानी चाँद से पृथ्वी तक रोशनी आने मे लगभग डेढ सेकेंड लगता है। इसमे सन्देह नही कि यह मानदण्ड बडा अच्छा है, किन्तु जब इससे हम दूरतम तारो की दूरी नापने की चेष्टा करते है तो हमे फिर उसी निराशा का सामना करना पडता है, यानी वही लाखो और करोडो से काम लेना पडता है। जे० डब्ल्यू० सैलिबैन इस सम्बन्ध में लिखते है—"तो इस मानदण्ड से दूरतम ज्ञात नक्षत्र तक पहुँचने मे कितना समय लगेगा इसका उत्तर हजार लाख साल है।"

पहले ही हम कह चुके है चाँद से पृथ्वी तक रोशनी डेढ सेकेंड मे पहुँचती है। सूर्य से यह रोशनी हमारे यहाँ करीब आठ मिनट मे आ पाती है, यानी सूर्य के आलोक को हमारे पास पहुँचने मे ८ मिनट लगते है। सूर्य की दूरी पार्थिव मानदण्ड से देखे तो बहुत है, किन्तु दूरतम नक्षत्र की बात तो जाने दीजिये, निकटतम नक्षत्र की दूरी के मुकाबले मे भी यह कुछ नही है। हमारे निकटतम नक्षत्र का नाम है अल्फा आफ दि सेंटर। यह हमसे चार साल की रोशनी की दूरी पर है। यानी सूर्य हमसे जितनी दूरी पर यह उससे २८०००० गुना दूरी पर है। सूर्य की दूरी हमसे इतनी ही होती तो सूर्य की ज्योति इस समय की ज्योति का ७८४००००००००० वाँ अंश होता। इससे पता चलता है कि हमारी पृथ्वी की कौन कहे, सूर्य की भी नक्षत्रो मे कोई हैसियत नही है।

हमारे जाने हुए नक्षत्रो मे एक नक्षत्र है जो सूर्य से २५० लाख गुना बडा है। जाने हुए नक्षत्रो मे सबसे छोटा वैनमैनन का नक्षत्र है जो सूर्य के आकार का १०००००० वाँ भाग है।

केवल नक्षत्रो के आकार मे ही विषमता हो ऐसी बात नही। उनके अन्दर की वस्तु के घनत्व मे भी बडी विभिन्नता है। सर जे० एच० जीनस ने इस विषय को यो स्पष्ट किया है—

सूर्य मे एक टन यानी २८ मन उपादान या मैटर करीब-करीब उतनी ही जगह घेरेगा, जितना कि एक टन कोयला हमारे यहाँ के कोयले के गोदामो मे घेरता है, किन्तु नक्षत्र मे उतना ही मैटर एक पूरी हवेली घेर लेगा। और वैनमैनन के नक्षत्र में वह एक मटर के बराबर ही स्थान घेरेगा, वैनमैनन के नक्षत्र मे १०० टन मैटर अनायास ही एक जेबी नोटबुक मे लादा जा सकेगा। वैनमैनन के नक्षत्र के मैटर के घनत्व के मुकाबले हमारी पृथ्वी मकडी के हल्के जाले-सी बनी हुई है।

यह तो हुई नक्षत्रो की दूरी, आकार तथा घनत्व की बात, अब जरा उनकी सख्या पर भी विचार किया जाय। किसी व्यक्ति से यदि यह प्रश्न किया जाय कि रात को आकाश मे कितने तारे दिखलाई पडते है, तो वह अनायास ही यह उत्तर देगा कि अगणित, किन्तु यह बात गलत है। हम अपनी आँखो से बिना किसी यन्त्र की सहायता के दो हजार से अधिक नक्षत्र नही देखते। यह बात कुछ अविश्वसनीय-सी लगती है, किन्तु है यह बिलकुल सच।

सन् १६१० मे गैलेलियो ने पहले-पहल छाया-पथ की ओर अपनी छोटी-सी दूरबीन सीधी की थी। उसी दिन पहले-पहल यह बात आविष्कृत हुई कि छायापथ की रोशनी ऐसे असंख्य सूक्ष्म नक्षत्रो से प्राप्त होती है, जिनको नङ्गी आंखो से देखना सम्भव नही है। गैलेलियो के इस चमत्कारिक आविष्कार के बाद हमारे ज्ञान मे बहुत उन्नति हुई है, और हम इस छाया-पथ के निवासियो के विषय मे बहुत-सी बातें जानने लगे है। अमेरिका के माउट विल्सन स्थित १०० इच व्यास के दूरवीक्षण यन्त्र से १०० करोड नक्षत्र फोटोग्राफ की प्लेट पर नजर आते है। ग्रिनविच बेधशाला के ज्योतिषियो के हिसाब से हमारे नक्षत्र-मण्डल के नक्षत्रो की सख्या तीस या चालीस हजार लाख ठहरती है। अमेरिका के एक गणितज्ञ के हिसाब से यह सख्या ३००००० लाख तक पहुँच गई है।

आधुनिकतम ज्योतिष-शास्त्र मानता है कि हमारे नक्षत्र-मडल के आगे भी और नक्षत्र-मण्डल है जो कि हमारे ही नक्षत्र-मडल की तरह पृथक् स्थित है। इस विषय को यही छोडकर हम आगे बढ़ेगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि ये नक्षत्र आकाश-मार्ग मे किस भाँति बिखरे हुए है । सूलिवैन ने इस बात की कुछ धारणा बँधाने के लिए एक उदाहरण से काम लिया है । वह लिखता है कि कल्पना करो कि सूर्य एक बालू का दाना है जो यह कहना पडेगा कि सूर्य से निकटतम दूरी पर जो नक्षत्र है वह चार मील के फासले पर है । सब नक्षत्रो का यही हाल है । यदि हम कल्पना करे कि शून्य मे चार-चार मील की दूरी पर एक-एक बालू का दाना रेग रहा है तो हमे आकाश की शून्यता का सुन्दर बोध हो सकता है । हमारे नक्षत्र-मडल की विशालता के सम्बन्ध मे इसी से बोध हो सकता है कि यदि हम चार-चार मील की दूरी पर एक-एक बालू का दाना रखकर नक्षत्र-मडल का एक माडल नक्शा बनाना चाहे तो यह सम्भव न होगा, क्योकि वह एक-एक तरफ करोडो मील तक फैल जायगा । यदि हम आकाश के उतने देशो को, जितनों को हम अच्छी-से-अच्छी दूरबीन से देख सकते है, एक इतना बडा गोला मान ले जितनी बडी पृथ्वी स्वय है, तो हमे पृथ्वी को इच के दस करोडवे हिस्से के बराबर मानना पडेगा ।

हम पहले ही कह चुके है कि हमारे नक्षत्र-मंडल के अतिरिक्त भी और मंडल आदि का होना सम्भव है, तो स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि क्या विश्व का देश अनन्त तथा असीम है ? पहली दृष्टि मे यह प्रश्न उपहासास्पद लगता है, क्योकि इससे यह ध्वनि निकलती है कि गोया देश की कोई सीमा हो सकती है । इस प्रश्न का मतलब यह होता है कि कोई जगह है जहाँ जाकर यह देश खत्म हो जाता है । निस्सन्देह यह प्रश्न कुछ असम्भव-सा है । यदि देश की सीमा है तो उस सीमा के उस पार भला क्या है ? यह स्पष्ट है कि हम ससीम देश की कल्पना भी नही कर सकते ।

किन्तु इस कथन का कि देश अन्तवान् है, यह मतलब नही है कि वह ससीम भी है । हम ऐसा देश दिखा सकते है जो कोई सीमा न होते हुए भी अन्तवान् हो । ससीम तथा अन्तवान इन दो शब्दो की विभिन्नता का हम विश्लेषण करे और देखे कि इससे इस विषय पर क्या प्रभाव पडता है । हम पहले एक चपटे धरातल को ले, जैसे कि मेज का धरातल । यह अन्तवान् भी है और ससीम भी । मेज ससीम है क्योकि हर तरफ उसकी सीमा है, जहाँ से भी हम चलें और जिधर भी चले शीघ्र ही एक सिरे पर आ पहुँचेगे । उसके बाद मेज छोडे बिना हमारे लिए अग्रसर हो सकना असम्भव हो जाता है और यह मेज अन्तवान् तो है ही, क्योकि इसमे एक निश्चित वर्गफुट धरातल है ।

अब एक अण्डाकार पिण्ड के धरातल को लीजिए । आप देखेगे कि उसका

धरातल ससीम नही है। हम इस पिण्ड के चाहे जिस विन्दु से चले, बिना उसकी सीमा से टकराए अथवा बिना उसका छोर पाए चलते चले जा सकते है। यह बात जरूर होगी कि हम बार-बार उसी जगह से होकर गुजरेंगे किन्तु ऐसा कभी न होगा कि हम किसी सिरे पर आ लगे जैसा कि मेज पर चलने से होता है। इसके साथ ही यह बात भी माननी पडगी कि अण्डाकार पिण्ड का धरातल अनन्त नही है, क्योंकि इसमे भी कुछ निर्दिष्ट वर्गगज या वर्गफुट है। इस प्रकार हम अण्डाकार पिण्ड के धरातल के सम्बन्ध मे कह सकते हैं कि वह अन्तवान् है किन्तु असीम है।

हम देखते है कि धरातल की इन दो किस्मो मे बडा भेद है। एक चपटा धरातल तो तब तक कदाचित् असीम नही हो सकता जब तक वह अनन्त भी न हो। चलते चलते हम मेज के सिरे पर न पहुँचे इसके लिए जरूरी है कि मेज का सिरा इतनी दूरी पर हो कि उस तक पहुँचना असम्भव हो। किन्तु जहाँ तक अण्डाकार पिण्ड के धरातल का सम्बन्ध है, उसमे सिरे का प्रश्न नही उठता।

अब तक हमने केवल धरातल के सम्बन्ध मे आलोचना की है अर्थात् युग्मायतन देश (two dimensionl space) के विषय मे यानी उस देश के विषय मे आलोचना की है जिसकी केवल लम्बाई और चौडाई हो। क्या तीन आयतन वाले देश मे भी, अर्थात् उस देश मे, जिसमे लम्बाई, चौडाई व मुटाई है इस किस्म के किसी प्रभेद की कल्पना की जा सकती है? सौ यहाँ तक कि हजार साल तक इस प्रश्न को पूछते रहने पर भी हमे इसका नकारात्मक उत्तर ही मिलता है।

करीब सौ वर्ष पहले तक यह विश्वजनीन रूप से समझा जाता था कि तीन आयतन वाला देश एक ही प्रकार का हो सकता है। मोटे तौर पर हम इस देश को चपटा देश कह सकते है। ऐसा देश मेज की धरातल की तरह किसी भी हालत मे असीम नही हो सकता, जब तक कि वह अनन्त भी न हो। किन्तु १९ वी सदी के आरम्भ मे विशुद्ध विचार-जगत् मे एक अत्यन्त प्रकाड आविष्कार किया गया। एक-दूसरे से स्वाधीन रूप मे तीन मनुष्यो ने यह आविष्कार किया कि तीन आयतन (Dimension) वाले देश के लिए यह आवश्यक नही कि वह चपटा ही हो। उन्होने एक नए प्रकार के देश की कल्पना करके इस बात को सिद्ध कर दिया। उन्होने इस देश के गणितीय गुणों का प्रदर्शन करके दिखा दिया कि इस बात में कोई ताज्जुब करने की बात नही है, न उनकी बुद्धि पर सन्देह करने की कोई आवश्यकता है। इस नए प्रकार

के देश मे चपटे देश से कुछ और ही गुण है, साथ-ही-साथ चपटे देश की तरह यह बिलकुल युक्तिसङ्गत है।

इस आविष्कार को लोगो ने पहले-पहल केवल एक विशुद्ध बौद्धिक अवदान समझा, मानवीय बुद्धि के उत्कर्ष का यह एक प्रमाण समझा गया, किन्तु कुछ खुले-दिल तथा गम्भीर वैज्ञानिको ने यह बात सोचनी शुरू कर दी कि कही यह केवल बौद्धिक चमत्कार ही न होकर कुछ ठोस हो तो ? यह हमे किसने बतलाया कि हम इसी प्रकार के देश के अधिवासी नही है, यानी यह देश वैसा ही नही है। हम अवश्य हमेशा से यह समझते आ रहे थे कि हम चपटे देश मे रहते है, किन्तु यह कदाचित् इसलिए था कि हम नही जानते थे कि अन्य किसी प्रकार का देश भी हो सकता है। क्या कोई उपाय है जिससे मालूम हो कि हम चपटे देश मे रहते है या अन्य किसी प्रकार के देश मे ?

आइनस्टाइन ने इस प्रश्न को हल कर दिया है। उन्होने दिखा दिया है कि यदि देश वक्र (Curved) नही होता तो बहुत-सी बाते जो हो रही है दूसरी तरह से होती। खासकर कहा गया है कि बुध मे, जिसका कि ग्रहपथ दूसरे ग्रहो से कम वृत्ताकार है, यह प्रभेद साफ पकड मे आ जाता है। इस विषय पर बहुत जटिल तर्क दिये गए है, जिनका सार यह है कि आधुनिकतम विज्ञान के अनुसार विश्व अन्तवान् किन्तु असीम है।

निबन्ध के विषय के लिए विश्व-क्रम के सम्बन्ध मे जितना कहना आवश्यक था हम करीब-करीब कह चुके, फिर भी चलते-चलते दो-एक बात और कहेगे।

एक आलोक वर्ष मे ५८८०,०००,०००,००० मील होते है, अर्थात् रोशनी एक वर्ष मे इतने मील चलती है। यह दूरता पृथ्वी से सूर्य की दूरता की ६३२९० गुनी है। यह रोशनी आइनस्टाइन के द्वारा अनुमित कुल अन्तवान् देश की ५० लाख वर्ष में परिक्रमा कर पायगी, अर्थात् इतने समय के बात वह किरण वही लौट आयगी जहाँ से भी चली थी।

चलते-चलते सौर जगत् पर भी एक दृष्टि डाल दे क्योकि इससे हमारी पृथ्वी के सम्बन्ध मे धारणा कुछ स्पष्टतर हो जायगी। स्मरण रहे कि सूर्य लाखो नक्षत्रो मे एक नक्षत्र है। तथा उनमें भी वह कोई खास हैसियत नही रखता।

सूर्य का व्यास ८६५००० मील है, अर्थात् पृथ्वी से वह दस लाख गुने से भी बडा है, किन्तु घनत्व मे वह पृथ्वी के पदार्थ (mass) का केवल ३३०,००० गुना बडा है क्योकि वह पृथ्वी की तरह ठोस नही है। सूर्य लगातार रोशनी तथा उत्ताप के रूप मे शक्ति-वर्षा कर रहा है। प्रतिदिन इस कार्य से उसे

३६०,००० टन यानी १००८००००० मन की हानि उठानी पडती है, अर्थात् कल सूर्य जितना बडा था आज उसमे इतना कम है। फिर भी सूर्य का गोदाम ऐसा भरा हुआ है कि इस रफ्तार पर यह १५ लाख करोड वर्ष तक बना रहेगा। इसका साफ अर्थ यह हुआ कि सूर्य पहले इससे भी कही विराट कार्य था तथा और अधिक उत्ताप तथा रोशनी विकीर्ण करता था।

सौर जगत् मे सूर्य के अतिरिक्त आठ और ग्रह है। सूर्य की निकटता के अनुसार वे क्रमश ये है—(१) बुध, (२) शुक्र, (३) पृथ्वी, (४) मङ्गल, (५) बृहस्पति, (६) शनि, (७) यूरेनस तथा (८) नेपचून। पृथ्वी का एक उपग्रह है चन्द्र। यह बात नही कि सौर जगत् मे केवल पृथ्वी का ही उपग्रह हो। अवश्य बुध तथा शुक्र का कोई उपग्रह नही है। मङ्गल के दो उपग्रह है, बृहस्पति तथा शनि के नौ नौ उपग्रह है, यूरेनस के चार है तथा नेपचून का एक उपग्रह है।

सौर जगत् के सम्बन्ध मे धारणा दिलाने के लिए सर जान हेरशेल ने एक परिकल्पना की है, डॉक्टर स्मार्ट ने इसको सकलित करके अप-टू-डेट बनाया है। "सूर्य को हम यदि एक गोले से दिखाय जिसका व्यास २ फुट है तथा जो कि एक समतल क्षेत्र मे रखा है, तो फिर हमे अन्य ग्रहो को निम्न लिखित तरीके से दिखाना पडेगा। इस गोले से २८ गज की दूरी पर हमे बुध को एक आल-पीन के सिर से दिखाना पड़ेगा। शुक्र एक मटर होगा जो कि ५२ गज की दूरी पर होगा। मगल ११० गज की दूरी पर एक बडी आलपीन का सिर होगा। बृहस्पति को हमे ३०० गज की दूरी पर एक मॅझले आकार की नारगी से दिखाना पडेगा। शनि ६६० गज की दूरी पर एक छोटी नारङ्गी होगा। यूरेनस कोई १४०० गज के फासले पर एक छोटे से बेर से दिखलाया जायगा, नेपचून एक बडा बेर होगा और इसे कोई २१०० गज फासले पर दिखाया जायगा। रह गए पग्रह, उन्हे हम चाहे तो धूलि-कण या बालू के दाने से दिखा सकते है।"

इस प्रकार हम देख चुके कि सृष्टि-क्रम मे हमारी पृथ्वी की क्या हैसियत है।

### *पृथ्वी की उम्र*

अब एक मजेदार प्रश्न का उदय होता है। यह तो मालूम ही हो गया कि निखिल विश्व के क्रम मे पृथ्वी किसी भी तरह विशिष्ट नही बल्कि एक मामूली-से-मामूली ग्रह है। खैर, यह तो हुआ, अब प्रश्न यह है कि पृथ्वी-जैसी भी छोटी है किन्तु वह चिरकाल से तो है? यदि यह बात भी हो तो कुछ

इज्जत बच जाती, किन्तु हाय वैज्ञानिक, मेरे अनुसन्धानो से यह भी साध्य टिकता नही मालूम देता। सचमुच ही यह बात है कि पृथ्वी की भी एक उम्र है चाहे यह लाखो वर्ष हो या करोड वर्ष। मुश्किल तो यह है कि धर्म तथा पुराण भी इस विषय मे पृथ्वी को कोई सहायता देते नजर नही आते। सिसेरो (Cicero) वर्णन करता है कि चालडिया के पुरोहित सम्प्रदाय का यह विश्वास था कि २० लाख वर्ष पहले पृथ्वी अव्यवस्था ( Chaos ) से उदित हुई। खैर, यह भी गनीमत है, २० लाख से दिल पर कुछ धाक तो बैठती है, किन्तु और लोग तो इतने का साहस नही करते। जरथुस्त ने तो पृथ्वी को २०००० साल की युवती ही माना है। इबरानी लोग तो पृथ्वी को और जवान करार देने पर उतारू है। आर्कबिशप ऊसर की गणना के अनुसार पृथ्वी का जन्म-सवत् इबरानी ग्रन्थो के अनुसार ४००४ ईसा पूर्व ठहरता है। डॉक्टर आर्थर होमस डी० एस-सी० कहते है कि इस मामले मे हिन्दुओ ने ही बूढी पृथ्वी की इज्जत रख ली है, वे तो पृथ्वी को शाश्वत मानते है।

अब देखना यह है कि वैज्ञानिक इस पर क्या कहते है। कहना न होगा कि पृथ्वी की उम्र उनके लिए टेढी खीर रही है, और भिन्न-भिन्न तरीके से वे भिन्न-भिन्न निर्णयो पर पहुँचे है।

भूतत्व विद्या के विद्वान् डॉक्टर आर्थर होमस ने ग्रह-रूप मे पृथ्वी की उम्र भिन्न-भिन्न कारणो से जैसी ठहरती है, उसे यो दिखाया है—

*ग्रह रूप में पृथ्वी की उम्र*

(१) बुध ग्रह के ग्रहपथ की अनियमितता को देखते हुए—१०० से ५०० करोड़ वर्ष।

(२) चन्द्रमा की उत्पत्ति के ज्वार सिद्धान्त ( Tidal theory ) को देखते हुए—५०० करोड वर्ष से कम।

(३) छाया-पथ से सौर जगत् की यात्रा की दृष्टि से—२०० से ३०० करोड साल।

(४) पृथ्वी के बहिरावणस्थित ( Crust ) शिला-स्तूपो ( Rocks ) मे न्यस्त सीसा तथा रेडियो-क्रियाशील ( Radioactive ) पदार्थो के औसत परिणाम की दृष्टि से—३०० करोड वर्ष से कम।

(५) प्राचीनतम विश्लेषित रेडियो-क्रिया-शील खनिज पदार्थो की दृष्टि से—१४० करोड वर्ष से अधिक।

(६) समुद्र मे लवण के सग्रह की दृष्टि से—१७५ करोड वर्ष।

(७) भूगर्भ-सम्बन्धी बनावट की मुटाई की दृष्टि से—अपरिमेय।

(८) पृथ्वी के इनिहास म चक्र तथा परिभ्रमण (Cycles and revolution) की कल्पना को दृष्टि से—१४० करोड वर्ष ।

डॉक्टर होमस सब बातो को तौलने के बाद इस नतीजे पर पहुँचते है कि पृथ्वी की उम्र १६० करोड से ३०० करोड वर्ष के अन्दर है। जे० डब्ल्यू० एन मूलिबैन इसको २०० करोड वर्ष के लगभग होने का अनुमान करते हैं। मोटे तौर पर पृथ्वी २०० करोड वर्ष की बुढिया मानी जा सकती है। भूगर्भ-विद्या, ज्योतिष, गणित सबकी सम्मिलित गवाही का यही सार है ।

*मनुष्य जाति की उम्र*

बहुत-से धर्म पृथ्वी तथा मनुष्य जाति के उद्भव को समसामयिक करार देते है, किन्तु यह बात बिलकुल अतर्कसिद्ध है। जब भी पृथ्वी एक स्वतन्त्र ग्रह के रूप मे अस्तित्व मे आई हो, वह एक भयानक भाड की तरह दहकती हुई थी। जो कुछ भी पानी उसमे था, वह दिखाई नही पड सकता था, और वह गन्धक तथा धातुओ के भाप मे मिलकर विचरता होगा। ऐसी अवस्था मे भला जीव-जन्तु उसमे कैसे पनप सकते थे। लाखो सालो मे वह पृथ्वी कुछ-कुछ ठडी हो चली होगी, उसका बहिरावरण कडा हो चला होगा, फिर भाप बादल के रूप मे पृथ्वी पर बरसा होगा। लाखो सालो तक यह प्रक्रिया चली होगी, जैसी कि वह अब है।

फिर एक दिन की उत्पत्ति हुई, किन्तु इसका मतलब यह नही कि हजरते इनसान अस्तित्व मे आय। नही, हजरते इन्सान तो अमीबा, पहली मछली समुद्री शैवाल तथा अन्य ऐसी चीजो के लाखो वर्ष बाद प्रकट हुए।

इस तरह देखा जा रहा है कि मनुष्य जाति जीवन की घुडदौड मे बहुत पीछे आई। श्री एच० जी० वेल्स इस सम्बन्ध मे लिखते है—

"पृथ्वी की उम्र की तरह ऐन्द्रिय विकासवाद का सिद्धान्त भूत काल मे प्रचण्ड वितण्डा का विषय रहा है। एक ऐसा समय था जब कि अज्ञात कारणो से समझा जाता था कि ऐन्द्रिय विकासवाद (Organic evolution) का सिद्धान्त ईसाई, यहूदी तथा मुस्लिम सिद्धान्तो के साथ सामजस्यहीन है। वह समय अब चला गया और कट्टर-से-कट्टर प्रोटेस्टेट, कैथोलिक, यहूदी या मुसलमान अब सब जीवो की एक ही उत्पत्ति-सम्बन्धी इस अभिनव प्रशस्नतर सिद्धान्त को मानने के लिए स्वाधीन है। किसी प्रकार का भी जीवन एकाएक अस्तित्व मे नही आया। जीवन विकसित हुआ और हो रहा है। युग के बाद युग मे, जिसकी कल्पना करने से भी सिर घूमने लगता है, आदिम ज्वार-भाटे मे एक इंच-मात्र के रूप मे आरम्भ होकर जीवन बराबर स्वाधीन शक्ति

तथा सज्ञा की ओर हाथ-पैर मार रहा है।

"जीवन व्यष्टि मे आत्मप्रकाश करता है। ये व्यष्टि या व्यक्ति निर्दिष्ट वस्तु है ; वे लौहो या स्तूपो की तरह नही है। उनमे दो चारित्रिक विशेषताएँ है जो कि किसी निर्जीव पदार्थ मे नही है। वे अपने मे अन्य पदार्थ को जज्ब करके उसे अपना ही भाग बना सकते है, तथा वे प्रजनन कर सकते है। वे खाते है तथा बच्चा पैदा करते है। वे अन्य व्यक्तियो को जन्म-दान कर सकते है, ये व्यक्ति मुख्यत उन्ही की तरह होगे। किन्तु फिर भी कुछ विभिन्नता रहेगी। एक व्यक्ति तथा उसकी सन्तान मे एक विशेष तरह की पारिवारिक सदृशता है, साथ ही दोनो मे एक वैयक्तिक विभिन्नता है। यह बात सभी योनियो के लिए तथा जीवन की प्रत्येक अवस्था के लिए लागू है।

"वैज्ञानिकगण इस बात की व्याख्या नही कर सकते कि सन्तान जनक के सदृश ही क्यो हो और उससे विभिन्न ही क्यो हो। किन्तु यह देखकर कि सन्तान एक ही साथ जनक के सदृश है और विभिन्न भी, सामान्य बुद्धि यही बताती है कि यदि एक प्राणी-श्रेणी (species) जिस वातावरण मे पनपती थी, वह बदल जाय तो उसी के अनुसार सब प्राणी-श्रेणी मे भी परिवर्त्तन होगे। उस प्राणी-श्रेणी की किसी पुश्त को ले लीजिए और उसके अन्तर्गत व्यक्तियो पर दृष्टि डालिए, तो आपको यह मालूम होगा कि कुछ व्यक्तियो की वैयक्तिक विभिन्नता उन्हे उस प्राणी-समुदाय के दूसरे सदस्यो से जीवन-सग्राम मे अधिक योग्य तथा पोढा बनाती है। और मामूली तौर पर यह योग्यतर गुट अधिकतर दिन तक जीवित रहेगा, अधिक सन्ताने उत्पन्न करेगा और इस प्रकार पुश्त-दर-पुश्त वह प्राणी-श्रेणी अनुकूलतर दिशा मे परिवर्तित हो जायगी। इस प्रक्रिया को, जिसको प्राकृतिक निर्वाचन कहेगे, वैज्ञानिक सिद्धान्त कहने के बजाय प्रजनन तथा वैयक्तिक विभिन्नता से उद्भूत एक साध्य कह सकते है। × × × बहुत वैज्ञानिको ने जीवन के प्रथम विकास के सम्बन्ध मे आलोचना की है। इनकी यह कल्पना या आलोचना बडी दिलचस्प भी है इसमे सन्देह नही, किन्तु जीवन की प्रथम हलचल के सम्बन्ध मे कोई निर्दिष्ट ज्ञान यहाँ तक कि दिल मे घर कर लेने वाली कोई कल्पना भी नही है। फिर भी सभी इस बात पर एकमत है कि कीचड मे अथवा सूर्य-रश्मिमण्डित छिछले खारे पानी के बालू मे ही जीवन का प्रथम उद्भव हुआ होगा, फिर उसका धीरे-धीरे प्रसार हुआ होगा।"

अनुमान किया जाता है कि कोई पचास हजार वर्ष पहले एक जीव का विकास हुआ जो कि आदमी से मिलता-जुलता था। यह विकसित

होते-होते मनुष्य बना, यह नही कि बन-बनाया स्वर्ग उतर आया। अध्यापक हाक्सले ने इस विषय पर यह मजेदार बात कही थी कि यदि आप विकासवाद में विश्वास नही करते, तो यदि सबेरे उठकर नाश्ता करते समय आप एक सर्वथा नए प्रकार का जानवर देखे तो आपको आश्चर्य नही होना चाहिए।

सर आर्थर स्मिथ, उडवार्ड लिखते है—"जो थोडे-बहुत प्रस्तरीभूत जन्तु-देह मिले हैं उनके आधार पर हमने साधारण तरीके पर जो सिद्धान्त कायम किया उसकी पुष्टि होती है कि आधुनिक वानर तथा नर एक ही वानर-सदृश पूर्वपुरुष से विभिन्न दिशाओ में उद्भूत हुए है।" यानी दूसरे शब्दो मे वानर मनुष्य एक ही वृन्त के दो फल है।

पृथ्वी की उम्र को देखते हुए मनुष्य जाति की उम्र कुछ भी नही है। कहाँ २०० करोड वर्ष और कहाँ केवल ५० हजार वर्ष ? इसका मतलब यह होता है कि करोडो वर्ष तक यह पृथ्वी (जिस पर कि राज्य करने के लिए बताया जाता है मनुष्य जाति को ईश्वर ने भेजा) करोडो वर्ष तक मनुष्य जाति से शून्य होकर सूर्य की परिक्रमा करती रही। ऐसा भी मालूम होता है कि मनुष्य जाति जब उत्पन्न नही हुई थी तब सृष्टि का कोई खास काम अटका हुआ नही था। वैज्ञानिक केवल इतना ही कहकर निवृत्त नही होते वे तो कह रहे हैं कि एक समय आयगा जब कि पृथ्वी इतनी ठण्डी हो जायगी कि उस पर मनुष्य नही जी सकेगा। उसके बाद भी, यानी मनुष्य जाति के लुप्त हो जाने के बाद भी, पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती रहेगी।

### *उपसहार*

उपसहार मे हम कही हुई बातो को सक्षिप्त रूप से दुहरायँगे। उन बातो पर दृष्टि डालते ही सृष्टि-क्रम मे मनुष्य का स्थान मालूम हो जायगा।—वे बाते ये है—

(१) सूर्य लाखो नक्षत्रो मे से एक साधारण नक्षत्र है।

(२) पृथ्वी सौर-जगत् की एक मामूली सदस्या है।

(३) पृथ्वी की उम्र कोई २०० करोड वर्ष है जो कि अनन्त काल मे कोई विशेष हैसियत नही रखता।

(४) मनुष्य इस पृथ्वी पर ५०००० वर्ष से है। इस काल का कम-से-कम तीन चौथाई उसने निरी असभ्यता मे बिता दिया है।

(५) मनुष्य लगभग सब प्राणियो के बाद आया है।

इससे स्पष्ट है कि मनुष्य का सृष्टि का राजा होना निरा गपोडा है। क्रम-विकास ने जैसा उसे बनाया है वह वैसा ही है, किसी ने कोई खास नक्शा

सामने रखकर उसे नही बनाया है। इस विश्व मे ग्रहगण निरन्तर बन और बिगड रहे है, किसी भी प्रकार से मनुष्य की वे प्रतीक्षा नही रखते। यदि इस सृष्टि मे मनुष्य मे कोई विशेषता है तो यह कि वह इन बातो को समझ सकता है, किन्तु यह गौरव भी केवल उसी को अकेले प्राप्त है, यह भी वैज्ञानिकगण निश्चित रूप से नही कह सकते। क्योकि यह अनुमान किया जाता है कि अन्य ग्रहो में भी प्राणी हो सकते है। क्या पता वे मनुष्य से कही अधिक बुद्धिमान् हो। फिर भी मनुष्य का एक और भी गौरव है, और यह गौरव विज्ञान का दिया हुआ है। वह यह कि मनुष्य सबसे अधिक विकसित है। इस प्रकार विज्ञान ने एक हाथ से उसका काल्पनिक गौरव छीनकर दूसरे हाथ से उसे वास्तविक गौरव प्रदान किया है।

२२

# वर्तमान जगत् में समाचार-पत्र और लोकतंत्र

अभी अभी अमेरिका के न्यूयार्क नगर का 'सन' नामक दैनिक पत्र बन्द हो गया। यह पत्र १८३० में शुरू हुआ था। तब इसमे केवल चार व्यक्ति काम करने वाले थे, और इसमे बहुत थोडी पूँजी लगी हुई थी। पर जिस समय यह पत्र बन्द हुआ है, उस समय इसमें बारह सौ कार्यकर्ता थे, और लाखो की पूंजी लगी हुई थी। फिर भी यह नही चल सका और इसे बन्द कर देना पडा। यदि भारत में ऐसी बात होती, तो इस पर कोई ध्यान नही देता, पर अमेरिका में इस पर बडी-बडी आलोचनाएँ हुई है, और तरह-तरह के सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक, राजनीतिक प्रश्न उठाए गए है।

यह बात तो भारत में भी स्पष्ट हो चुकी है कि किसी समाचार-पत्र को चलाना इस युग में पहले के युग से बिलकुल भिन्न हो चुका है। अब से पचास वर्ष पहले यह सम्भव था कि एक मामूली कम्पोजीटर चिन्तामणि घोष इंडियन प्रेस के मालिक हो गए तथा दो-चार सौ की पूँजी से कोई पत्र चलाया गया। यदि अमृतबाजार पत्रिका, हिन्दू आदि पुराने पत्रो का इतिहास देखा जाय तो वे बहुत ही मामूली आरम्भ से उत्पन्न हुए, पर इस समय कोई दैनिक यहाँ तक कि साप्ताहिक या मासिक थोडी पूँजी से निकालना सम्भव नही है। अवश्य हिन्दी मे इस समय कई साप्ताहिक पत्र चल रहे है, जिनके पीछे बहुत ही थोडी पूँजी है, पर इन पत्रो को कोई महत्त्व प्राप्त नही है, महत्त्व से मेरा मतलब यहाँ राष्ट्रीय महत्त्व से है।

न्यूयार्क के 'सन' पत्र में चार कार्यकर्ता थे, इनमे से एक तो मालिक भी था और कार्यकर्ता भी। यह व्यक्ति एक छोटा-सा जाब प्रेस का मालिक था। दो कम्पोजीटर थे, और चौथा व्यक्ति एक रिपोर्टर था। इन चार मूर्तियो के सहयोग से अखबार चला, और खूब धडल्ले से चला। अखबार बेचने वाले भी केवल दो ही थे। फिर भी पहले दिन से ही अखबार सफल रहा। इसका

कारण यह था कि पहले की जनता सवादों के सम्बन्ध मे इतनी सजग नही थी तथा उसकी माँगे बहुत कम थी। अपने वृत्त के बाहर कुछ खबरों को जान जाना ही बहुत बड़ी बात समझी जाती थी इसके विरुद्ध आज परिस्थिति यह है कि अखबार पढ़ने वाली जनता न केवल अपने देश की ही खबरे जानना चाहती है, बल्कि वह साथ-ही-साथ सारे जगत् की खबरो को जानना चाहती है। केवल यही नही वह राजनैतिक के अलावा सब तरह की खबरे जानना चाहती है। साथ-ही-साथ अच्छी तस्वीरे भी हो, चुटकले भी हो, फैशन तथा खेल आदि के सम्बन्ध मे भी कुछ-न-कुछ रुचिकर हो। इन बातो को कहाँ तक गिनाया जाय। आज का पाठक समाचार-पत्र ही से सब-कुछ चाहता है, और सो भी ताजा-से-ताजा। यदि किसी समाचार-पत्र ने किसी दूसरे समाचार-पत्र से पहले कोई महत्त्वपूर्ण खबर दे दी, और किसी अखबार के पाठक ने यह देख लिया कि दूसरे अखबार का पढने वाला उससे पहले कोई बात जान गया, तो यह निश्चय है कि वह अपने अखबार को छोडकर दूसरे के ग्राहक बनने की बात सोचेगा। ऐसी अवस्था मे वर्तमान युग के अखबारो के परिचालको को बहुत सजग रहना पडता है। सजगता का अर्थ यहाँ केवल मानसिक सजगता नही है, सजगता का यहाँ पर अर्थ यह है कि उसके प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक क्षेत्र में अधिक-से-अधिक सजग सवाददाता हो, और वे प्राप्त सम्वाद को जल्दी से जल्दी अपने अखबार को हवाई डाक, तार, टैलीफोन जिस भी तरह सम्भव हो पहुँचायें।

कहना न होगा कि इसके लिए बहुत बडी पूँजी की आवश्यकता है। दूसरे शब्दो मे अब अखबारो का सञ्चालन कुछ मनचले आदर्शवादियो के हाथ की बात नही रही कि एक ट्रेडल और चार मित्र लिये, और अखबार चला दिया। अब तो अखबार चलाना उसी प्रकार से एक व्यवसाय है, जिस प्रकार से कपडो की मिल या अन्य कारखानो का सचालन है। यही कारण है कि देखते-देखते हमारी आँखो के सामने पुराने जमाने के सब अखबार लुप्त या अर्द्धलुप्त हो गए या पूँजीपतियो के हाथो मे बिक गए।

आज सारे भारत मे विशेषकर हिन्दी के क्षत्र मे बिडला, डालमिया, अग्रवाल आदि का जोर हो रहा है। इनके एक-एक नही, कई-कई अखबार है। यद्यपि विश्वमित्र-सचालक अग्रवाल स्वय उस अर्थ मे पूँजीपति नही है, जिस अर्थ मे बिडला या डालमिया है, फिर भी अग्रवाल को कई कारणो से विभिन्न पूँजीपतियो का पृष्ठपोषण प्राप्त है।

इस प्रकार पत्रो के क्षेत्र मे पूँजीपतियो की जजीरे बिछ जाने से पत्रो की

अभूतपूर्व उन्नति हुई है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है ? उदाहरणार्थ आज के किसी भी हिन्दी-पत्र—जैसे 'हिन्दुस्तान', 'नवभारत' आदि—को उठाकर पहले के जमाने के 'भारत मित्र' या अन्य किसी पत्र के साथ तुलना की जाय, तो यह ज्ञात होगा कि पत्र-संचालन-कला ने इस बीच मे कितनी उन्नति की है।

पर इसके साथ ही इसके लिए जो दाम देना पड़ता है, वह भी द्रष्टव्य है। पहले जब चार आदमी एक हस्तचालित ट्रेडल के इर्द-गिर्द बैठकर एक अखबार निकालते थे, वे जो-कुछ लिखते थे, वह स्वाभाविक रूप से जनता के मत को व्यक्त करता था क्योकि ये लोग चौबीसो घटे जनता मे मे रहते थे, जनता की भाषा बोलते थे और जनता की तरह सोचते थे। इस-लिए उन समाचार-पत्रो के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता था कि वे जनता के मत को प्रतिफलित करते है, पर क्या इन जजीरो के अन्तर्भुक्त समाचार-पत्रों मे व्यक्त मतवादो के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है ? न्यूयार्क के 'सन' पत्र के बन्द हो जाने पर जो आलोचना चल पडी है, उसमे एक बात, जो सबसे ज्यादा पूछी जा रही है, वह यह है। बात यह है कि 'सन' पत्र के मालिक को केवल ४० डालर का फायदा रहता था, जब कि आज के समाचार-पत्रो की जजीरो के मालिको को प्रातिदिन ४०,००० डालर मुनाफा रहना बहुत मामूली बात है।

कहना न होगा कि ऐसी अवस्था मे न तो अमेरिका में ही और न भारत मे ही अखबारो को जनता के मत का प्रतिपादक या प्रचारक कहा जा सकता है। सन्देह नही कि हमारे सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र मे यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन है, क्योकि अब तक परम्परागत रूप से यही समझा जाता था और है कि समाचार-पत्र जनता के मत को व्यक्त करते है। अवश्य प्रत्येक भद्र किस्म के पत्र मे अपनी निष्पक्षता के ढोग को कायम रखने के लिए यदा-कदा सम्पादकीय मत के विरुद्ध पत्र भी छापे जाते है। पर जहाँ सम्पादकीय मे पद्धति-गत रूप से सचालको का मत व्यक्त किया जाता है, वहाँ विरुद्ध मत को केवल कही कोने मे प्रकाशित किया जाता है। आजकल की जल्दी के जमाने मे बहुधा उस तरफ लोगो की दृष्टि ही नही जाती।

इस प्रकार एक बहुत बड़ा प्रश्न हमारे सामने आता है। वह यह है कि यह तो स्वीकृत है कि जैसे दूध, नल का पानी, बिजली, टेलीफोन का तार आदि हमारे जीवन के अपरिहार्य अग हो चुके है, उसी प्रकार से समाचारो का मिलना भी हमारे लिए अत्यावश्यक हो गया है। पर समाचार के साथ-साथ

हमारे दिमाग मे समाचार-पत्रो के सचालक अपने मतों को ठूँसनें की चेष्टा क्यो करते है ? क्या ऐसा करने का उन्हे अधिकार है ? और इससे भी बढ-कर बात यह है कि क्या उन्हे ऐसा करने देना चाहिए ? क्या उन्हे इस प्रकार करने देना लोकतन्त्र के लिए खतरनाक नही है ?

इस पर बडी-बडी आलोचनाएँ हुई है । यह तो आज सभी पक्ष मानने के लिए बाध्य हुए है कि आज के समाचार-पत्र जनता के मन को उसी हद तक अभिव्यक्त करते है, जिस हद तक वह सचालको या सचालक वर्ग के मत को प्रतिफलित करता है, बाकी बातो मे जनता के मत के नाम से सचालक वर्ग का मत प्रचारित होता है । कहना न होगा कि यह परिस्थिति कुछ अच्छी नही है, पर इसे दूर कैसे किया जाय ? यह कहा जा रहा है कि यदि पूँजीपतियों को अपने मत व्यक्त करने तथा उनका शान्तिपूर्वक प्रचार करने से रोका जाय, तो यह उचित नही होगा, क्योकि जनता को अपने मत को व्यक्त करने का अधिकार है, वैसे ही लोकतन्त्र मे पूँजीपतियो को भी अपने मत व्यक्त करने तथा उन्हे प्रचारित करने का अधिकार है । पर इस विन्दु को जितना भी खीचा जाय, पूँजीपतियो को यह अधिकार तो किसी भी तरह नही हो सकता कि वे अपने मतो को जनता के मत का जामा पहनाकर सामने रखे या उसका उस रूप मे प्रचार करे । इससे तो लोकतन्त्र के नाम पर लोकतन्त्र का हनन ही होता है ।

अमेरिका मे इस प्रश्न को यों उठाया गया है । हमारे घरो मे गैस, बिजली टेलीफोन, घर की मरम्मत आदि के सिलसिले मे बिजली वाले, गैस वाले रोज आते रहते है । यदि ये लोग अपनी सेवाएँ देते समय हमे राजनीति के सम्बन्ध में उपदेश देना शुरू करे, याने सब बतायँ कि हमे किसे वोट देना चाहिए, अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे हमे क्या सोचना चाहिए, तो इसे हम कभी बरदाश्त न करेगे । फिर हम इस बात को बरदाश्त क्यो करेगे कि जो खबरे हमे दी जायँ, और यह पहले ही बताया जा चुका है कि खबरे हमारे लिए उसी प्रकार की आवश्यकता की वस्तु हो गई है जैसे गैस, बिजली, दूध इत्यादि है उनके साथ-साथ हमारे दिमाग मे सचालको के विचार क्यो ठूँसे जायँ ? यह तो बहुत उचित प्रश्न हुआ, पर म्याऊँ का ठौर इस बात पर आ जाता है कि सचालकगण फिर अखबार चलाये ही क्यो ?

यह तो एक सुपरिचित बात है कि कम-से-कम भारत मे समाचार-पत्र व्यवसाय उतना मुनाफा देने मे समर्थ नही है जितना कि दूसरे व्यवसायो से मुनाफा रहता है । कई बार तो समाचार-पत्र घाटा सहकर निकाले जाते है ।

घाटा सहकर भी ये पत्र इसी कारण निकाले जाते है कि इस जनयुग मे जनता को साथ लेकर चलना सब का अभिप्राय है। इसी उद्देश्य से पूँजीपतियो की तरफ से अखबारो की बडी-बडी जजीरे खरीदी और बनाई जाती है। यह इतना खुला खेल है कि इसमे कोई दुराव-छिपाव नही है। सब लोग यही दिखाने का प्रयत्न करते है कि जो विचार उनके स्वार्थ के लिए अच्छा है, सब लोग उसी विचार का पोषण करे। जहाँ वोटो से सब बातो का निर्णय होता है, वहाँ इस प्रकार का प्रचार कार्य एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, और लोग इन उपायो से जनमत को नियन्त्रित करने मे समर्थ भी हो जाते है। हमारा देश तो बहुत पिछडा हुआ है, पर जर्मनी ऐसे आगे बढे हुए देश मे जहाँ एक से एक कलाकार और साहित्यकार यहाँ तक कि साक्षात कार्ल मार्क्स पैदा हुए थे, वहाँ हिटलर जनता के वोट के बूते पर शक्ति-आरूढ हुआ था। इसलिए केवल यह कहकर शुतुर्मुर्ग-वृत्ति धारण करके ऐसी तसल्ली कर लेने का कोई अर्थ नही होता कि अखबारो मे सब तरह के मत छपते रहते है और जनता को अपने स्वार्थ की बात समझने मे और उसके अनुसार वोट आदि देने मे दिक्कत नही होती।

इन बातो से यह स्पष्ट है कि अखबारो की इन जजीरो से लोकतत्र को बडा खतरा है। इस खतरे को दूर करने के लिए क्या करना चाहिए यह एक बड़ा भारी प्रश्न है। जैसा कि मै लिख चुका। इस खतरे से सब लोग परिचित नहीं है। इसीलिए खतरा और भी बडा है। केवल अखबारो की इन जजीरो से ही नही बल्कि जहाँ इक्के-दुक्के अखबार भी चल रहे है, वे भी कहाँ तक जनमत का व्यक्त कर सकते है इसमे सन्देह है, क्योकि छोटे पूँजीपतियो के स्वार्थ भी आधार-भूत रूप से अखबार की जजीर के परिचालको से भिन्न नही है।

ऐसी अवस्था मे जनता को अधिक-से-अधिक अन्य प्रकाशनो की ओर ध्यान देना पडेगा। साधारण समाचार-पत्र पाठक के लिए यह सम्भव नही है कि वह सभी मत तथा दल वालो के विचार तथा पत्र पढे। किसी उचित राय पर पहुँचने के लिए यह एक अच्छा तरीका है। पर साथ ही यह उपाय सबके लिए सुलभ नही है। हिन्दी मे अब भी मासिक पत्रिकाओ की ओर जंजीर वालो का ध्यान नही गया है, पर यह आशका करना अनुचित न होगा कि वे जल्दी ही इस ओर भी तेजी से कदम बढायँगे। तब तक एक हद तक मासिक पत्रिकाओ पर भरोसा किया जा सकता है। जाने हुए स्वतत्र विचार के लेखको की पुस्तकें भी इस सम्बन्ध मे काम दे सकती है। पर इस ओर सबसे बड़ा

कदम यह होगा कि जनता के मन मे यह बात पक्के तौर पर जम जानी चाहिए कि जो कुछ छप गया, यहाँ तक कि जो कुछ खबर के रूप छपता है, वह न तो अन्तिम मत है और न अन्तिम खबर। समाचार-पत्रो को अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करने वाले लोग इस बात को जानते है कि झूठी खबरे देना, या खबरो का रग बदलकर देना सबसे सरल और कारगर तरीका है। इसलिए कई बार कल्पित स्थान से कल्पित सम्वाददाता की ओर से भेजी हुई भीतर की खबरे छापी जाती है।

मुझे डर है कि वर्तमान रूप मे जिस प्रकार से समाचार-पत्र निकाले जाते है, और अब उसकी जो टेकनीक हो गई है जिसमे सैकडो के स्टाफ और लाखो की पूंजी लगती है, उसमे जनता के सब स्वार्थो की रक्षा कैसे हो सकती है। यह कहना कि हम फिर छोटे-छोटे स्वतत्रपत्रो के युग मे लौट जाय एक प्रतिक्रियावादी नारा होगा, इसके अलावा यह अव्यावहारिक भी होगा। जो सस्थाएँ या वस्तुएँ सामाजिक आर्थिक कारणो से मर चुकी है, उन्हे उसी रूप मे पुनरुज्जीवित करने का स्वप्नव यर्थ है। ऐसा तो हो नही सकता। इस समस्या का समाधान पीछे हटकर नही बल्कि आगे बढकर ही होगा।

यह बहुत ही आम तौर से कहा जाता है कि लोकतत्र का मूल्य यह है कि बराबर सावधान और सजग रहा जाय। हम इस सम्बन्ध मे उसी की पुनरावृत्ति कर सकते है। सब जन-नेताओ को तथा सारी जनता को इस सम्बन्ध मे एक बात को मानकर आगे चलना पडेगा, वह यह कि किसी भी अवस्था मे हमारे समाचार-पत्रो के जनमत का प्रतिपादक या प्रतिफलक नही माना जा सकता। जन नेताओ को जनता के सही मत जानने के लिए इसके अतिरिक्त अन्य साधनो का उपयोग करना पडेगा, और जनता को अपनी आवाजो को अन्य जरियो से बुलन्द करना पडेगा।

२३

# विद्रोही कवि काज़ी नज़रुल

बंगाल की एकता तथा अविभाज्यता तो इतिहास की कसौटी पर नही टिकी, माना कि यह एक सामयिक अवस्था-मात्र है, और बगाल फिर एक होगा जैसे कि भारत फिर एक होगा, पर बगला भाषा तो एक और अविभाज्य थी, है, और रहेगी। पाकिस्तान बने कई साल हो चुके, पर भारतीय यूनियन की सीमा के उस पार के मुसलमानो ने यह साबित कर दिया कि अच्छे पाकिस्तानी होते हुए भी वे बगला को ही अपनी मातृभापा मानते है। इस क्षेत्र मे वे बड़े-से-बडे का हस्तक्षेप मानने के लिए तैयार नही है। जब पूर्वी बगाल के लीगी नेतागण वहाँ की जनता पर उर्दू लादने मे असमर्थ रहे, तब स्वय कायदे-आजम को वहाँ का दौरा करना पडा, और फिर भी कुछ काम नही बना। परिस्थिति यहाँ तक सगीन हो गई कि अन्त तक पाकिस्तान की सरकार को ही झुकना पड़ा, और कम-से-कम पूर्वी पाकिस्तान की भाषा के रूप मे बगला को ही स्वीकार कर लिया गया।

बगला भाषा इस प्रकार समूचे बगाल की भाषा है। बगाल के हिन्दू तथा मुसलमान भले ही और बिषयो मे मतभेद रखते हो, पर उनकी भाषा एक है, और वह है बगला। बगाल के हिन्दू तथा मुसलमान भले ही विभिन्न यूनियनों मे रहे, पर वे एक ही भाषा मे बोलेगे, लिखेगे, स्वप्न देखेगे। यह बात उन लोगो के लिए बडी खतरनाक है, जो भारतवर्ष को हमेशा के लिए विभक्त देखना चाहते है।

बगला भाषा की इस एकता के सबसे बड़े प्रतीक है सुप्रसिद्ध कवि काज़ी नजरुल इस्लाम। उनकी कविता को किसी हिन्दू ने मुसलमानी कह कर कभी उसका अनादर नही किया। सच तो यह है कि उन्होने बगला काव्य मे एक नई रूह फूँकी। वे रवीन्द्र-युग की ही उपज है, इस युग की उपज होते हुए अपने को एक दिग्गज के रूप मे प्रतिष्ठित कर लेना यह कितनी बडी शक्ति का परि-

चायक है, इस बात का अनुमान किया जा सकता है।

रवीन्द्रनाथ जिस समय साहित्य-गगन मे अपनी पूरी दीप्ति से प्रकाशमान थे, उस समय उस गगन के एक कोने मे अपने लिए एक स्थान बना लेना, और कुछ दिनो के लिए ही सही, अपनी तरफ लोगो का सारा ध्यान आकर्षित कर लेना, यह कम शक्ति का परिचायक नही था।

यहाँ मै अपनी पुस्तक 'बगला के आधुनिक कवि' से कुछ पक्तियाँ उद्धृत करने का मोह सवरण नही कर सकता—

"नजरुल की कविता ने एक जमाने मे बगला-साहित्य मे बडा तहलका मचाया था। वे १६१४-१८ के महायुद्ध के बाद एक धूमकेतु की तरह हाथो मे 'अग्नि-वीणा' लेकर आये थे।"

नजरुल इस्लाम का वैयक्तिक जीवन भी एक धूमकेतु की तरह रहा। एक धूमकेतु की ही तरह उन्होने एकाएक साहित्य-जगत् मे प्रवेश किया। वे पश्चिम बगाल के एक बहुत गरीब घर मे पैदा हुए थे। उनको ठीक-ठीक शिक्षा नही मिली, और उन्हे अपनी इच्छाओ का दमन करने की शिक्षा तो कभी मिली ही नही। वे प्रकृति के वरपुत्र के रूप मे बढे, और इसी रूप मे वे कवि भी हुए। बचपन मे वे कई बार घर से भागे। भला घर का इकरस वातावरण उन्हे कैसे पसन्द आता? उनका गला अच्छा था, इस कारण कई बार वे नाट्य-मडली मे भी सम्मिलित हो गए। एक बार तो वे भागकर पूर्व बगाल के एक गाँव मे पहुँचे, और एक सज्जन के यहाँ नौकर हो गए। बाद को वे एक डबल रोटी वाले के यहाँ भी नौकर रहे।

जब १६१४ की लडाई छिडी, तो वे उसमे भरती हो गए, और अन्त तक हवलदार हो गए। लडाई से लौटकर उन्होने 'धूमकेतु' नाम का एक पत्र निकाला, जो अधिक नही चला, पर बगला-साहित्य मे उन्हे एक स्थान अवश्य देता गया। यदि कोई बंगला कवि यह कह सकता है कि वह एक दिन सवेरे जागा तो उसने देखा कि वह मशहूर है, तो वह नजरुल ही है। रवीन्द्रनाथ की ख्याति तो धीरे-धीरे बढी। हाँ, नजरुल के एक समसामयिक बगला लेखक को भी इसी प्रकार रातो-रात ख्याति प्राप्त हुई, वह है श्री शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय।

नज़रुल के लिखने का यह हाल था कि कभी तो लिखते ही रहते, और इसी मे राते निकल जाती। फिर हफ्तो हो जाते, और वे कलम के पास तक नही फटकते। ऐसी हालतो मे कई बार ऐसा हुआ कि उनके सम्पादक मित्रगण उन्हे एक कमरे मे बन्द कर देते, और उन्हे कागज, कलम, चाय दे देते। फिर

घटे-दो घंटे मे उन्हे एक सुन्दर कविता मिल ही जाती।

जिस युग मे नजरुल ने साहित्य मे प्रवेश किया, वह विद्रोह का युग था। यो तो क्रान्तिकारी गुट तथा व्यक्ति सन् १८५७ के विद्रोह की असफलता के बाद से ही क्रियाशील थे। बग-भंग मे बगाल की जनता भी जग चुकी थी, पर अखिल भारतीय रूप मे इस महादेश की जनता ने इसी समय अँगडाई ली। देखते-देखते वह उठ बैठी, और जय-यात्रा पर चल पडी। इसी समय काज़ी नज़रुल ने ललकारकर कहा—

'आमि दुर्वार
आमि भेङ्गे कोरि सब चुरमार,
आमि अनियम उच्छृङ्खल,
आमि दले जाई जतो वन्धोन
जतो नियम-कानून शृंखल।'

'मै दुर्वार हूँ, मुझे कोई रोक नही सकता। मै सबको तोड-तोडकर चकनाचूर करके रख देता हूँ। मै अनियम हूँ, मै उच्छृङ्खल हूँ, जितने भी बन्धन है, नियम, कानून तथा शृखला है, मै उन्हे पैरो तले रौदकर आगे बढ जाता हूँ।'

'विप्लव आनि विद्रोह कोरि,
नेचे नेचे गोफे दिइ ताव'

'मैं क्रान्ति को बुला लाता हूँ मै विद्रोह करता हूँ, मै नाच-नाच कर मूँछो पर ताव देता हूँ।'

'आमि धृष्ट,
आमि दाँत दिया छिडि विश्व-मायेर अचल'

'मै ढीठ हूँ, मै दाँतो से विश्व माता के आँचल को फाड डालता हूँ।'

'आमि विद्रोही भृगु
आमि भगवान् बुके एँके देबो पदचिह्न
आमि सृष्टि-सूदन
शोक-ताप-हाना खेयाली विधिर
बक्खो कोरिब छिन्न।'

'मै विद्रोही भृगु हूँ, मै ईश्वर के सीने पर अपने चरणो का चिह्न अकित कर दूँगा। मै सहारक हूँ, शोक, ताप आदि के प्रति एक तरह से उदासीन विधाता के सीने को फाड डालूँगा।'

नज़रुल की इस कविता मे बम, माइन, डिनामिट की भरमार है। इस

समय तो हम स्वतन्त्र हो गए है और बम, माइन डिनामिट हमारे लिए मामूली चीजे हो गई है । पर उस युग मे इन चीजो को कविता मे लाना एक विशेष तरह की गुदगुदी पैदा करता था, जिसका अनुमान करना भी अब कठिन है । एक तो ऐसी शब्दावली, और दूसरे विद्रोही विचार । इन्होने मिलकर उस युग के बगाली नौजवानो के हृदयो को एकदम अपने कब्जे मे कर लिया ।

काजी नजरुल अपरिहार्य रूप से विद्रोही कवि थे । उनकी टेकनीक भी बहुत कुछ निजी ही थी । यद्यपि जैसा कि अनुमान करना कठिन न होगा, वे रवीन्द्र-नाथ की छाप से मुक्त नही थे । इस बात को वे स्वय भी समझते थे । तभी तो रवीन्द्र के जन्म-दिवस पर उन्होने कहा था—

'हे रसशेखर कवि, तव जन्मदिने
आमि कोये जाबो मोर नव जन्म-कथा
आनन्द सुन्दर तवो मधुर परशे
अग्निगिरि गिरि-मल्लिकार फूले-फूले
छेये गेछे ।'

'हे रसशेखर कवि, तुम्हारे जन्मदिन पर मै अपनी नई जन्म-कथा कह जाऊँगा । तुम्हारे आनन्द से सुन्दर मधुर स्पर्श से पहाड़ो की मल्लिका के हर फूल मे ज्वालामुखी छा-सी गई है ।'

फूलो मे ज्वालामुखी की पैदा होने की कल्पना कितनी सुन्दर है ?

काजी नजरुल का विद्रोह अक्सर तो विद्रोह के लिए विद्रोह रूप लिये हुए था । यह भी एक सोपान है । जिस समय जर्जर सड़ी-गली पद्धति के विरुद्ध विद्रोह अनिवार्य हो जाता है, पर विद्रोहियो के मन मे आगामी समाज-पद्धति का नक्शा स्पष्ट नही होता, उस समय विद्रोह को कोई उद्देश्यमूलकता का रग प्राप्त नही होता । उस समय केवल विद्रोह करना और तोडफोड़ मचाना, जो पद्धति मौजूद है, उसे जहाँ से भी हो विध्वस्त करना, अच्छा मालूम होता है, विद्रोह के बाद की अवस्था का स्पष्टीकरण उस समय आवश्यक नही ज्ञात होता । उस समय विद्रोह करना ही चरम लक्ष्य होता है ।

काज़ी नज़रुल की कविता मे उक्त प्रकार का विद्रोह ही अधिक दृष्टिगोचर होता है । इसमे सोद्देश्यता तथा बुद्धि से बढकर है स्वत स्फूर्तता । ओजमय शब्दो के-प्रवाह मे वे हमे ऐसे बहा ले जाते है कि उसकी अन्तर्गत वस्तु का अभाव हमें बिलकुल नही खटकता । जब कानो के पास लड़ाई का बाजा बज रहा हो, और हमारा खून उबल रहा हो, उस समय कौन मथितार्थ की दन्त-कटाकटी में

पड़ता है ! बस हम भी सैनिकों की पक्ति मे खड़े होकर 'बाये-दाये, बाये-दाये' करते हुए चल पडते है ।

पर नही, अधिकाश रूप मे उनकी कविता निरे विद्रोह के लिए विद्रोह होने पर भी, और इस दृष्टि से अपने युग का प्रतीक होने पर भी काजी के मन मे स्पष्ट उद्देश्य थे—

'महाविद्रोही रणक्लान्त
आमि सेइदिन हबो शान्त
जबे उत्पीडितेर क्रन्दन-रोल आकाशे बातासे ध्वनिबे ना
अत्याचारीर खड्ग-कृपाण भीम रणभूमे रणिबे ना
विद्रोही रणक्लान्त
आमि सेइ दिन हबो शान्त'

'मै महाविद्रोही रणक्लान्त होकर उसी दिन शान्त हूँगा जिस दिन न तो उत्पीडित की क्रन्दन-ध्वनि आकाश मे गूँजेगी, और अत्याचारी का खड्ग तथा कृपाण भयकर होकर रणभूमि मे नही दिखाई देगा । मै विद्रोही रण-क्लान्त होकर उसी दिन शान्त हूँगा ।'

इस प्रकार यह तो सत्य हो जाता है कि काजी नज़रुल के विद्रोह का उद्देश्य अत्याचार का अन्त कर देना था, पर अभी लक्ष्य बहुत दूर था, इस कारण उस पर जोर नही डाला जा रहा था । अभी तो विद्रोह पर ही जोर था । विद्रोह की चडी जग तो जाय, फिर देखा जायगा । विद्रोह के लिए विद्रोह के भ्रम का और भी एक कारण था । वह यह कि जिधर देखो उधर सड़ी-गली पद्धतियाँ थी, राजनीति मे गुलामी थी, समाज मे रूढि तथा गतानुगतिकता का बोल-बाला था । स्वय ईश्वर जो था, वह भी था धनियो के इशारे पर नाचने वाला !

यहाँ मै एक बार फिर अपनी पुस्तक 'बगला के आधुनिक कवि' मे कुछ पक्तियाँ उद्धृत करूँगा । "काज़ी नज़रुल भाषा पर जबरदस्त अधिकार रखते है, उनकी कविता की विशेषता ओजगुण है । उनके पहले के बगला कवियो मे द्विजेन्द्रलाल राय मे ही शायद उनसे ज्यादा ओज है, किन्तु द्विजेन्द्रलाल का ओज भाव-प्रधान है, और काजी नज़रुल का भाषा-प्रधान ।"

उनकी कविता में भाषागत चमत्कार इतना अधिक है कि कुछ लोगो का यहाँ तक कहना है कि उनसे भावो की गहराई की आशा करना व्यर्थ है । जर्मन महाकवि गेटे ने बायरन के विषय मे कहा था कि जब तक बायरन सोचते नही है, तभी तक ठीक है, पर जिस घडी सोचने लगते है, उनका बचकानापन

खुल जाता है । श्री बुद्धदेव वसु का कहना है कि यही बात काजी नजरुल पर भी लागू होती है । उनके अनुसार नज़रुल तथा बायरन मे और भी समता है । 'उन्ही की तरह नज़रुल की प्रतिभा ऐश्वर्यशालिनी है, पर उस पर भरोसा नही किया जा सकता, न मालूम यह कब धोखा दे जाय । उनमे वही लट्ठमारपन है, वही रुक-रुक कर चलने वाला करीब-करीब स्वाभाविक प्रवाह है, बिना परिश्रम की अनायास प्राप्त कारीगरी है, अनायास प्राप्त और लापरवाह । सर्वोपरि विचारो की वही शीर्णता है ।' पच्चीस साल तक वे प्रतिभा के वरपुत्र की तरह साहित्य-गगन पर चमके, पर उनमे प्रौढता नही आई । उनकी रचनाओ के क्रम मे विकास का कोई क्रम दृष्टिगोचर नही होता । उन्होने बीस साल की उम्र मे जो लिखा, ३५ साल की उम्र मे भी उसमे कोई फर्क नही आया ।

उनकी किसी-किसी कविता मे इजराइल, इसराफील, सर, कयामत आदि इस्लामी पुराण के व्यक्तियो, वस्तुओ तथा घटनाओ का उल्लेख है, किन्तु इससे उनकी कविताओ का खस्तापन बढा है, न कि घटा । वे ऐसी उपमा, उपमेयो को लाकर बगला मे खपा देते है, और वे कुछ पृथक् ज्ञात नही होते । उनकी सौ मे निन्यानवे कविताओ मे कोई ऐसी बात नही है जिससे यह मालूम हो कि वे मुसलमान कुलोत्पन्न भी है । उनकी कविता की जाति साम्प्रदायिक शब्दो मे वर्णनीय नही है । यदि उसकी कोई जाति है, तो वह है आधुनिक तथा विद्रोही ।

पर काज़ी नजरुल को केवल विद्रोह का कवि कहना ठीक नही होगा । यद्यपि उन्होने लिखा है—

'के बाजाबे बाशी ?
कोथा पाबो अनिन्दित सुन्दरेर हाँसि ?
आजो शुधु आगमनी गाहिछे शानाई ,
ओ केनो काँदिछे शुधु नाइ, नाइ, नाइ ।'

'कौन बाँसुरी बजाये ? मै कहाँ से अनिन्दित सुन्दर की हँसी लाऊँ ? आज भी शहनाई केवल आगमनी ही गा रही है मानो उसने इसी की रट लगाई हो—नही है, नही है, नही ।'

काज़ी नज़रुल ने प्रेम और विरह पर भी अनेक गीत लिखे है, और उनकी संख्या हज़ारो तक पहुँचती है । उनका गला अच्छा था, और वे सगीत के विशेषज्ञ थे । ग्रामोफोन कम्पनियो ने उनके गीतो से लाखो रुपये कमाये । झुमुर, भाटियाली, बाउल, गज़ल, ठुमरी, ख्याल, ध्रुपद, कीर्तन, श्यामा-सगीत तथा आधुनिक सगीत किसी शैली को भी उन्होने अछूता नही छोड़ा । 'लीलायित

चंचल, अचल परशने', 'शून्य ए बुके पाखी मोर फिरे आय' ये दो ख्याल की शैली पर गाने तथा दरबारी कनाडा का 'बाजे मृदंग बाजे', 'कि सुखे गृह रबो' कीर्तन प्रत्येक व्यक्ति की जबान पर चढ गए। केवल प्रचलित रागो पर ही नही, कई लुप्त सुरो का भी उन्होने पुनरुद्धार किया। कौशिकी सुर मे लिखित 'श्मशान जागिछे श्यामा, अन्तिम सन्ताने कोले दिते स्थान' तथा, शिवरजनी सुर मे 'हे पार्थ-सारथी, साजाओ-बाजाओ पाचजन्य शखे' बहुत जनप्रिय हुए। गीतो के क्षेत्र मे रवीन्द्रनाथ के बाद नजरूल का ही स्थान है। ग्रामोफोन-कम्पनियो के चक्कर मे पडकर उन्होने कई ऐसी चीज लिखी जिनका मूल्य सदिग्ध है, फिर भी वे अक्सर एक मानदड के नीचे नही गये। कुछ विशेषज्ञो का यह कहना है कि जहाँ तक गीतो की सख्या का ताल्लुक है, वे दुनिया के किसी भी कवि से बाजी मार ले गए है। रवीन्द्रनाथ ने २००० गीत लिखे, पर नजरुल ने अपेक्षाकृत कम समय मे उनसे कही अधिक गीत लिखे। रेकार्ड के गाने मे तो नजरुल सबको बहुत पीछे छोड जाते है।

प्रेम की कविताओ मे नजरुल अपने युग के वातावरण से ऊपर न उठ सके, याने रोमाचवाद मे ही रह गए। फिर भी उनका रोमाचवाद उच्च कोटि का है। उनमे कीट्स की Pictorial quality (चित्ररूप), बायरन का Passion (आवेग) तो है, पर रवीन्द्रनाथ की गहराई का अभाव है।

रवीन्द्र-काव्य बगला-साहित्य का सबसे बडा सम्पद है, पर काज़ी नजरूल का महत्त्व एक दृष्टि से उनसे भी अधिक है। वह यह कि वे सयुक्त बगाल के पुनरुद्धार मे सबसे बडी शक्ति है। शुद्ध काव्य विचार मे भले ही यह बड़ी बात न समझी जाय, पर जीवन, सस्कृति, इतिहास भी बडी चीजे है।

पाठको को यह जानकर अपार दुख होगा कि संयुक्त बगाल का यह श्रेष्ठतम सास्कृतिक प्रतीक कई वर्षो से मस्तिष्क-विकृति का शिकार है। इस मस्तिष्क-विकृति की कहानी भी एक कहानी है। मुसलमान होते हुए भी काजी नज़रूल ने एक हिन्दू महिला से विवाह किया था। उस समय कुछ लोगो ने इस विवाह की निन्दा की थी। पर काजी नजरुल केवल नाम से ही मुसलमान थे। उनका यह विवाह बहुत सुखी रहा बाद को श्रीमती नज़रुल को पक्षाघात हो गया। इस पर काजी नजरुल ने सारी चिकित्सा-पद्धतियो को आजमाया। पर अन्त मे कुछ न होता देखकर गडा-ताबीज़ और फिर यंत्र-मत्र करने लगे। इन्ही के चक्कर मे उनका मस्तिष्क विकृत हो गया, और अब भी विकृत है। क्या कविवर की यह बीमारी देश की परिस्थिति को देखते हुए है? जिस समय भाई-भाई का गला काट चुका हो, यहाँ तक कि देश के दो टुकडे हो चुके हो, उस समय काज़ी नजरुल क्या कह सकते है?

२४

# ताराशंकर के उपन्यास और कहानियाँ

ताराशंकर वन्द्योपाध्याय बगाल के उज्ज्वलतम ज्योतिष्को मे हैं। वे सत्य को इस सुन्दर तरीके से कहते है कि असर पैदा होता है, पर वे वास्तविकता से बहुत दूर नही जाते। वे बुद्धिवादी से कही अधिक भावुक है। अपने विषय पर वे उस प्रकार से उज्ज्वल रोशनी नही डालते कि आँखे चकाचौध हो जायँ, बल्कि उसके पास उसी प्रकार से पहुँचते है जैसे एक रहस्यवादी या पूजक अपने देवता के पास पहुँचता है। उनके साहित्य का आकार विराट है, फिर भी यह स्पष्ट झलक जाता है कि वे जितना लिखते है, उससे कही अधिक अनुभव करते है। वे अपनी सर्वश्रेष्ठ कृतियो मे ही भावुकता से ऊपर उठ पाते है, पर वहाँ भी अपनी बातो को एक उच्चतर भावुकता से मडित करके ही पेश कर पाते है। ताराशकर बडी-बडी आँखे निकालकर जगत् को घूरते नही, वे आविष्कार करते है। वे व्याख्या नही करते, सृजन करते है।

ताराशकर एक सफल कहानी-लेखक तथा उपन्यासकार है। उनकी उच्च कला अपने राजनैतिक सिद्धान्तो को चिल्ला-चिल्लाकर घोषित किये बगैर ही अपना कर्तव्य कर सकती है। वे वास्तविकता को बहुत स्पष्ट रूप से देखते है। उसके किसी भी उपन्यास को लीजिए, उसमे एक से अधिक पुश्त तथा वर्ग को लेकर कहानी का ताना-बाना बनाया गया है। 'कालिन्दी', 'धात्रीदेवता', 'पचग्राम', और 'गणदेवता' ये है ताराशकर के उपन्यास, जिनमे वर्ग-सघर्ष का अत्यन्त स्पष्ट चित्रण है, जिससे ज्ञात होता है कि वे समाज के इस पहलू को कितनी अच्छी तरह से समझते है।

वे अक्सर देहात की पृष्ठभूमि को लेकर चलते है, और सालो के दौरान मे वहाँ क्या सामाजिक परिवर्तन होते है, उसे देखते है। दोनो शिविरो के चरित्र सामने आते है, और कलाकार दोनो के प्रति सहानुभूति का प्रदर्शन करते हैं। ह्रासशील सामन्तवादी आभिजात्य उनके हाथो गौरव के साथ

मरता है। ग्राम्य समाज की कथित निम्न श्रेणी के पात्र अपने वर्ग के प्रतिनिधि होते हुए भी ऐसे सामने आते है कि उनका अलग-अलग अस्तित्व तथा इतिहास है। उनके चरित्रो की वैयक्तिकता बिलकुल स्पष्ट रहती है, क्योकि वे सब-के-सब मानवीय है। उनकी रचनाओ मे सर्वत्र पूँजीवादी पद्धति का खूँख्वारपन दृष्टिगोचर होता है, और जनता को चुपचाप कष्ट उठाने वाला दिखाया गया है।

'धात्री देवता' मे उन्होने ह्रासशील सामन्तवाद, जागरूक देहाती जनता और मध्यम वर्ग से उत्पन्न क्रान्तिकारी बुद्धि की बात दिखाई है। वर्गो के विभिन्न सघर्ष के अन्दर से ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप नेता पैदा होते है। साहित्य मे इस प्रकार का सृजन न केवल कला की दृष्टि से महान् है, बल्कि प्रगतिशील बगला साहित्य मे एक नए दौर की सूचना देता है।

'गणदेवता' और 'पचग्राम' मे भी लेखक करीब-करीब इसी विषय-वस्तु को लेकर चलते है, और समाज मे विकास के सूत्र को उसी प्रकार से उधेड़-कर दिखाते है। 'मन्वन्तर' अगस्त क्रान्ति की पृष्ठभूमि तथा शहरी वातावरण मे १९४३ के विकराल दुर्भिक्ष को लेकर लिखा गया है। इससे पता चलता है कि ताराशकर मुलायम भावुकता से छुट्टी कर चुके है, और उनमे एक कडवापन भरा अधैर्य दृष्टिगोचर होता है। दुर्भिक्ष का नग्न-से-नग्न चित्र दिखाया जाता है, पिता अपनी पुत्री को बेच रहा है पति अपनी पत्नी को। चक्रवर्ती-परिवार हजारो को तबाह करके एक मुट्ठी दान देकर दानी होने का यश प्राप्त करता है। दुर्भिक्ष गरीबो के लिए एक चिरतन वस्तु है, और खरीद-फरोख्त चला जा रहा है।

इधर ताराशकर मे जो महान् परिवर्तन हुआ है, उससे उनके पाठक अपरिचित नही है। मुलायम भावुकता छोडकर उन्हे कडवापन अपनाना पडा है। पहले वे अपनी रचनाओ मे किसी गम्भीर सत्य की दूर की झलक दिखाते थे, पर अब तो वे अनभ्यस्त आँखो के सामने भयकर मुँह बाये हुए घाव को रख देते है, जिसे देखकर देखने वाला अकस्मात् घबरा जाता है।

'हाँसुली बाँकेर उपकथा' हाल मे लिखा हुआ उपन्यास है। इसमे एक सग्रामशील तबके की याने बहिष्कृतो की दयनीय कहानी दी गई है। उन्हे न मरकर शान्ति है, न जीकर। कहार गाँव मे इस कारण बसाये गए थे कि डोली-पालकी ढोने की जरूरत थी, पर जब इस काम की गुँजाइश नही रही तो कहारो ने चोरी और डकैती अख्तियार की। इससे जेलखाने की नौबत आने लगी, तो इन लोगो ने किसनई अख्तियार की। महायुद्ध के साथ-ही-साथ

उन पर दुर्भिक्ष का वार हुआ, और वे फिर एक बार अव्यवस्थित हालत म होकर उखड गए। इस उपन्यास मे ताराशकर का वह आशावाद जो 'धात्री-देवता' तथा 'गणदेवता' मे दृष्टिगोचर था, बिल्कुल नहीं मिलता। इसमे एक अजीब निराशावाद का बोल-बाला है। अन्त तक उपन्यासकार इसी शैली पर चलता है, और प्रगतिशील साहित्यिक के लिए बहुत ही दुर्लभ निराशापूर्ण वातावरण चित्रित करता है—

जल फेलित नाई रे भाई
जल फेलिते नाई
विधाता बुडिर खेला देखे जा रे भाई!
—'आँसू न बहा रे भाई
आसू न बहा
विधाता बुढिया का खेल देखे जा रे भाई!'

यह कथन निराशा मे पडे हुए तकलीफ उठाने वालो के लिए कोई सान्त्वना नही है। एक अस्पष्ट आशावाद किसी को कहाँ तक खडा रखे?

ताराशकर की कृतियो मे 'आगुन' एक प्रधान उपन्यास है। यह उनकी प्रथम रचनाओ मे है। ताना-बाना तथा सौदर्य की दृष्टि से यह उपन्यास बहुत सफल है। इस की पृष्ठभूमि मे प्रेम और सौदर्य के रोमास से मडित एक लडकी है। यह झिलमिल दुर्बल कन्या असफलता की मार खाई हुई आधुनिक बौद्धिकता की शिकार हो जाती है। इस प्रकार की सुकुमार प्रकृति उदासीनता की लहरो तथा प्रति लहरो के बीच मे पडकर टूट जाती है, यद्यपि उसकी गति का मडल कोई बहुत विशाल नही है। इसका स्वाभाविक नतीजा यह होता है कि अन्त मे हम एक पगली लडकी को आसूओ के अन्दर से नाचती हुई पाते है। नायक चन्द्रनाथ बिजली की गति से काम करता है, पर वह अत तक अन्ध भाग्य के हाथो मे पकडा जाता है।

ताराशकर की कहानियाँ अपने विषयो की विविधता, वस्तुवादी चित्रण, तथा सूक्ष्म कलामयता के लिए प्रसिद्ध है। उनकी अधिकाश कहानियो मे अन्तप्रेरणा और भावुकता का कलामय सम्मिश्रण है। उनकी 'बेदेनी' या 'बहनी' नामक कहानी एक ऐसी लडकी की कहानी है जो मध्यवित्त श्रेणी की इकरसता से कोसो दूर है। उसकी प्रकृति बिलकुल जगली है, पर वह भी मानवीयता के दायरे मे ही घूमती है। वन्यता के कारण लडकी की मानवीयना और भी प्रिय हो गई है।

'रांगादीदी' या खूबसूरत दीदी कहानी एक सुन्दर नौजवान लड़की की

कहानी है, जिसकी शादी एक बूढे से कर दी गई है। यह लडकी विद्रोहिनी है—समाज के अन्याय की प्रतिक्रिया का मूर्त रूप। वह अपनी अतृप्त वासनाओ की शिकार हो जाती है। गाँव के अपने प्रेमियो को निराश करके शहर मे जाकर वह अपनी वासना को बे-लगाम छोड देती है। 'काँटा' एक विधवा दीदी की कहानी है जिसे कही कोई नही चाहता। यह हिन्दू-समाज की विधवा की चिरंतन कहानी है।

विकृत मस्तिष्क लोगो को लेकर ताराशकर ने भी कुछ छोटी कहानियाँ लिखी है। इनमे से दो बहुत अच्छी हैं। एक तो 'टैरा' याने कैंचा और दूसरा 'तिन शून्य' याने तीन सिफर। 'कैंचा' एक कैंचा और लॅगडे अनाथ बच्चे की कहानी है, जिसका व्यवहार बडा ही असभ्य है। पर इस असभ्यता के बावजूद उसके मन मे एक बूढे फकीर के लिए अगाध प्रेम है। जब यह बूढा फकीर मर गया, तो जीवन के प्रति उसका कोई प्रेम नही रहा और वह जगल मे चला गया। दूसरी तरफ तीन सिफर कहानी मे जिस लँगडे की कहानी है, उसमे निष्ठुर प्रकृति का बदला दिखाया गया है। दुर्भिक्ष के दिनो मे एक भूखी औरत को एक बच्चा पैदा हुआ, यह बच्चा लॅगडा तो था ही, साथ ही वह बीमारियो का घर था। माँ तो मर गई, पर बच्चा समाज पर बदला लेने और उसे आघात देने के लिए रह गया। कलाकार के कडवे हृदय से निकला हुआ यह एक क्रुद्ध चाबुक है।

ताराशकर ने हास्य रस की कहानियाँ कम लिखी है, पर जो भी लिखी है, उनमे निर्मल हास्य रस है। वे व्यग्य कही करते, केवल दिल खोलकर हँसते है। 'माछेर काँटा' मे भौजाई के साथ लडाई दिखलाई गई है, जो बहुत मामूली कारण से शुरू होती है। पहले मछली के काँटे पर दो भाइयो की स्त्रियों मे झगडा हुआ, फिर भाइयो मे झगडा हुआ। जब भाई अच्छी तरह झगडकर बाहर चले गए, तो भाइयो की स्त्रियो को यह डर हुआ कि कही ये लोग जो लडकर गये है बाहर खून-खराबी न कर बैठे। इस पर वे आपस मे सुलह कर लेती है, और फिर अपने पतियो से कहती है कि खैर हम लोग लड़ गई, हम तो विभिन्न घरानो से आई स्त्रियाँ है। तुम लोग क्यो लडे? तुम लोग तो भाई-भाई थे, फिर इतनी छोटी बात पर क्यो लडे? इसे पढते समय शरत् बाबू की प्रसिद्ध कहानी 'रामेर सुमति' की याद आ जाती है।

'ईस्ट बगाल बनाम मोहनबगान' ताराशकर की विख्यात कहानियो मे है। लगी लगाई शादी फुटबाल की पार्टीबाजी के कारण टूट जाती है। 'दिल्ली का लड्डू' मे यह दिखाया गया है कि विधुर के द्वितीय विवाह पर जनमत कैसे

चलता है। पर जब स्वार्थ की बात आती है तो लोग कैसे बदलते है, यह भी दिखलाया जाता है। एक बडी बहन की बात दिखलाई जाती है जो एक विधुर की दूसरी शादी का विरोध करती है, पर जब यह कहा जाता है उसी की बहन से उसकी शादी होगी, तो उसकी राय बदल जाती है। 'पचरुद्र' नामक कहानी मे भक्तो की आपसी होड का चित्रण है। ईश्वर की मूर्तियो के साथ ऐसा विषम व्यवहार होता है कि यदि वे पत्थर के बजाय रक्त-मास की बनी होती तो वे विद्रोह करती, और भक्तो के सामने रहने मे लज्जा का अनुभव करती।

ताराशकर का उदय 'कल्लोल' नामक मासिक पत्रिका के इर्द-गिर्द एकत्र एक लेखक के रूप मे हुआ। और तभी से ज्ञात हो गया कि उनका भविष्य उज्ज्वल है।

उपन्यासकार के रूप मे ताराशकर बीरभूमि जिले को लेकर चलते है। एक दूसरे बगला-उपन्यासकार शैलजानन्द का भी क्षेत्र यही है, पर उनके यहाँ मजदूरो कुलियो की भरमार रहती है। ताराशकर के यहाँ किसानो, जमीदारो की भी। इस दृष्टि से ताराशकर प्रेमचन्द के समीप है। गाँव के सभी तरह के पात्र उनके उपन्यासो मे चित्रित है। प्राचीन और नवीन का सग्राम उनके उपन्यासो के प्रत्येक पृष्ठ मे है। उनके बहुत से उपन्यास आवारो की कहानियो से पूर्ण है, ऐसे-ऐसे आवारे, जिनकी कहानी बडी रोचक है।

यह कहना तो गलती होगी कि ताराशकर ने जैसे साहित्य की सृष्टि की है, उस वस्तु को लेकर उससे अच्छा नही हो सकता, पर मै श्री बुद्धदेव वसु के इस कथन से सहमत नही हूँ कि ताराशकर अपनी विषय-वस्तु के साथ न्याय नही कर सके।

श्री बुद्धदेव बसु और ताराशंकर का झगडा बगला-साहित्य मे पुराना है। यह वैयक्तिक झगडा नही, बल्कि दो मतवादो का झगडा है। दोनो शक्तिशाली लेखक है, पर ताराशकर सामाजिक अन्तर्गत वस्तु की दृष्टि से बुद्धदेव से कही श्रेष्ठ है।

श्री बुद्धदेव वसु लिखते है :—

"यदि ताराशकर चाहते तो इन्ही मसालो से बहुत अच्छे उपन्यासो की रचना कर सकते, पर उनको तो दो-एक उपन्यासो पर परिश्रम करने के बजाय ढेरो रचना की पड़ी रहती है। उनके द्वारा चित्रित प्राचीन बगाल प्रिस्टले के प्राचीन इग्लड की तरह इसी मे नया है कि उससे लोग अपरिचित है, नही तो यह नैतिक रूप से गतानुगतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दरिद्र है। उनके

द्वारा चित्रित वीरभूमि केवल काल और पात्र मे है, वह हार्डी के एसेक्स की तरह चिरन्तन मे नही हैं। उनके उपन्यास उसी प्रकार से ऐंडी-बैंडी गति वाले है जिस प्रकार से उनके पात्र-पात्रियाँ है। वे शिथिल है, पर चित्रकारी के गुणो से समन्वित है, ऐसा मालूम होता है कि वे लेखक की नोट बुक के नोट है, न कि उसके द्वारा तैयार की हुई सुन्दर रचना। उनकी रचनाओ मे कथावस्तु की प्रचुरता तथा ऐश्वर्य देखकर विस्मय होता है, पर इससे भी अधिक क्षोभ होता है कि इस ऐश्वर्य का यह अपव्यय हुआ। उनकी रचनाओ को उपन्यास के लिए वस्तु कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। प्रबोधकुमार के बिलकुल विपरीत ताराशकर के पास लिखने का मसाला काफी है, पर वे लिखना नही जानते। बात यह है कि उन्हे कीट्स भी जिसकी कल्पना नही कर सकते थे, विचारो के बनिस्बत ऐसी सनसनी पसन्द है। उनके पास तथ्यो का बडा भारी पिटारा है, पर जूलियेट की नर्स की तरह वे देखते है पर किसी नतीजे पर नही पहुँच पाते, वे चीजो के पीछे तो देख पाते है, पर आगे नही देख पाते।

"उनकी शब्दावली कम है, और उनमे एक इलाके की बू आती है। वे बहुत सी ज्ञात बातो को, जो करीब-करीब कहावत के रूप मे हो चुकी है, बहुत व्यवहार करते है।"

—'An Acre of Green Grass'

हाँ यह बात तो सत्य है कि ताराशकर के उपन्यास खूब अच्छी तरह योजनाबद्ध नही है, पर दुनिया के ेष्ठ उपन्यासकारो मे थैकरे, डिकेन्स, प्रेमचन्द की यही हालत है। इस कारण इसे शिथिलता न कहकर उपन्यास की एक शैली कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

विरुद्ध समालोचना करने पर भी श्री बुद्धदेव वसु यह मानने पर मजबूर होते है कि ताराशकर की कहानियाँ सुग्रथित है, पर इसके लिए वे ताराशकर की प्रशसा न करके कहानी कला को श्रेय देते है कि इसके कारण ताराशकर बहक न सके। बुद्धदेव को इस बात का दुख है कि ताराशकर कहानियो के बजाय दीर्घ उपन्यास लिखने मे ही अधिक रुचि दिखलाते है, पर इसका कारण क्या है इस पर वे नही जाते। ताराशंकर जीवन के किसी एक अश पर रोशनी की झलक डालने के बजाय कई पुश्तो के विकास पर उज्ज्वल सर्चलाइट डालना पसन्द करते है। ताराशकर के सम्बन्ध मे बुद्धदेव का यह कहना कि वे पाठक को ले जाकर एक ऐसे रगमच के सामने दिन के समय खडा कर देते है, जहाँ सूर्य की रोशनी प्रचुर मात्रा मे है, और जहाँ रिहर्सल चल रहा है, बिलकुल अत्युक्ति है। असली बात तो यह है कि वे सत्य को

अत्यन्त नग्न रूप मे दिखाते है, घाव को बिलकुल खोलकर सामने रख देते है।

बुद्धदेव की एक शिकायत यह भी है कि ताराशकर की पुस्तको मे शृङ्गार रस नही है। यह बात सच है कि वे बुद्धदेव आदि उपन्यासकारो की तरह शृङ्गारात्मक कथावस्तु को ही उपन्यासकार का एक-मात्र उपजीव्य नही मानते, पर वे उसे एकदम प्रधानता नही देते यह बात गलत है। 'आगुन' मे ताराशकर ने तरुण प्रेम का वर्णन किया है। अन्य उपन्यासो मे भी इसका पुट है, पर वे इसी मे अपनी कला की इति श्री नही करते। यह दोष नही गुण है। जहाँ उपन्यास कहानी का अर्थ है बे-सिर-पैर की अवास्तविक प्रेम-कहानी, वहाँ ताराशकर-ऐसे उपन्यासकार की बहुत आवश्यकता है जो हमारी दृष्टि को सिनेमा के अस्वाभाविक प्रेम से हटाकर जीवन के गभीर पहलुओ पर ले जाय।

हिन्दी मे ताराशकर के उपन्यासो और कहानियो का अधिक प्रकाशन नही हो पाया। एक दिन हिन्दी मे ताराशकर बहुत लोकप्रिय होगे, यह बात अभी से कही जा सकती है।

२५

# उदयशंकर की 'कल्पना'

उदयशकर-रचित तथा अब कह सकता हूँ उदयशंकर से ओत-प्रोत इस नृत्य-चित्र की चर्चा बहुत दिनो मे थी। यह चित्र तीन वर्षो के परिश्रम से और कोई २५ लाख रुपयो के खर्च से बना। एक तो भारत के सबसे बडे नृत्य कलाकार की परिचालना, क्योकि उदयशकर भारतीय नृत्य के क्षत्र मे वही स्थान रखते है जो साहित्य के क्षेत्र मे कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ को प्राप्त था और है, फिर इतना समय लगा, इतने रुपये खर्च हुए, और प्रथम श्रेणी के इतने कलाकारो का सहयोग प्राप्त हुआ, इसलिए जनता के सामने आने के पहले ही इस चित्र का रौब यो ही छाया हुआ था।

प्रचार तथा प्रसार की दृष्टि से इस परिस्थिति का भले ही स्वागत किया जाय, पर समालोचक की दृष्टि से यह परिस्थिति विशेष सुखकर इस कारण नही थी कि प्रचार के रौब मे आकर कसौटी के दूषित होने का भय कुछ कम नही था। नृत्य-कलाकार के रूप मे उदयशकर की प्रतिभा सर्वजन स्वीकृत होने पर भी, उनके लिए बोलपट एक नया क्षेत्र था, और इसमे उनका कृतित्व मान नही लिया जा सकता था। ये बाते इस कारण कही जा रही है कि यह स्पष्ट हो जाय कि किस प्रकार की निस्पृह भावना लेकर हम इसकी समालोचना मे प्रवृत्त हुए है।

इस चित्र के सम्बन्ध मे सबसे पहली बात तो यह है कि अब तक इस क्षेत्र मे भारतवर्ष मे जो कुछ भी बना है, उनसे यह श्रेणीगत रूप से बिल्कुल अलग है, क्योकि इसमे बातचीत होते हुए भी वह न तो इसका मुख्य माध्यम है न उपजीव्य। इसका एक-मात्र माध्यम नृत्य तथा गीत है, और उनमे भी नृत्य अधिक और गीत कम। उदयशंकर इसके निर्माता है इस दृष्टि से यह स्वाभाविक है कि नृत्य को इसमे प्रधानता प्राप्त हुई। इसके नृत्य तथा गीत मे अच्छे-से-अच्छे कलाकारो ने सहयोग किया है, पर जैसा कि कल्पनीय है

उदयशकर ही इन कलाकारो मे सर्वश्रेष्ठ है।

जो लोग उदयशकर के जीवन से परिचित है, वे जानते है कि उदयशकर की यह 'कल्पना' केवल कल्पना-विलास ही नही। इसकी पृष्ठभूमि मे उदयशकर का धडकता हुआ हृदय तथा गतिमय जीवन है। यो तो प्रत्येक सफल कलाकार की कलाकृति के पीछे आत्मानुभूति, आप-बीती होती ही है। कहा जाता है कि महाकवि गेटे के प्रत्येक काव्य के पीछे एक वास्तविक जगत् की सुन्दरी रहती थी। गेटे कभी वृद्ध हुए ही नही। सत्तर साल की उम्र मे भी उनके जीवन मे वसन्त का अरुण राग बना हुआ था। इसी प्रकार 'कल्पना' की पृष्ठभूमि मे उदय के रूप मे हम उदयशकर को देखते है तथा नायिकाओ के रूप मे जिन्हे देखते है वे वास्तविक जगत् की स्त्रियाँ है। सक्षेप मे सारी कथा का सम्बन्ध उदयशकर के जीवन से है। अवश्य इस चित्र मे ऐसे भी हिस्से है जो काल्पनिक है, पर हम उन्हे आसानी से पहचान सकते है। ऐसे स्थानो पर क कुछ पतला हो गया है और उसकी गति अपेक्षाकृत शिथिल है।

इस नृत्य-चित्र में विषय की दृष्टि से इतने उपादान है कि इन्हे एकत्र करके दिखाने के कारण चित्र इतना भारग्रस्त हो गया है कि दृश्यमान रूप से क्रम का सूत्र टूट-सा जाता है, और अन्त मे भी कोई denouement या गाँठ खुलनी हुई ज्ञात नही होती। पर हममे से प्रत्येक जीवन भी तो ऐसा ही है। एक परिष्कृत उपन्यास, नाटक या कथा मे क्रम भी होता है, और अन्त में एक गाँठ भी खुलती है, पर जीवन मे ऐसा कहाँ होता है। फिर भी उसमे एक क्रम होता है इसे कौन अस्वीकार कर सकता है? रहा गाँठ का खुलना, सो मृत्यु जहाँ भी आ जाती है एक पूर्ण विराम तो होता है। कुछ लोग शायद मृत्यु को अन्तिम अंक मानने में असमर्थ रहकर ही मृत्यु से परे भी एक जीवन की कल्पना करते है कि इस प्रकार सारा मिलकर एक क्रमबद्ध ग्रंथिमोचनयुक्त कथा हो जाय। यदि 'कल्पना' का क्रम कुछ शिथिल है, तथा उसमे कोई ग्रथि-मोचन दिखाई नही देता, तो हम यही कह सकते है कि उदयशंकर की 'कल्पना' जीवन की तरह ही असुसम्बद्ध है।

'कल्पना' मे हम भारतवर्ष की सारी नृत्य-कला को समाविष्ट पाते है। सब तरह के शास्त्रीय नृत्यो के साथ-साथ प्रत्येक प्रान्त का लोक-नृत्य भी इसमे दिखाया गया है। केवल यही नही इन सबका निखरा-से-निखरा रूप हमे देखने को मिलता है। और किसी कारण से नही तो केवल भारतीय नृत्य-कला के इस विपुल समावेश के कारण ही यह चित्र अमर रहने के लिए बाध्य है।

इसके नृत्य वाले हिस्सो को अलग काट लेने पर वह नृत्य के छात्रो तथा छात्राओ के लिए एक उत्कृष्ट referenee work या कोष का काम दे सकता है। स्मरण रहे कोष शब्द का अर्थ भाडार है। इस नृत्य-चित्र मे कथक, कथाकलि, सथाली, नागा, मणिपुरी, पजाबी, राजपूत, सिहली, यव और बलि-द्वीप के नृत्य के उत्कृष्ट नमूने पिरोये हुए है। हमारी आँखो के लिए यह चित्र एक भोज के रूप मे है, पर इसका आवेदन केवल आँखो तक सीमित नही, यह आँख से होकर सीधे हमारे मर्मस्थल पर पहुँचता है, और ऐश्वर्य-शाली भूत काल के साथ हमारा साक्षात्कार कराता है।

ऐसे सब पहलुओ को छूना सम्भव नही। इस कारण हम केवल उन्ही पहलुओ पर दो-एक शब्द कहेगे, जिन पर 'कल्पना' के किसी समालोचक की दृष्टि नही गई। एक कलाकार उदयन के इर्द-गिर्द 'कल्पना' बौडती है। यद्यपि यह कलाकार कला मे इतने बूढे हुए है कि उन्हे अपने पुरुषत्व के सन्बन्ध मे सज्ञानता कम है, पर उनकी चारो तरफ उनकी कला के मधु से पागल स्त्रियाँ एकत्र हो जाती है। ऐसी स्त्रियो मे उमा, कामिनी आदि है। पर कला के लिये यह प्रशंसा, कलाकार के लिए प्रशसा और प्रेम मे परिणत हो जाती है। कला-केन्द्र की सब छात्राओ के कमरो मे उदयन की तसवीर है। सब छात्राएँ मन मे उदयन के लिए प्रेम की भावना रखने लगती है, और फिर तो ईर्ष्या आदि आनुसगिक भावनाएँ आ जाती है। हद तो यह है कि हत्या और आत्म-हत्या की नौबत आती है।

एक निस्पृह कलाकार को इस बात से बडा आश्चर्य होगा कि कला के जगत् मे ईर्ष्या और आत्म-हत्या का स्थान कहाँ है, पर यही जीवन है। उदय-शकर का यह आत्मानुभूति लब्ध सत्य है कि स्त्रियाँ-स्त्रियाँ ही रहेगी, वे कला से शुरू करके कलाकार से प्रेम करने लगती है, और इस कारण कला-केन्द्र ऐसे स्थान का वातावरण वह नही रहता जो होना चाहिए। कला अपने को हाथी के दाँतो से बने हुए मीनार मे बन्द कर लेना चाहती है, पर जीवन वहाँ घुस पडता है। फलस्वरूप ऐसी समस्याएँ और गुत्थियाँ पैदा हो जाती है जिनसे काल्पनिक कला का कोई सम्बन्ध ही नही है, और कला-केन्द्र ऐसी सस्था के टूटने की ही नौबत आती है।

उदयशकर नारी-हृदय के इस गहरे रहस्य को पकड़ पाने के लिए बधाई के पात्र है। उदयशकर ने जो कुछ दिखाया वह सही है। पर उन्होने इसके दूसरे पहलू को नही दिखाया, इस कारण वह एकदेशीयता दोष दुष्ट हो गया है, और हम कह सकते है कि यह केवल पुरुष का दृष्टिकोण है। जिस प्रकार से स्त्रियाँ

कला से शुरू करके कलाकार को चाहने लगती है, उसी प्रकार से क्या यह सही नही है कि पुरुष भी किसी कलकण्ठी या अन्य कलाकार स्त्री की कला से मुग्ध होकर फिर उसके शारीरिक प्रेम की तरफ नही बढता ? इस विषय मे ब्यौरे मे जाने की आवश्यकता नही, मनोविज्ञान की पुस्तके ऐसी घटनाओ के टोकरियो उदाहरणो से भरी पडी है। आना पावलोवा, ग्रेटा गार्बो को जाने दिया जाय, श्रीमती विजयलक्ष्मी को अब तक प्रशसको की तरफ से अजीब-अजीब पत्र मिलते रहते है। हमे सिर्फ यही कहना है कि यदि कला-केन्द्र के शीर्षस्थान पर उदयन न होकर आना पावलोवा ऐसी कोई नटी होती, तो कोई पुरुष ही आत्महत्या करता, न कि कामिनी। उदयशकर ने जो एकदेशीय चित्र खीचा है, वह इस कारण है कि उनका तजुर्बा ऐसा ही था। आत्मकथामूलक दृष्टिकोण की कमजोरी यही है कि मनुष्य अपनी अभिज्ञता से परे नही जा पाता।

दूसरी बात, जिस पर समालोचको ने कुछ ध्यान नही दिया वह यह अनुभूति है कि आज के युग मे कला की बहिरग आवश्यकताएँ इतनी बढ गई है कि उसके लिए यह सम्भव नही है कि वह धनकुबेरो की पृष्ठपोषकता के बगैर बढे और यदि धनकुबेर कला मे दिलचस्पी लेते है तो कला के लिए नही, बल्कि अश्लीलता तथा अन्य कारणो जैसा दिखावे के कारण लेते है। कहना न होगा कि एक कलाकार के लिए यह बडी ही मर्मभेदी बात है। हम उदयशकर के कलाकार-हृदय की इस चीख को 'कल्पना' मे मूर्त देख सकते है। कला-मर्मज्ञता से वचित इन धनकुबेरो की कुत्सित पृष्टपोषकता से बचने का एक ही उपाय है, वह यह कि जनता की सरकार कला-केन्द्रो को चलाने का बीडा खुद उठा ले, जैसा कि रूस मे है। कला को अरसिक धनकुबेरो के पजो से मुक्त कर उसे जनता की सरकार की छत्रछाया मे लाना ही पडेगा।

उदयशंकर के लिए यह बडे कृतित्व की बात है कि प्रेम और सौन्दर्य के जिस जगत् की उन्होने 'कल्पना' की है उसमे भी वे दिखा देते है कि आने वाला जगत् किसका होगा। उन्होने दिखलाया है कि वह दिन दूर नही है जब जगत् मे मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण का अन्त हो जायगा। सारे चित्र मे इस अन्तर्धारा के कारण यह चित्र एक बहुत ही प्रगतिशील चित्र बन गया है। हम इस मुकुर मे स्पष्ट देख सकते है कि प्रतिक्रिया और प्रगति की शक्तियो मे सारे जगत् के मोर्चे पर जो सग्राम चल रहा है, उसमे उदयशकर प्रगति के पक्ष मे है।

२६

# विज्ञान में बढ़ती हुई अनास्था

आदिम मनुष्य प्रकृति के सम्मुख बिलकुल असहाय था, ठीक उसी प्रकार जैसे एक पशु होता है। पर उसने अपनी विकासमान बुद्धि तथा सतत वृद्धिशील ज्ञान-राशि के द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करना आरम्भ किया। मनुष्य इस जय-यात्रा मे जितना अग्रसर हुआ, वह उतना ही सभ्य हुआ। दूसरे शब्दो मे प्रकृति पर विजय की मात्रा ही सभ्यता का मानदण्ड है। मनुष्य ने यह विजय विज्ञान के सहारे प्राप्त की। लोग विज्ञान का नाम सुनते ही जिस प्रकार बडे-बडे यन्त्र और टर्बाईन एजिन आदि सोचने लगते है, विज्ञान केवल वही नही है। विज्ञान मे ऐसा सारा ज्ञान आ जाता है जो प्रयोग की कसौटी पर खरा उतर सके। अध्यापक टी. हक्सले विज्ञान की परिभाषा यो करते है—"विज्ञान से मै ऐसे ज्ञान को समझता हूँ जो गवाही ( Evidence ) तथा तर्क पर अवलम्बित है।' डॉक्टर एलेग्जेण्डर हिल कहते है—सब बुद्धिसगत ज्ञान-विज्ञान है।

स्वाभाविक रूप से मनुष्य ज्यो-ज्यो सभ्य हुआ, याने मनुष्य के विज्ञान का भण्डार ज्यो-ज्यो भरने लगा, त्यो-त्यो उसमे जादू टोना और धर्म-विश्वासो का ह्रास होने लगा। जादू टोना या उसका उन्नत रूप धर्म के साथ विज्ञान का यह विरोध कोई आकस्मिक नही था। जादू टोना तथा धर्म भी उसी समस्या या उन्ही समस्याओं को सुलझाने का दावा करते थे जिन्हे विज्ञान सुलझा रहा है। मानव के सामने समस्या थी प्रकृति पर विजय प्राप्त करना, जादू टोना और धर्म भी इसका दावा करते थे। पर उनका तरीका प्रयोगात्मक न होकर मननात्मक बलिक केवल दावामूलक था। अवश्य धर्मध्वजियो ने जहाँ-तहाँ अपने मतलब के लिए वैज्ञानिक आविष्कारो को धर्म के साथ मिलाकर काम मे लगाया तथा मनोवैज्ञानिक परिस्थितियो का पूरा-पूरा फायदा उठाया। इस वक्तव्य का कुछ स्पष्टीकरण किया जाय।

यदि कोई आधुनिक सर्जन किसी देवता की आडम्बरपूर्ण पूजा करके ऑप-रेशन करे, बल्कि सारे आपरेशन को ऐसे करे मानो वह पूजा के अनुष्ठान को पूरा कर रहा है तो वह जैसी वस्तु होगी, जादू टोने मे ऐसी कई प्रक्रियाएँ पाई गई है। उन्नत धर्मो मे भी धूप, दीप, विशालता, कलात्मक उपकरण, सगीत आदि से ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की जाती है कि बुद्धि सुप्त हो जाय और फिर दूसरी बातो के लिए गुजाइश पैदा हो। यहाँ पर मै धर्म के विश्लेषण मे बहुत गहराई तक नही जाना चाहता, पर इस बात को स्पष्ट कर दिया जाय कि जहाँ विज्ञान प्रयोगो तथा प्रयोगजन्य ज्ञान से प्रकृति पर विजय प्राप्त करके मनुष्य के लिए इसी लोक मे स्वर्ग की सृष्टि करने का प्रयत्न करता रहा है, वहाँ जादू टोना और उसका अधिक वाचाल पर मौलिक रूप से एकमेवाद्वितीयम् आत्मज धर्म कल्पना तथा विश्वास के आधार पर प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का दावा करता रहा है। प्रयोगमूलक न होने के कारण उनके पास एक अस्त्र और है, वह यह कि यदि वे किसी या किन्ही बात को इस लोक मे नही करा पाते, तो वे उसे या उन्हे पहले तो यह कहकर टाल देगे कि यह कुछ नही है, अनित्य है, पर इससे काम न चला तो ब्रह्मास्त्र के रूप मे यह कह देगे कि स्वर्ग, बहिश्त, परलोक मे ये सारी बाते मिलेगी, बल्कि इनसे लाखो गुनी अधिक बाते। अपनी बनावट के कारण धर्म ऐसी समस्याओ को भी सुलझाने या सुलझाव के अभाव मे उनसे मुँह फेरने का या उनके सम्बन्ध मे किसी कल्पित मतवाद को अपनाने की सिफारिश करता है। विज्ञान यह मानते हुए भी कि मृत्यु मौलिक कारणो से होती है अभी इतना ही कह सकता है कि इसका कुछ हद तक नियन्त्रण हो सकता है। वैयक्तिक क्षेत्रो में विज्ञान मृत्यु के सम्बन्ध मे अभी बहुत कुछ असहाय होने पर भी सामूहिक क्षेत्र मे उसने मनुष्य की मृत्यु पर कुछ विजय दिलाई है। यह तो एक सुप्रतिष्ठित तथ्य है कि वैज्ञानिक उपचारो आदि के कारण प्रत्येक वैज्ञानिक रूप से अग्रसर जाति मे औसत आयु बढ गई।

विज्ञान और धर्म की यह मौलिक प्रतिद्वन्द्विता केवल प्रकृति पर विजय के क्षेत्र मे ही नही याने समस्याओ को सुलझाने के तरीके पर ही नही बल्कि प्रश्नों को सुलझाने मे वे किसकी सहायता लेते है, इसमे भी फैली हुई है। धर्म की चाहे कोई भी परिभाषा की जाय, उसमे अपर मे विश्वास अपरिहार्य है। यदि अपर मे निर्भरता न हो तो धर्म-धर्म ही न हो। धर्म के साथ त्राण का विचार भी अपरिहार्य रूप से लगा हुआ है। यदि त्राण नही है तो धर्म भी नही है। इस त्राण मे वह बाहरी शक्ति सहायक है। उस शक्ति का नाम ईश्वर हो या न हो, इससे कुछ आता-जाता नही। बौद्ध और जैन-धर्म मे ईश्वर न होते हुए

भी धर्म तथा सघ की शरण मे जाना पडता है। इसके अतिरिक्त इन धर्मो में कर्म को तथा कर्म के भोग को एक रहस्यवादी रूप प्राप्त हो चुका है। बाद को बौद्ध धर्म को जो महायान रूप मिला, उसमे बुद्ध को जिस प्रकार से कल्पित किया गया, उसमे तो इस धर्म मे और दूसरे इर्द-गिर्द के धर्मो मे कोई फर्क नही रहा। इसलिए अपर मे विश्वास, समस्याओ से घबराकर उनके सही समाधान की ओर न जाकर एक काल्पनिक समाधान का अन्वेषण—यह धर्म की एक विशेषता है।

इसके विपरीत विज्ञान मनुष्य को अपने ज्ञान, बुद्धि और आविष्कार पर निर्भर करने की सलाह देता है। सच तो यह है कि विज्ञान मनुष्य की आत्म-निर्भरता के ही योगफल का नाम है। विभिन्न वैज्ञानिक यन्त्र मानो मनुष्य के अवयवो तथा ज्ञानेन्द्रियो के सम्प्रसारित तथा अधिक निर्भर योग्य रूप है। प्रथम वैज्ञानिकों मे वह व्यक्ति रहा होगा जिसने फल तोड़ने मे टहनी की सहायता ली। इस प्रकार उसने बुद्धि से मानो अपने हाथो को उतना ही बढा लिया। इसी प्रकार दूरवीक्षण तथा अणुवीक्षण से आँखो की शक्ति बढी। जिन दूरतम तारो के सम्बन्ध मे मनुष्य की आँखे कभी अनुमान भी नही लगा सकती थी, वे भी मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान के दायरे मे आ गए। इसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि यन्त्र चाहे किसी भी रूप मे हो और कितने भी शक्तिशाली हो किसी-न-किसी पर्याय मे जाकर उनका अन्तिम सम्बन्ध हमारी कर्मेन्द्रियो या ज्ञानेन्द्रियो से होगा। इस दृष्टि से देखने पर विज्ञान का व्यावहारिक परिणाम मनुष्य की इन्द्रियो की शक्ति का विस्तार तथा गभीरीकरण है। कई बार इन्द्रियाँ धोखा दे जाती है, जैसे आपने ठडे पानी मे हाथ डाल रखा हो तो उससे कम ठडा पानी आपको गरम जँचेगा, उतना गरम जितना कि वह वास्तविक रूप से नही है, पर एक तापमान यन्त्र या थर्मामीटर हमेशा सही ताप बतायगा याने यदि वह ठीक अवस्था मे है तो। इस प्रकार से विज्ञान विशुद्ध ज्ञान का ही समूह है।

मनुष्य ने विज्ञान की सृष्टि की, फिर विज्ञान ने अपनी बारी मे मनुष्य को बनाया, याने उसे वैसा बनाया जैसा कि अब वह है, और अब मनुष्य छोटी-छोटी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए विज्ञान पर निर्भर है। पर उसकी यह निर्भरता उस श्रेणी मे नही आती, जैसे धर्म मे अपर मे विश्वास किया जाता है, क्योकि विज्ञान मे विश्वास अन्तिम रूप से अपने मे, अपनी ज्ञानेन्द्रियो और कर्मेन्द्रियो मे विश्वास ही है। विज्ञान मनुष्य से ही उद्भूत और मनुष्य के प्रयोगो पर ही निर्मित है। विज्ञान को यदि यह कहा जाय कि वह मनुष्य की

आत्मनिर्भरता की सृष्टि, साधन, फल, परिणाम है तो इसमे किसी प्रकार की अतिशयोक्ति न होगी।

जहाँ धर्म किसी बाहरी शक्ति का आवाहन करता है, और उसके जरिये सारी बातो को सुलझाने का दावा करता है, वहाँ विज्ञान अपने पैरो पर खडे होने का, अपनी आँखो मे देखने का, अपने कानो से सुनने का, अपनी बुद्धि से सोचने का सन्देश देता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान और धर्म का जो ऐतिहासिक विरोध हुआ, जिसके फलस्वरूप दूरवीक्षण यन्त्र से पहले-पहल निश्चित रूप से यह साबित करने वाले कि न तो पृथ्वी स्थिर है और न वह विश्व का केन्द्र है गैलिलियो को जेल म ठूँस दिया गया, ब्रूनो को जिन्दा जलाया गया, वह कोई आकस्मिक बात नही है। शताब्दियो तक धर्म और विज्ञान के भयकर विरोध के जरिये सभ्यता का रथ अग्रसर हुआ। धर्मध्वजियो के हाथो मे वैज्ञानिक का किस प्रकार निर्यातन किया गया, यह मानव जाति के इतिहास का बहुत ही रोमाचकारी अध्याय है। वह धर्म के लिए जितना लज्जाजनक है, विज्ञान के साधको के लिए उतने ही गौरव की बात है। दुख है कि हम यहाँ पर उस सघर्ष के ब्यौरे मे नही जा सकते। बस इतना ही कहना यथेष्ट है कि यदि धर्म विज्ञान का इस प्रकार विरोध न करता तो विज्ञान की उन्नति और भी आसान होती, और सभ्यता बहुत आगे बढ गई होती। जो कुछ भी हो मध्ययुग के सारे इतिहास को विज्ञान और धर्म के सघर्ष का इतिहास कहा जा सकता है। जिसमे विज्ञान की विजय होती गई।

इससे घबराकर उन्नीसवी शती मे धर्म को बचाने के उद्देश्य से विज्ञान और धर्म के समन्वय की चेष्टा का प्रारम्भ हुआ, और विज्ञान के अकाट्य तथ्यो की ओर से मुँह मोडने के बजाय उनको धर्म के मौलिक सिद्धान्तो के साथ जोतने की चेष्टा की जाने लगी। विज्ञान के अन्दर भी गणित मे प्रतीकवाद की ओर झुकाव पैदा हुआ। प्रतीक जिन चीजो के प्रतीक है, उनसे वियुक्त करके उनके सम्बन्ध मे उडान भरने की चेष्टा की जाने लगी। हाईजेनवर्ग के अनिश्चयता-सिद्धान्त को बहुत तूल दिया गया है और कहा गया है कि प्रकृति मे जितना ही हमारा ज्ञान बढता जा रहा है उतना ही ऐसा मालूम होता है कि चीजे नियम के अन्दर नही आती। अध्यापक श्रेडिगर ने एक सवाददाता के द्वारा पूछे जाने पर यह कहा था इन छोटी इकाइयो मे से प्रत्येक के सम्बन्ध मे ऐसा मालूम होता है कि वह किसी निश्चित नियम से स्वतन्त्र रूप से अपनी गति का अनुसरण करती है। यदि हम इस सम्बन्ध मे किसी नियमितता या कानून की बात कर सकते है तो वह नियम केवल आँकड़ेगत नियम

( Statistical law ) है। जहाँ तक बृहत् वस्तुओ की दुनिया है ( Macroscopic ) वहाँ तक तो यह नियम लागू है किन्तु क्षुद्रतम इकाइयाँ किसी नियम का पालन नही करती।' श्रेडिंगर ऐसा कहते है, किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या यह अनियमितता हमे इसलिए मालूम पडती है कि हमारे यन्त्र अभी त्रुटिपूर्ण है और अभी हम चीजो को ढग से नाप नही सकते बात यह है कि पहले जो चीजे नियमित मालूम होती थी वे धीरे-धीरे नियम के अन्दर आती गई है, फिर यह कहना कहाँ तक उचित होगा कि प्रकृति के निम्नतम क्षेत्रो मे कोई नियम नही है। फिर इसी अनिश्चयता से यह कहा गया है कि स्वतन्त्र इच्छा है या नही, इत्यादि। केवल पेशेवर धार्मिको ने ही इस सिद्धान्त का फायदा नही उठाया बल्कि इस प्रकार अपअर्थ करने मे स्वय वैज्ञानिको ने भी हाथ बटाया है। सच तो यह है कि यह अनिश्चयता कहाँ तक दृश्यमान है और कहाँ तक यन्त्रो की न्यूनता के कारण है इत्यादि बाते कभी निर्णीत नही हुई। आइनस्टाइन वैज्ञानिक होने के साथ ही व्यक्तिगत जीवन मे बहुत बडे धर्मवादी है, उनका कहना है कि 'यह सिद्धान्त केवल सामयिक रूप से अज्ञान का शरणगृह (Temporary asylum of ignorance) है। वे समझते है कि जल्दी ही विज्ञान के क्षेत्र मे कार्यकरणवाद का राज्य स्थापित होगा।'

विज्ञान यह स्पष्ट रूप से मानता है कि वह अपूर्ण है, पर वह जहाँ-का-तहाँ पडा नही है, उनके ज्ञान मे बराबर वृद्धि हो रही है, फिर उसके सिद्धान्तो के भी निरन्तर उन्नयन ( परिवर्तन नही ) होते रहते है, इन बातो का फायदा उठाकर धर्म को पुन प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की गई, और यह मानना पडेगा कि वह बहुत-कुछ सफल भी रही। फिर भी आइनस्टाइन के सापेक्षवाद ने धार्मिक लोगो को बडे चक्कर मे डाला। उन लोगो ने क्रोध मे आकर कहा कि यह तो सब तरह के objective सत्य की जड ही काट देता है, और यह तो पागलो की दुनिया हो गई जिसमे सत्य का रूप घडी-घडी बदलता है। अवश्य सापेक्षवाद से इस प्रकार जो क्षति हुई, उसकी क्षति-पूर्ति भूत सम्बन्धी सूक्ष्म धारणा से करने की चेष्टा की गई। सापेक्षवाद की भी आड लेकर यह कहा गया कि जब कोई असापेक्ष या अन्तिम सत्य है ही नही तो धर्म ने ही क्या बिगाडा है, यह भी सब सत्यो की तरह एक सत्य है। नतीजा यह हुआ कि विज्ञान से उद्भूत वस्तुओ का सार्वजनिक रूप से प्रचार होने पर भी वैज्ञानिक और प्रयोगात्मक भावना का उतना प्रचार नही हुआ, उसके सार्वजनिकप्रचार मे बाधाएँ उत्पन्न हुई। फिर भी शिक्षित लोगो मे विशेषकर यूरोप में धर्म का खुल्लम-खुल्ला धर्मविरोध न करते हुए भी, बल्कि ऊपर से

धर्म को मानते हुए भी लोगो के जीवन मे धर्म का कोई प्रत्यक्ष या गहरा असर नही रह गया। रहा-सहा असर भी ज्ञान की ज्योति के प्रसार के साथ-साथ घट रहा था।

पर इधर जब से परमाणु-बम का आविष्कार हुआ है, और उसके विनाशकारी असरो के सम्बन्ध मे लोगो को ज्ञान हुआ है, तब से विज्ञान और वैज्ञानिको के सम्बन्ध मे एक अनास्था का वातावरण उत्पन्न हुआ है, जो मेरी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार सभ्यता के हक मे बहुत ही घातक है। इसी के सम्बन्ध मे कुछ बातो की ओर ध्यान दिलाने के लिए ही इस लेख की अवतारणा की गई है। लोग बहुत-सी बातो को समझकर भी नही समझते। आम तौर पर आधुनिक युद्धो के लिए विज्ञान तथा वैज्ञानिको पर दोष मढने की प्रथा है, पर यह कहाँ तक सत्य है। इसमे कोई सन्देह नही कि सहार के अस्त्र वैज्ञानिको द्वारा आविष्कृत है, पर उन अस्त्रो के आविष्कार को प्रोत्साहन कौन देता है, उनका उपयोग कौन करता है, उनके कारखाने किनके है, किनको उनके प्रयोग से लाभ है। यदि वैज्ञानिको पर किसी प्रकार अस्त्रो के आविष्कार का सारा दोष मढा भी जा सके, तो क्या राष्ट्र के नेता उनका प्रयोग नही करवाते, सैनिक तथा सेनापति उनका प्रयोग नही करते, लेखक तथा पत्रकार उसके प्रयोग का वातावरण उत्पन्न नही करते, और सबसे बडी बात जनता (बहकावे मे आकर या जबरदस्ती) उनके लिए टैक्स नही देती, फिर बेचारे वैज्ञानिको को ही केवल परमाणु बम के लिए दोषी क्यो ठहराया जाय? वैज्ञानिक होना तो एक तरह का पेशा है जैसे सैनिक होना, पत्रकार होना इत्यादि। अवश्य यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक ऐसे आविष्कार न करें तो बाकी सब लोग दुष्ट और भ्रष्ट होकर भी क्या कर लेगे? पर यह तो वैसी ही बात हुई कि सैनिक न लडे तो परमाणु बम आविष्कृत हो जायँ भी तो क्या? जो लोग इस प्रकार की बाते करते है, वे समाज के ढाँचे को समझते नही है, तभी वे इस प्रकार की उड़ाने भरते है। समाज का विषमतामूलक ढाँचा ही युद्धो के लिए उत्तरदायी है।

वैज्ञानिक यह निर्माण-कार्य मौजूदा सामाजिक परिस्थितियो के अन्दर ही कर सकता है, अर्थात् ऐसा करने मे उसे किसी-न-किसी दल को, किसी-न-किसी वर्ग या गुट को अपनाना पडेगा। इस दृष्टिकोण से वैज्ञानिक ज्यो ही कर्मक्षेत्र मे उतरेगा अर्थात् ज्यो ही वह अपनी गवेषणाओ के परिणामो का उपयोग प्रकृति मे सज्ञान हस्तक्षेप की दृष्टि से करेगा त्यो ही वह मौजूदा समाज के झगड़ों मे फँसकर ही रहेगा, क्योकि उसकी खोज आदि के लिए साधन शासक-

वर्ग ही जुटायगा, तथा शासक-वर्ग के बाजार की कसौटी पर ही उसके गुणों का परिचय प्राप्त होगा। उसी के अनुसार उसकी कदर होगी। अतएव केवल वैज्ञानिक को युद्धो या परिमाणु बम के लिए दोषी बताना ठीक नही होगा। परमाणु शक्ति का उपयोग मरुभूमियो को सुजला-सुफला बनाने मे, पहाडी इलाको को समतल बनाने मे, नदियो की गति बदलने मे, न मालूम किन-किन बातो मे हो सकता है। अभी तो हम इनकी सम्भावनाओ के प्रारम्भिक युग मे है। पर इसका उपयोग इस रूप मे न करके प्राणघातक रूप मे करने के लिए गवेषणा जारी है, और उसमे करोडो रुपए खर्च हो रहे है, इसके लिए वैज्ञानिक का क्या दोष है। हम पहले ही बता चुके है कि इसके लिए वैज्ञानिक को दोषी ठहरना उसी प्रकार होगा जैसे दुर्भिक्ष मे किसी से कहा जाय कि वह घटिया अनाज या जडो को क्यो खाता है।

इस कारण विज्ञान के प्रति यह अनास्था बिलकुल ही अप्रयोजनीय और अर्थहीन है। विज्ञान के सहारे और विज्ञान की बदौलत ही मनुष्य जाति आगे बढी है, और उसकी एक-पर एक विजय हुई है। अब जब कि दिग्विजय बहुत अग्रसर हो चुकी है, हमे दिल नही हार देना है। लगे हाथो विज्ञान का फायदा आम जनता को कुछ भी हुआ हो, रेल, तार, टेलीफोन, रेडियो, सिनेमा जितने भी साधन है उन सबका उपयोग शासकवर्ग ने अपने शासन को स्थायी बनाने मे ही किया है। विज्ञान तथा वैज्ञानिक साधनो का जनवादी उपयोग उन्ही देशो मे सम्भव है जहाँ जनता की सरकारे है, और जनता ही उत्पादन के साधनो की स्वामिनी है। इस कारण हमे अपने असली रोग को पहचानना है। सभ्यता के ऐसे सकट काल मे विज्ञान मे आस्था खोकर, और चूँकि प्रकृति शून्यता को बर्दाश्त नही करती जादू-टोना, अदृष्टवाद या उनके कुछ परिष्कृत बल्कि प्रच्छन्न रूपो के हाथो मे अपने को हाथ-पैर बाँधकर सौप देना बहुत खतरनाक होगा और इतनी निराशा की बात ही क्या है, जैसा कि लेवी ने कहा है, अकेले पेनिसिलीन ने उससे अधिक प्राण बचाये जितने द्वितीय महायुद्ध मे मारे गए। इसलिए यह स्पष्ट है कि जब विज्ञान पर से जन-विरोधी परस्पर विवदमान शासकवर्ग का नियत्रण उठ जायगा, तब विज्ञान मेघमुक्त होकर अपने वरद हस्त को खुलकर हमारी ओर बढा सकेगा।

२७

# प्रगतिवाद और यौन आचार

यौन आचार के सम्बन्ध मे प्रगतिवाद का क्या दृष्टिकोण है, इस सम्बन्ध मे कई प्रगतिवाद के दावेदार अधेरे मे ज्ञात होते है। मैने एक प्रगतिवादी लेखक को भरी सभा मे यह दावा करते सुना कि पातिव्रत्य और पात्नीव्रत्य की कोई जरूरत नही, यह सब तो ढोग और ढकोसला है। दुख के साथ कहना पडता है कि मेरे मित्र ने प्रगतिवाद को समझा नही। ऐसे लोग प्रगतिवाद के सबसे बडे दुश्मन है, क्योकि एक तो ये स्वय प्रगतिवाद को समझे नही, दूसरा इनकी बहकी-बहकी बातो को सुनकर जो प्रगतिवाद के सभव रिक्रूट है वे बिदकते है, और तीसरा इनकी बातो से प्रगतिवाद की तरफ ऐसे लोग खिच आते है जिनका किसी भी वाद मे आना उस वाद के लिए परम दुर्भाग्य है।

प्रगतिवाद के दुश्मनो ने इस परिस्थिति का पूरा-पूरा फायदा उठाया है, और चूंकि प्रगतिवाद एक वामपन्थी आन्दोलन है, इसलिए उसे वाममार्गी करके प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है, जिसमे उन्हे कुछ सफलता भी मिली है। इसलिए इस विषय पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करना आवश्यक है।

प्रत्येक समाज-पद्धति का अपना यौन आचार होता है। अति प्राचीन समाज मे मातृ-गमन और भगिनी-गमन, और इस कारण पितृ-गमन और भ्रातृ-गमन सामाजिक था। यम और यमी की सुपरिचित वैदिक अनुश्रुति के अतिरिक्त हमारे वेदो मे उस प्राचीनतर समाज-पद्धति की बहुत सी गूँजे सुनाई पडती है जब उल्लिखित प्रकार के यौन आचार अथवा आचारहीनता प्रचलित थी। स्मरण रहे कि उन दिनो मनुष्य समाज मे राज्य या राष्ट्र का उदय नही हुआ था, और न वर्गो का ही अस्तित्व था। अभी वैयक्तिक सम्पत्ति का भी उदय नही हुआ था।

इसके बाद उत्पादन के साधनो के विस्तार के साथ-साथ वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय हुआ, मातृसत्ताक समाज का अन्त होकर पितृसत्ताक समाज का

उदय हुआ, वर्गो की उत्पत्ति, हुई, और वर्ग शासन के हथियार के रूप मे राज्य का उदय हुआ। स्त्री की कद्र घटी। विवाह-प्रथा चली। स्त्री अब एक पुरुष की सम्पत्ति हो गई। पातिव्रत का जन्म हुआ, और पातिव्रत्य धर्म की महिमा गाई जाने लगी। स्मरण रहे यह धर्म केवल एकतरफा था। पति देवता जितनी चाहे उतनी शादियाँ कर सकते थे, इसके अलावा दासियाँ थी जो मालिक की सम्पत्ति थी।

पहिये का एक और घूर्णन हुआ, सामन्तवाद का युग आया। किसी-किसी देश मे पूर्ववर्णित दास और मालिक का समाज उतना स्पष्ट नही रहा, और सामन्तवाद का सूत्रपात हो गया। जो कुछ भी हो इस युग मे यौन आचार उसी प्रकार रहा जैसे पहले बताया गया है। पातिव्रत्य का जोर रहा, और एक पुरुष कई स्त्रियो से शादी कर सकता था।

बुर्जुआ युग या पूँजीवादी युग के प्रारंभ बल्कि बहुत पहले से ही ईसाई देशो मे कानूनन एक पत्नीत्व का प्रवर्तन हुआ, पर कानून और बात है व्यवहार और। स्त्री के लिए पातिव्रत्य रहा। पर पुरुष चाहे जितनी उपपत्नियाँ रखता। सामन्तवाद के युग मे यहा तक यह धारणा पहुँची कि परकीया-गमन या अनुशीलन सारे साहित्य का केन्द्र-बिन्दु समझा गया, और इसी को आधार मानकर साहित्य-शास्त्र तैयार किया गया। देवताओ की गाथाएँ भी इसी रूप मे परोसी गई।

कहना न होगा कि यह यौन व्यवस्था न्याय पर आधारित न होने के कारण तथा उसमे पुरुष और स्त्री की समानता स्वीकृत न होने के कारण किसी भी क्रान्तिकारी विचार-पद्धति के लिए स्वीकार्य नही हो सकती थी।

इसी कारण १८४८ मे साम्यवादी घोषणा-पत्र मे जहाँ आर्थिक व्यवस्था को केन्द्र बनाकर ही सारी बाते कही गई, वहाँ यौन व्यवस्था पर भी सूत्र रूप मे दो बाते कह दी गई। उसमे लिखा गया 'पूँजीवादी अपनी स्त्री को महज एक उत्पादन के साधन के रूप मे देखता है। उसने सुन लिया है कि उत्पादन के साधनो का सार्वजनिक उपयोग होगा, बस उसके दिमाग मे यह धारणा घर कर गई कि स्त्रियो का भी इसी प्रकार सार्वजनिक उपयोग होगा।"

एक बात, जो इस घोषणा-पत्र मे नही कही गई, पर अब प्रगतिवाद के दुश्मनो के द्वारा कही जाती है, वह यह है कि आदिम समाज मे आर्थिक शोषण नही था, पर उसमे यौन आचारहीनता थी, तो भविष्य के शोषणहीन समाज मे भी ऐसा ही होगा। सुनने मे तो यह तर्क बडा सच्चा मालूम देता है, पर यह तर्क थोथा इस कारण है कि भविष्य का शोषण संभावनाहीन-

समाज आदिम समाज का प्रतिरूप नही होगा, बल्कि उसका अत्यन्त विकसित रूप होगा। बन्दर और अति आधुनिक मानव मे जो फर्क है, वही इन दो समाजो मे है यद्यपि ऐसे मानव को बन्दर का विकसित रूप कहा जायगा। इन दोनो समाजो मे केवल एक ही समता है याने दोनो समाजो मे शोषण नही है। इसके अलावा बाकी जो समताएँ है जैसे दोनो पद्धतियो मे राज्य या राष्ट्र का न होना, सो वे इसी शोषण-सभावनाहीनता से ही उद्भूत है। आदिम समाज मे, जहा यौन आचारहीनता ही यौन सदाचार था, भविष्य के शोषण-सभावनाहीन समाज मे जो यौन सदाचार होगा वह पहले-पहल सर्वसाधारण को यह बतलायगा कि यौन सम्बन्धो की सभावनाएँ क्या हो सकती है। अस्तु।

१८४८ के उल्लिखित घोषणा-पत्र मे यह बताया गया कि "पूजीवादी विवाह-पद्धति वस्तुत. सार्वजनिक पत्नी बनने की प्रथा है, इस कारण साम्य-वादियो के विरुद्ध जो कुछ कहा जाता है, यदि वह सत्य भी हो, तो उसका अर्थ यह है कि जहाँ पूँजीवादी ढोगी तरीके से छिपा हुआ सार्वजनिक पत्नी मूलक समाज को लेकर चल रहे है, वहा हम लोग खुले तौर पर वैधकृत इसी प्रकार का समाज चाहते है। रहा यह तो साफ है कि उत्पादन की वर्तमान पद्धति का उच्छेद होते ही इस सार्वजनिक पत्नीत्व वाली पद्धति याने सार्वजनिक रूप से या छिपे-छिपे वेश्या-वृत्ति का अन्त हो जायगा।"

दूसरे शब्दो मे इस घोषणा-पत्र मे यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया गया था कि जो लोग शोषणमुक्त समाज-पद्धति की बाते करते है, या ऐसे समाज की स्थापना का स्वप्न देखते है जिसमे उत्पादन के सारे साधन स्वय काम करने वालो के हाथ मे आ गए है, वे यह नही समझते कि उस समाज की प्रत्येक स्त्री वेश्या होगी और प्रत्येक पुरुष वेश्यागामी।

फिर भी जैसा कि मै बता चुका जो भी प्रगतिवादी आन्दोलन या विचार-धारा आई, उसने उस समय मौजूद यौन आचार पर आघात किये, इस कारण प्रगतिवादियो को हमेशा से व्यभिचार और उच्छृंखलता के प्रतिपादक करके दिखाने की चेष्टा की गई है। किसी ने जोश मे कोई बात कह दी, या नही भी कही तो उसके कथन को अतिरजित करके तथा तोड-मरोडकर प्रगतिवाद के दुश्मनो ने बराबर यह हौवा खडा करना चाहा कि देखो इनकी सुने कि तुम्हारी बहू-बेटी तुम्हारी नही रहेगी।

मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद के बहुत पहले से ही समाजवाद का किसी-न-किसी रूप में विकास हो रहा था। विकास की ऐसी ही कडियो मे फ्रेच

समाजवाद के प्रवर्तक फुरियेर (१७७२-१८३७) बहुत महत्वपूर्ण है। उनके सम्बन्ध मे कहा जाता है कि वे यह समझते थे कि कभी समुद्र खारापन से मुक्त होकर लेमनेड का सागर हो जायगा और मनुष्यो की उम्र १४४ साल होगी जिसमे से १२० साल स्वतन्त्र प्रेम के उपभोग मे व्यतीत होगा। कहना न होगा कि फुरियेर ने यदि ऐसा सोचा कि समुद्र अपना खारापन छोडकर मीठा हो जायगा, तो इसमे उन्होने कोई इतना बडा अपराध नही किया। परमाणु-शक्ति ने अब यह सम्भव किया है कि ऐसी बाते हो सके। समुद्र मीठा हो या न हो, समुद्र से इतना खाद्यद्रव्य निकालने पर ही मानवता का भविष्य निर्भर है जिससे कि बढती हुई जनसख्या को खिलाया जा सके। मरुभूमियो को उपजाऊ बनाने की बात हम बहुत गम्भीरता के साथ कर ही रहे है, और कोई हमे पागल नही समझता।

रहा यह कि मनुष्य की आयु बढेगी, यह फुरियेर के समय मे भले ही कुछ हद तक कल्पना-विलासी रहा हो, पर गत सौ वर्ष मे यह बहुत कुछ व्यावहारिक हो गया है। सभ्य तथा उन्नत देशो मे लोगो की आयु बढी है और यह एक तथ्य है। इसी प्रकार मनुष्य की सब तरह की उपभोग-शक्ति भी बढती चली जा रही है। स्वतन्त्र प्रेम के सम्बन्ध मे हम बाद को आलोचना करेगे।

फुरियेर तो माने हुए समाजवादी नेता रहे है, यद्यपि उनके समाजवाद को स्वप्नवादी बताया जाता है। उन्होने कुछ कहा, उसे इस सम्बन्ध मे उद्धृत करना प्रगतिवाद के दुश्मनो के लिए क्षन्तव्य कहा जा सकता है, पर दुश्मन को नीचा दिखाने के जोश मे इस सम्बन्ध मे इल्लुमिनाटी सम्प्रदाय के सस्थापक वाइसहाउप्ट का नाम लिया जाता है, जिन्होने शायद यह कहा था कि एरोटेरियन नामक एक मदनोत्सव का प्रवर्तन किया जाय जो प्रेम की देवी के सन्मान मे मनाया जाय। भला बताइए वाइसहाउप्ट कौन से क्रान्तिकारी थे कि उनके मत को इस सम्बन्ध मे उद्धृत किया जाता है। ऐसे कितने ही व्यक्तियो ने कितनी ही बाते ओ३म् मडली के ढग पर कही होगी, पर उनके साथ क्रान्तिवाद या प्रगतिवाद का क्या सम्बन्ध है?

उन्नीसवी सदी मे स्त्री-स्वाधीनता-आन्दोलन ने बहुत जोर पकडा, और उस सिलसिले मे उस समय की समाज-पद्धति से उकताकर कई स्त्री-स्वतन्त्रता-आन्दोलन के नेताओ तथा नेत्रियो ने कुछ इस प्रकार के नारे दिये कि सारे खुराफात की जड मे विवाह-प्रथा है, इसलिए इसको खतम करो। जार्ज सेण्ड ने यह कह दिया कि व्यभिचार बुरा न समझा जाय। सेण्ड के इस कथन को हम बिलकुल मूर्खतापूर्ण समझते है, पर जिस प्रकार की भावना से अनुप्रेरित

होकर उस व्यक्ति ने यह नारा दिया था, उसका विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि यह उक्ति उतनी मूर्खतापूर्ण नही है, जितनी प्रथम दृष्टि मे ज्ञात होती है। यदि हम इस बात को याद रखे कि उस समय के मध्यम वर्ग तथा उच्च वर्ग मे पुरुष व्यभिचारी होते थे, तो हमारी समझ मे आ जायगा कि सेण्ड ने क्या बात कही। जहाँ एकतरफा व्यभिचार जारी था, वहाँ सेण्ड ने निराश होकर दोतरफा व्यभिचार का समर्थन किया। इसी प्रकार कुछ अन्य लोगो ने यह नारा दिया कि बच्चो का नाम माँ के नाम पर हो। इसी प्रकार की अन्य बहुत-सी बाते कही गई। ये सारी बाते निराशा या प्रतिशोध की भावना से कही गई पर इनमे क्रान्तिवाद कहाँ है क्योकि क्रान्तिवाद का सार यह है कि विद्रोह हो, पर पहले से अच्छा पुनर्निर्माण हो। यह उत्पादन इस प्रकार की उक्तियो मे कहाँ है। इनमे विद्रोह तो था, पर पुनर्निर्माण नही। ऐसी अवस्था मे इन्हे क्रान्ति या प्रगति के मत्थे थोपना अन्यायपूर्ण है।

फ्रास के प्रसिद्ध समाजवादी राजनीतिज्ञ मौशियेव्लम ने विवाह पर एक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक उन्होने अपनी नौजवानी मे लिखी थी, पर १६३६ में एक नई भूमिका के साथ उन्होने इसको प्रकाशित किया। यह पुस्तक स्वतन्त्र प्रेम का प्रतिपादन करती है। उसमे उन्होने कहा कि भला कोई अपने को पवित्र कुमारी क्यो रखे, क्यो न मनुष्य आकर्षण के सामने आत्म-समर्पण करे। उन्होने कहा कि आज जो हम किसी की तरफ आकृष्ट होकर भी सयम किये पड़े रहते है, इसका क्या कारण है। उन्होने कह दिया कि लडकियाँ अपने प्रेमियो के यहाँ से उसी प्रकार लौट आयेंगी जिस प्रकार वे स्कूल से लौटती हैं। उन्होने यहाँ तक लिख मारा कि वे अगम्यगमन मे क्या दोष है इसे समझ नही पाते, और यदि इस बात को छोड भी दिया जाय कि कुछ समाजो मे अगम्यगमन उचित माना गया है, तो भी यह स्वाभाविक ही मालूम होता है कि भाई से बहन का प्यार हो और बहन का भाई से।

कहना न होगा कि मौशियेव्लम ने जिस प्रकार की बातो का समर्थन किया है वे बिलकुल ही क्रान्तिवाद के नाम के योग्य नही है। शरत् बाबू ने 'शेष प्रश्न' मे कुछ इसी ढग की बातो का प्रतिपादन किया है, अवश्य वे बाते इस प्रकार खुले रूप मे नही कही गई है। फिर भी उनका वक्तव्य स्पष्ट है। श्री एम० एन० राय ने इस पुस्तक की बडी तारीफ की है, और इसे 'गीताजलि' से बढकर माना है। सडे-गले समाज पर, विशेषकर उसके यौन आचार पर चाबुक लगाना और बात है, और बन्धन-मुक्ति के नाम पर व्यभिचार को अपनाना और बात है।

शरत् बाबू ने कमल के हाथ मे जो झडा दिया है, वह क्राति का नही है वह उच्छृङ्खलता का है। मैने अपनी 'शरच्चन्द्र' नामक पुस्तक मे इसकी ब्यौरेवार आलोचना की है। उसमे से कुछ अश यो है—'क्राति का अर्थ असगतिग्रस्त, सड़े कठरोधकारी बंधनो की जगह पर स्वास्थ्यकर नवीन बधनो का प्रवर्तन है। ये बधन ऊपर से नही लदते, बल्कि क्रान्तिकारी इन्हे अपने ऊपर लादता है। क्रान्ति एक युक्तवाद (Synthesis) है। वह युक्तवाद पहले के बाद (Thesis) और प्रतिवाद (Antithesis) से सम्पूर्ण रूप से अलग होते हुए भी, पहले के मुकाबले मे एक छलॉग होते हुए भी, इसकी उत्पत्ति हवा से या दिमाग से नही होती, आधारगत रूप से पहले के वाद प्रतिवाद से सयुक्त है। कही यह समालोचना अधिक गूढ न हो जाय इसलिए हम इतना ही कहेगे कि कमल की यह धारणा कि सभी कर्तव्य आत्मपीडन है, एक अजीब धारणा है। फिर एक बार दूसरे शब्दो मे वही बात साबित होती है जो मै पहले कह चुका हूँ कि कमल अधिकारो के लिए खूब लडती है, सोलहो आने सजग है, किंतु कर्तव्य को आत्मपीडन बताती है। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि उसके हाथ मे जो झडा है वह क्राति का नही है वह सर्व बन्धन-विमुक्ति तथा मात्रा ज्ञान-हीन विद्रोह का है। विद्रोह ज्यो ही मात्रा-ज्ञान खो बैठता है त्यो ही वह विद्रोह नही रहता, कुछ और हो जाता है, मात्रागत परिवर्तन से गुणगत परिवर्तन हो जाता है।'

स्वतत्र प्रेम का यदि कोई अर्थ है तो यही है कि प्रेम पर अन्य सामाजिक तथा आर्थिक रोक न हो जैसा कि हमारे विषमतामूलक समाजो मे है। पर स्वतन्त्रता के नाम पर व्यभिचार का प्रचार करना बहुत ही दुर्भाग्य की बात है। जैसे कि मै पहले ही इगित कर चुका हूँ, क्रान्ति पुरानी मान्यताओ को तोडकर नई मान्यताओ को स्थापित करती है। यह नही कि सारी मान्यताएँ समाप्त हो जायें। यहाँ तक कि भविष्य के राष्ट्रहीन समाज मे भी मान्यताएँ होगी। सच तो यह है कि इन्ही मान्यताओ के आधार पर वह समाज खडा होगा। उस समय तो राष्ट्र भी नही होगा, और ये ही मान्यताएँ सब-कुछ होगी, और इन्ही के बल पर समाज चलेगा। जैसे हमारे समय की एक सर्वमान्य मान्यता को लीजिये। भले ही कोई राहगीर किसी स्त्री पर बुरी दृष्टि डाले, पर वह उसका मर्दन नही कर सकता। फौरन सब लोग एकत्र हो जायँगे और उस व्यक्ति को बुरे काम से रोकेगे। इस प्रकार की सैकडो मान्यताएँ होगी, तभी न बिना राष्ट्र के सैनिक और पुलिस का समाज चलेगा। अस्तु।

प्रत्येक नया समाज एक नये यौन ग्राचार को लेकर ग्राता है, इस प्रकार ग्रौर इस हद तक क्रान्तिवाद पुराने यौन ग्राचार को हटाकर उसके स्थान पर नया यौन ग्राचार स्थापित करना चाहता है। यहाँ यह स्मरण रहे कि प्रगतिवाद या क्रान्तिवाद की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह सर्वकाल के लिए किसी ग्राचार का फतवा न देकर प्रगति की प्रगतिशील तथा क्रान्ति की क्रान्तिवादी परिभाषा करता है। किसी प्रकार के शाश्वत यौन ग्राचार का प्रतिपादन हम नही करते। एल्डस हक्सले ने ग्रपनी Ends and means नामक पुस्तक मे यह कहा है कि "जिस मुक्ति की हम कामना करते है वह केवल एक ग्रार्थिक तथा राजनैतिक पद्धति से मुक्ति नही है, हम प्रचलित सदाचार से भी मुक्ति चाहते है।" स्वाभाविक रूप से समाज के किसी भी ढाँचे मे उसकी सारी विचार-धारा, चाहे वह धर्म हो चाहे साहित्य या सदाचार हो उस समाज को कायम रखने की चेष्टा करती है। उससे मुक्त होकर नये ढाँचे मे नई विचार-धारा, नया सदा-चार होगा, यह तो स्पष्ट है।

रूस मे जब नये समाजवादी समाज की स्थापना हुई, तो ग्रच्छे-ग्रच्छे लोगों ने पुराने सदाचार को दूर करने के पागलपन में बिलकुल उच्छृङ्खलता को ग्रपनाया, जिस पर गोर्की को कहना पडा—"मै प्रेम की बात पर कुछ न कहूँगा। फिर भी मै इतना कहूँगा कि नई पीढी ने यौन सम्बन्धो मे एक दूषित ग्रति सरलता का ग्रवलम्बन किया है, जिसके लिए इन ग्रपराधियो को बहुत भारी दाम चुकाना पडेगा। मेरी यह ग्रान्तरिक इच्छा है कि इस प्रकार की लज्जाजनक गडबडियो के लिए इन्हे जल्दी सजा मिले।" यह स्मरण रहे कि ये बचन प्रगतिवाद के ग्रन्यतम महान् प्रतिपादक गोर्की के है।

रूस मे इस उच्छृङ्खलता को दबाने के लिए लेनिन को ग्रावाज उठानी पडी। उन्होने इस सम्बन्ध मे जो कुछ कहा, वह क्लाराजेटकिन के साथ बातचीत मे हमारे लिए उपलब्ध है। उन्होने मौशियेव्लम के ढग पर यौन ग्राचार के सम्बन्ध मे ग्लास वाले सिद्धान्त का जोरो से खडन किया। वे बोले—"मै ऐसा समझता हूँ कि यह ग्लास वाला सिद्धान्त जिसके ग्रनुसार प्यास लगने पर किसी भी ग्लास से पानी पिया जा सकता है, बिलकुल समाज-विरोधी है। यौन जीवन मे केवल एक ही बात नही देखनी है कि ग्रापकी तबीयत क्या कहती है। इसमे यह भी देखना है कि सास्कृतिक विशेषताएँ तथा ग्रावश्यकताएँ क्या है। एगैल्स ने 'परिवार की उत्पत्ति' नामक पुस्तक मे यह दिखलाया है कि सामूहिक यौन-जीवनचर्या से किस प्रकार वैयक्तिक यौन-जीवनचर्या उन्नत ग्रवस्था है। इसके ग्रलावा केवल बात इतनी ही नही है कि यह केवल दो व्य-

क्तियो का सम्बन्ध है । इसमे और भी बहुत-सी बाते आ जाती है । इन सारे सम्बन्धो को अच्छी तरह समझना पडेगा, और उन्हे समाज की आर्थिक नीव से मिलाते हुए देखना पडेगा । अवश्य ही प्यास बुझाई जानी चाहिए, पर क्या कोई सही दिमाग वाला आदमी झुककर नाली से पानी पियेगा, या ऐसे गिलास से पानी पियेगा, जिसका ऊपर वाला हिस्सा बहुत से लोगो के पीने के कारण गन्दा हो चुका है । सामाजिक पहलू सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । पानी पीना तो एक व्यक्ति का निजी कार्य है । पर प्रेम मे दो व्यक्तियो का सम्बन्ध आ जाता है, और एक नये व्यक्ति का जन्म होता है । इस प्रकार यह एक वैय-क्तिक बात न रहकर सामाजिक बात हो जाती है ।''

लेनिन ने इस सम्बन्ध मे बोलते हुए कहा––''यह जो प्रेम की बन्धन-मुक्ति की बात कही जाती है, यह न तो कोई नई बात है, और न साम्यवादियो का इससे कोई सम्बन्ध है । तुम्हे याद होगा कि गत शताब्दी के मध्य भाग के करीब हृदय की मुक्ति नाम से यह आन्दोलन रोमाटिक साहित्य मे चल निकला था । पर पूँजीवादियो के हाथो मे पडकर यह आन्दोलन कामुकता की मुक्ति बनकर रह गया । उन दिनो इसका जिस प्रकार प्रचार-कार्य होता था वह कुछ प्रतिभापूर्ण था । रहा व्यवहार सो, मै उनकी तुलना करने मे असमर्थ हूँ । मै यह नही कहता कि लोग लगोट लगाकर सन्यासी बन जायँ । कभी नही । समाजवाद यतिवाद मे विश्वास नही करता, पर जीवन का आनन्द, जीवन की शक्ति तथा पूर्ण सन्तुष्ट जीवन समाजवाद का ध्येय है । मेरा यह विचार है कि इस समय प्रचलित यौन उच्छृङ्खलता से जीवन को आनन्द तथा शक्ति प्राप्त न होकर उससे वे छिन जाते है । क्रान्ति के युग मे यह बुरा, बहुत ही बुरा है ।''

उन्होने कहा कि न तो वे सन्यासी ही चाहते है, और न डानजुआन चाहते है, और न इनके बीच के जर्मन फिलिस्टिनो को ही चाहते है । इस प्रकार गोर्की और लेनिन प्रगतिवाद या क्रान्तिवाद के दो महान् प्रतिपादको का क्या कहना है यह सामने आ गया । रहा यह कि सर्व युग मे लोग धोखा खाते रहे है यह भी स्पष्ट हो गया । इसलिए इसमे आश्चर्य की बात नही है कि प्रगति-वादी साहित्य क्या है, इस सम्बन्ध मे भी बडी गलतफहमियाँ उत्पन्न हुई है । सभी विद्रोह प्रगति नही है । हम वर्तमान युग के सबसे बडे अश्लील लेखक पाल सार्त्र की बात लेगे । कुछ लोग उनके साहित्य को क्रान्तिकारी समझते है, पर असल मे उसमे क्रान्ति का कही नाम भी नही है । वह तो बुर्जुआ सभ्यता की पतनशील अवस्था का प्रतिफलक एक कलाकार है । फिर कही

गलत न समझा जाऊँ इसलिए यह स्पष्ट कर दूं कि सभी क्षेत्रो मे जिसे अश्लीलता कहा जाता है, वह वर्जनीय न तो है और न हो सकता है जहाँ विषय को स्पष्ट करने के लिए लेखक थोडे ब्यौरे मे जाता है, वहाँ तो थोडी अश्लीलता क्षम्य कही जा सकती है, पर जिस साहित्य का उपजीव्य ही अश्लीलता हो, जिसका स्वय ध्येय ही अश्लीलता हो, वह साहित्य किसी भी हालत मे प्रगतिशील नही कहला सकता ।

इस सन्बन्ध मे एक छोटा-सा उदाहरण दिया जाय कुप्रिन का "गाडीवानो का कटरा" नामक पुस्तक आदि से अन्त तक वेश्यालय के सम्बन्ध मे होते हुए भी तथा उसमे बराबर अश्लील प्रसंग आने पर भी वह एक प्रगतिवादी रचना कही जा सकती है। बात यह है कि उसका उद्देश्य वेश्या-वृत्ति की जघन्यता का उद्घाटन करना है । इसके विपरीत सार्त्र बिना कारण सर्वत्र अश्लील-प्रसग लाया है सार्त्र को आधुनिक युग का लडन-रहस्य-लेखक रेनल्डस माना जा सकता है, पर उसमे प्रगतिवाद या क्रान्तिवाद कही नही है । अवश्य उसके तथा रेनल्ड के साहित्य को भी सामाजिक कसौटी पर कसा जा सकता है, और वे, जैसा कि मै पहले ही इगित कर चुका हूँ, रेनल्डस के क्षेत्र मे सामन्तवादी वर्ग तथा सार्त्र के क्षेत्र मे पूँजीवादी वर्ग के ह्रास तथा पतन की खबर हमे देते है । इस हद तक यह मानना पडेगा कि वे प्रगतिशील है, पर जहाँ तक कि वे इस ह्रास तथा पतनशीलता को एक गौरवमय रूप देने की चेष्टा करते है तथा भ्रम उत्पन्न करते है कि यही अवस्था शाश्वत तथा स्वाभाविक है, वे निश्चित रूप से प्रतिक्रियावादी है ।

जैसे जीवन मे यौन वृत्तियो को कोई भी महत्व देने से इन्कार करना गलत है, उसी प्रकार से यह आशा करना भी कि साहित्य मे यौन आचारो पर अधिक जोर देना या उन्हे कोई महत्व न देना गलत है । प्रगतिवाद-जैसे सभी क्षेत्र मे एक उन्नत विचार-धारा को लेकर चलता है, वैसे ही वह यौन-आचार के क्षेत्र मे भी नये यौन-आचार का प्रतिपादक होकर साहित्य मे आयगा । पर वह किसी भी हालत मे पानी के गिलास वाले सर्वबन्धन-मुक्ति का नारा लेकर पूँजीवादी ढग से स्वतन्त्र प्रेम का प्रचार नही करेगा । जैसा कि इगित किया जा चुका है, प्रगतिवादी के दृष्टिकोण से स्वतन्त्र प्रेम केवल वही है जो आर्थिक शोषण तथा दबावो से मुक्त हो । पर प्रेम भी एक सामाजिक गुण है, इसलिए स्वतन्त्रता के नाम पर उसे इतना अधिकार नही दिया जा सकता कि वह समाज की दूसरी उदात्त भावनाओ को चोट पहुँचाकर उसके सगठन को नष्ट-भ्रष्ट कर दे ।

२८

# भारतीय फिल्मों में धींगा-धींगी

अभी केन्द्रीय पार्लियामेट मे हमारे यहाँ बनने वाली फिल्मो के सम्बन्ध मे कुछ आलोचना हुई थी। एक सदस्य श्री महावीर त्यागी ने अपने ढग से बनने वाले फिल्मो का यह कहकर तिरस्कार किया था कि इसमे जिस प्रकार की स्त्रियो को दिखलाया जाता है वह उचित नही है। इसमे सदेह नही कि भारतवर्ष मे फिल्मो के क्षेत्र मे बड़ी धीगा-धीगी हो रही है।

साथ ही यह एक बहुत स्वत सिद्ध-सी बात है कि जिस भी दृष्टि से देखा जाय फिल्म ही भारतवर्ष मे सबसे बडा (सस्कृति का कह लीजिये या मनोरजन का कह लीजिये) साधन हो चुका है। उच्च शिक्षित से लेकर मजदूर वर्ग तक सभी फिल्मो मे जाते है और वह उनके लिए एक आवश्यकता की मर्यादा प्राप्त कर चुकी है। कई दृष्टियो से ऐसा होना मुझे बहुत अधिक वाछनीय नही ज्ञात होता। लोग अच्छे-से-अच्छे लेखक की लिखी हुई एक रु० दाम की पुस्तक नही खरीदेगे, ८ आने मे अत्यत सुसम्पादित मासिक पत्रिका नही खरीदेगे पर सिनेमा जायँगे। यहाँ तक कि भूखे रहकर भी सिनेमा जायँगे।

मै कोई नीतिशास्त्र का डडा उठाकर इसे रोकने के लिए उद्यत नही हूँ। मेरा वक्तव्य केवल इतना है कि जब फिल्म इतनी लोकप्रिय हो चुकी है तो क्या उन्हे साहित्यसगीतकलाविहीन उत्पादको पर छोड देना उचित होगा। इन उत्पादको का उद्देश्य केवल पैसे पैदा करना है। यदि पैसा पैदा करते हुए वे साथ-साथ लोगो की सास्कृतिक सतह की ओर खयाल रखते, किसी-न-किसी प्रकार से नव-निर्माण मे सहायक होते तो बात और थी। पर इनका तो उद्देश्य येन-केन-प्रकारेण केवल पैसा पैदा करना है। न तो कहानी ढग की होती है, और न सगीत ही ढग का। जब से यह कथित निर्माता या उत्पादकगण खुद कहानी लिखने लगे, अधिकाश क्षेत्र मे यह कहानी लिखना केवल दूसरो की चोरी करना या कई को मिलाकर एक बे-सिर-पैर की कहानी बनाना होता है, तब से सिनेमाओ का मान दड और भी घटने लगा।

जो कुछ भी हो इसमे सदेह नही कि राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से फिल्मो का नियत्रण आवश्यक है। अवश्य मै यहाँ बता दूँ कि नियत्रण के नाम पर फिल्मो को नौकरशाही के लोगो की दया पर छोड देना अच्छा न होगा, उससे शायद फिल्मो का ही नाश हो जाय, इस कारण फिल्मो के नियत्रण मे सरकार को चाहिए कि वह इनके सुधार मे विस्तृत विचार-युक्त राजनीतिज्ञो के अतिरिक्त बडे कलाकारो तथा उपन्यासकारो आदि की सहायता ले।

इस सम्बन्ध मे अमरीका मे जिस प्रकार से नियत्रण किया जा रहा है, वह बहुत दिलचस्प होगा। १९३० मे 'किग आव किग्स' नाम एक फिल्म बन रहा था। यह फिल्म ईसा-मसीह के जीवन-चरित्र पर था। इसे बनाने के लिए फादर डनियल लार्ड नामक एक विद्वान् पादरी की सहायता ली गई। इस कार्य मे उक्त पादरी साहब को कुछ अभिज्ञता हुई। उसके आधार पर उन्होने एक हिदायतनामा-सा बनाया, जिसमे ११ बातो को छोडने के लिए तथा २६ बातो का चित्रण करते समय विशेष ध्यान देने के लिए कहा। पर पादरी साहब की इन बातो की सुनाई नही हुई। तब पादरी साहब ने इसे एक जन-आदोलन मे परिणत कर दिया और लाखो व्यक्ति उनके द्वारा परिचालित 'लिजेन आव डीसेन्सी' के सदस्य हो गए।

फादर डनियल लार्ड ने हालीवुड मे बने हुए १३३ ऐसे फिल्मो की समीक्षा की जो १९३४ के जनवरी से मई तक बने थे, उन्होने इस समीक्षा के बाद जो वक्तव्य दिया, वह बहुत ही मौके का था। उसमे उन्होने बताया कि २६ ऐसे कथानक थे जो अनैतिक प्रेम पर अवलम्बित थे, १३ कथानको का आधार लडकी भगाना था, १२ कथानको का आधार असफल लडकी भगाना था, ५२ मे बलात्कार के दृश्य थे। एक मे अगम्य गमन का प्रयत्न था। फादर लार्ड ने यह भी बताया कि जो चरित्र दिखलाये गए थे उनमे से १८ व्यभिचारी का जीवन व्यतीत कर रहे थे, ७ इसकी तैयारी मे थे, ३ फिल्मो मे तो वेश्याएँ ही मुख्य नायिका के रूप मे थी। इसके अतिरिक्त २५ फिल्मो मे इस प्रकार के दृश्य, नाच, गाने, बातचीत थी जो सर्वत्र कुरुचिपूर्ण मानी जायगी।

फादर लार्ड ने जब इन बातो को प्रकाशित किया तो शिक्षा-विशेषज्ञो तथा अन्य लोगो मे एक तहलका-सा मच गया। हजारो नौजवानो तथा युवतियो ने जुलूस निकाला और यह माँग रखी कि वे इस प्रकार के कथानक नही चाहते।

अब तो फिल्म के व्यापारियो मे बड़ी भगदड मची। वे घबराए कि कही ऐसा न हो कि सरकार बीच मे पड़े और फिर उनका करोड़ो का रोजगार मारा जाय। इसीलिए इन लोगो ने जल्दी-से-जल्दी एक बोर्ड बना लिया, और

अपने-आप अपनी फिलमो को नियन्त्रित करने के लिए तैयार हो गए। इस कार्य-क्रम के अनुसार एक केन्द्रीय बोर्ड बना, जिसके सामने सब निर्माता अपने फिलमो को पहले पेश करते है। यदि कोई निर्माता इस बोर्ड को बिना दिखाए तथा उसकी सम्मति प्राप्त किये बिना कोई फिल्म दिखलाता है तो उस पर प्राथमिक तौर पर २५ डालर जुर्माना होता है।

इस समय जितनी भी फिल्म अमरीका मे बनती है, उन्हे इस बोर्ड के सामने भेजा जाता है। अवश्य जैसा कि बताया गया यह बोर्ड स्वय निर्माताओ का है इस कारण इस बोर्ड के होते हुए भी अमरीका मे उत्पन्न चित्र कला की दृष्टि से दुनिया मे सबसे निकृष्ट होते है। अवश्य इस गिनती मे भारत नही लिया जा रहा है, क्योकि उसका तो फिलम-जगत् मे उत्कृष्ट निकृष्ट किसी रूप मे भी स्थान नही है। हमारे फिलम-निर्माता और उच्च शिक्षित फिलम देखने वाले भी हालीवुड को अपना आदर्श समझ बैठे है, इसी कारण हमारे यहाँ का मानदड इतना निकृष्ट है।

पाश्चात्य जगत् मे इस सम्बन्ध मे एक अच्छा खासा आदोलन चल रहा है कि फिल्म-निर्माण पेशेवर लुटेरी प्रकृति के निर्माताओ पर न छोडा जायगा पर लोग इसका जो दूसरा विकल्प है, सरकारी नौकरशाही के नियन्त्रण मे इसे दे देना, उससे भी बचना चाहते है। इस कारण इस क्षेत्र मे जो कुछ होना चाहिए, वह हो नही पा रहा है। कोई सही मध्यम मार्ग निकाल नही पा रहा है। क्या यह आशा की जाय कि हमारे देश मे जहाँ सारी कर्म-शक्ति को कम-से-कम कुछ वर्षो तक नव-निर्माण मे लगाना है कोई ऐसी व्यवस्था निकलेगी जिससे फिलमो के मनोरजन तथा सौदर्य को कायम रखते हुए बल्कि बढाते हुए उन्हे लोक-शिक्षण के साधन के रूप मे परिणत किया जाय। इस सम्बन्ध मे जल्दी-से-जल्दी कुछ करने की आवश्यकता है, क्योकि फिल्म वालो की धीगा-धीगी बढती ही जा रही है।

२६

# साहित्यकार और राजनीति

बहुत सरसरी दृष्टि डालने वाले को भी यह पता लग जायगा कि हम एक क्रान्ति की गिरफ्त मे है ··एक ऐसी क्रान्ति, जो केवल हमारी सामाजिक राजनीतिक अट्टालिका के किनारो को खरोचकर ही दम नही लेगी, बल्कि जो शायद हमारे समाज का आमूल चूल परिवर्तन करे। भू भाग तथा अन्य बिषयो की दृष्टि से यह क्रान्ति बहुत सुदूर विस्तृत होगी। हम तो जैसे एक गिरि-गह्वर के मुख पर खडे है, और ऐसा मालूम होता है कि इस आसन्न अग्निकाड मे हमारी बहुत-सी मान्यताएँ, सस्थाएँ, विचार-धाराएँ, धर्म तथा कुसस्कार जलकर खाक हो जायँगे। इस क्रान्तिकारी परिस्थिति मे राजनीतिक कार्यकर्ता तथा साहित्यकार, जैसा जिससे बन पड रहा है, अपनी नाव खे रहे है। अवश्य सब अपनी-अपनी रोशनी, सस्कार, स्वार्थ तथा विचारो के अनुसार चल रहे है। यदि कोई यह कहे कि सब राजनीतिक कार्यकर्ता एक गिरोह मे है और सब साहित्यकार दूसरे गिरोह मे, तो यह सत्य का अपलाप ही होगा। ऐसे कथन से विचारो की शिथिलता ही जाहिर होती है।

इस बात को दिखाने के लिए इतिहास के हवाले देने की आवश्यकता नही कि राजनीतिक कार्यकर्ता और साहित्यकार बराबर एक दूसरे के विरोधी नही थे, बल्कि उनका काम मिल-जुल कर चलता रहा है। सभी युगो मे इनमे से कुछ प्रगतिशील और बाकी प्रतिक्रियावादी राजा, अधिनायक, नेता हमेशा से यह चाहते रहे है कि उन्हे दार्शनिको, कवियो, पुरोहितो और साहित्यकारो का समर्थन प्राप्त हो, और ऐसा तो नही सुना गया कि उन्हे कभी निराशा हुई हो। इसी के साथ सभी युगो मे···विशेषकर क्रान्ति के पहले के युगों मे··· एसे दार्शनिक, कवि तथा साहित्यकार थे, जो गतानुगतिक व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का नारा बुलद करते रहे और यह कहने का साहस रखते थे कि ऐसा नही और ऐसा हो।

यद्यपि लोग भारतीय इतिहास के वैदिक युग के विषय मे बहुत कम जानते है, फिर भी उसके सम्बन्ध मे कहते फिरते है कि वह इतिहास का एक आदर्श सतयुग था। वर्तमान लेख मे गुन्जाइश नही कि इस आदर्श युग वाली धारणा की पूरी छान-बीन की जाय। मै केवल इतना ही दिखलाऊँगा कि उस आदर्श युग मे भी कवि तथा दार्शनिक, जिन्हे ऋषि का दर्जा दिया गया था, धन तथा शक्ति से खरीदे जाते थे और वे अपने दाताओ का स्तुति-गान किया करते थे। ऐसा करने मे वे वस्तुस्थिति से बिलकुल दूर रह जाते थे। उनकी कविता धार्मिक थी, इस कारण उसके द्वारा जनता को गुमराह करना और भी आसान था।

अब हम सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् डॉक्टर विटरनिट्ज से उद्धृत करेगे। वे एक आस्ट्रियन है और समाजवाद से शायद उतने ही दूर है, जितने चर्चिल। वे वैदिक कविता के सम्बन्ध मे लिखते है" कुछ तो विजय-गीत है, जिनमे इन्ही की प्रशसा है, क्योकि उन्होने राजा को शत्रुओ पर विजय पाने के लिए सहायता की है। देवता की स्तुति के साथ-साथ राजा की गौरव-गाथा को एक करके दिखाया गया है। अन्त मे ऋषि अपने दाता का जय-गान करते है, जिसने उन्हे युद्ध की लूट से गोधन, अश्व तथा सुन्दर दासियाँ दी है। साथ ही कविता मे कुछ भद्दे, अश्लील मजाको मे उस सुख का भी वर्णन किया गया है, जो कवि को दान मे प्राप्त हो रहा है। दूसरी कविताएँ सुदीर्घ यज्ञ-सम्बन्धी गाने है (हमे ऐसा मालूम होता है कि कविता जितनी ही लम्बी होती थी, कवि को थैली भी ही उतनी मोटी दी जाती थी)। ये कविताएँ भी इन्ही को सम्बोधित करके कही गई है। ऐसा मालूम पडता है कि किसी राजा या सेठ के अनुरोध पर किसी खास मौके पर गाए जाने के लिए ये प्रस्तुत की जाती थी। ये यज्ञ मे गाई जाती थी। इनके अन्त की ओर यज्ञकर्ता की प्रशसा की जाती थी, यह इस कारण कि वह कवि को मोटी रकम दे रहा है। इन दान-स्तुतियो मे धर्मात्मा दाता का नाम अवश्यमेव उल्लिखित रहता है और किसी-न-न किसी ऐतिहासिक घटना का भी उनमे जिक्र रहता है। शेषोक्ति कारण से वे बहुत महत्त्वपूर्ण है। पर कविता के रूप मे इसमे सन्देह नही कि ये दो कौडी की है। ये आर्डर पर मजदूर सरीखे कवियो द्वारा लिखी गई है, या कितना मिलेगा, इसी को ध्यान मे रखकर लिखा गया है।

"दान स्तुति से सम्बद्ध न होने पर भी ऋग्वेद की कुछ अन्य ऋचाओ के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि वे भी समान रूप से मजदूरी करने के ढग से लिखी गई है। कभी-कभी वैदिक गायक स्वय अपनी रचना की तुलना बढ़ई के कार्य से करता है। फिर भी यह ध्यान देने योग्य है कि उन ऋचाओ

का, जिनमे कुछ कवित्व की छटा है, दान-स्तुति द्वारा अन्त नही किया गया है। इस पर भी ओल्डेनवर्ग साधारण रूप से सारी ऋग्वेदिक कविता के सम्बन्ध मे कहते है ""न तो यह कविता सौन्दर्य की सेवा मे अर्पित है और न यह धर्म आत्मा को ऊपर उठाता है या उसे आलोक प्रदान करता है, बल्कि इन दोनो का उद्देश्य वर्गहित की सेवा तथा अर्थोपार्जन है।"

विटरनिट्ज ने १०।११७ ( ऋक्० ) का विशेषकर उल्लेख किया है। इसके सम्बन्ध मे वे कहते है कि यह विशेष करके इस कारण उल्लेखनीय योग्य है कि इसमे एक नैतिक अन्तर्धारा है, जो ऋग्वेद के लिए अपरिचित है। वे इसी प्रसग मे कहते है कि 'ऋग्वेद सदाचार की पाठ्य पुस्तक के अलावा और चाहे जो कुछ भी हो है।' विटरजिट्ज उक्त दीर्घ कविता का अनुवाद भी देते है। इसमे दान की महिमा गाई गई है। पर इसमे ऐसी-ऐसी पक्तियाँ है, जिनकी केवल एक ही व्याख्या की जा सकती है, कि वे जनता के लिए सान्त्वना के रूप मे है। जनता की आँखो को खोल देने के बजाय वे जनता के लिए अफीम की तरह है। इनमे की प्रथम पक्तियो का अनुवाद यो है ""देवतागण भूख का उपयोग मारने के साधन के रूप मे नही करते, परितृप्त लोग भी समान रूप से मरते रहते है।' इस कविता का स्पष्ट आशय भूख से मरने वाले लोगो को सान्त्वना देना है, और वैदिक युग मे ऐसे लोगो की अच्छी सख्या थी, जैसा कि वैदिक साहित्य मे उनके उल्लेखो से ज्ञात होता है। इस कविता का उद्देश्य गरीबो मे एक तरह के उदासीनतापूर्ण अदृष्टवाद उत्पन्न करके उन्हे जीवन के तथ्यो के प्रति अन्ध बना देना है।

इस दीर्घ कविता की अन्तिम पक्तियाँ यो है ' 'यद्यपि हाथ बराबर होते है, पर उनके काम बराबर नही होते। दो बहन गाएँ कभी भी बराबर दूध नही देती, बालको का बल असमान होता ह, रिश्तेदारो के दिये हुए उपहार भी तो बराबर नही होते।' इस कविता मे बडी सफलता के साथ बहुत थोडे मे उसी बात को कहा गया है, जिसे हमारे युग के बडे-बड़े वर्ग दार्शनिक पोथो मे नही कह पाते। मै यह समझता हूँ, वैदिक वर्ग दार्शनिक के कहने का ढग बहुत परिणामोत्पादक है। क्यो न होता, क्योकि इसमे उन उपमाओ से काम लिया गया है, जिन्हे साधारण व्यक्ति बखूबी समझते है। वैदिक कवि का कहना है है कि समान तो प्रकृति का नियम ही नही है। इसलिए यदि एक भूखो मर रहा है और दूसरा ऐश्वर्य के गद्दे पर पडा है तो इसमे कोई आश्चर्य करने की बात नही है। यह बिलकुल स्वाभाविक है।

वैदिक युग के बाद के सारे ऐतिहासिक युगो में पुरोहितगण ही बौद्धिक नेता

दार्शनिक तथा ऋषि रहे। यद्यपि अपने आध्यात्मिक प्रवचनो मे ये लोग प्राणि-मात्र की समानता का पाठ पढाते थे, पर ऐहिक व्यावहारिक जगत् मे वे ऐसी समानता से कोसो दूर रहते थे। इन्ही ऋषियो ने जो नियम तथा कानून बनाए, वे ही स्मृतियो तथा सहिताओ के रूप मे बन गए। पर इनमे एक ही अपराध के लिए सबके लिए एक ही सजा का विधान करने के बजाय जाति की उच्चता तथा नीचता के अनुसार सजा बताई गई है। डॉ० भूपेन्द्रनाथ दत्त लिखते है····"धर्मशास्त्रो मे कानून तथा सजा के मामले मे क्षत्रिय तथा वैश्य ब्राह्मण से बुरे रहे, पर फिर भी वे इतने बुरे नही रहे, जितने शूद्र रहे। द्विजो मे भी क्षत्रियो तथा वैश्यो के मुकाबले मे ब्राह्मणो के साथ जो भेद-भाव बरतने का विधान है, वह बहुत ही अजीब है। शास्त्रो मे कैसा क्या है, इसके थोडे से उदाहरण लीजिए·· ···

"यदि एक क्षत्रिय या वैश्य ब्राह्मणी से गमन करे, तो वह यदि एक मास तक गो-मूत्र तथा यव पर रहे, तो वह शुद्ध होगा। (याज्ञवल्क्य सहिता, १६७)

"यदि निम्नतर जाति की स्त्री से गमन किया जाय, तो उसमे कोई दोष नही लगता, अन्यथा सजा भुगतनी पडेगी। यदि उच्चतर वर्ण की स्त्री से गमन किया जाय, तो उसके लिए मृत्यु ही दड है। (वही २९१)

"अर्थात् वर्णो की श्रेष्ठता के अनुसार सजा मिलेगी। मनुष्य ब्राह्मण का अन्न खाकर दरिद्र होगा, क्षत्रिय का अन्न खाकर पशु होगा, वैश्य का अन्न खाकर शूद्र होगा और शूद्र का अन्न खाकर तो नरक ही होगा। (आगिरस सहिता, ५६)

"जो पेट मे ब्राह्मण का भात लेकर मरता है, उसे अमृत की आवश्यकता होती है। कायस्थ का भात खाकर मरे, तो वह अगले जन्म मे दरिद्र होता है। वैश्य का भात खाकर मरे, तो उसे फिर शूद्र का भात खाना पडता है, (आत्रेयी सहिता, ६७)

"यदि ब्राह्मण चडालान्न या गोमास भोजन करे, तो वह एक गौ दान मे दे, क्षत्रिय दो, वैश्य तीन और शूद्र चार दे। (पराशर सहिता, १-३)

"ब्राह्मण के अलावा अन्य कोई भी महापातक करे, तो उसे मृत्यु-दड मिले। ब्राह्मण के लिए कोई शारीरिक दड नही है। (विष्णु सहिता, ५-१।२)

"यदि क्षत्रिय ब्राह्मण की निन्दा करे, तो उस पर एक सौ पणस जुर्माना हो, वैश्य करे, तो एक सौ पचास या दो सौ हो, शूद्र करे, तो उसे शारीरिक दड मिले (मनु सहिता, ८।२६७)

"यदि ब्राह्मण क्षत्रिय की निन्दा करे, तो उस पर ५० पणस, वैश्य की करे,

तो २५ पणस, शूद्र की करे, तो १२ पणस जुर्माना होगा। (वही, २३८)"

ऊपर दिये हुए उद्धरणो से साफ है कि उस युग के बौद्धिक नेता हमेशा गतानुगतिकता का समर्थन करते थे और सारी प्रतिभा लगाकर उसी का राग अलापते थे। यदि हम इससे भी आधुनिक समय के इतिहास मे आयें, तो हमे यही धाँधली दृष्टिगोचर होगी। इसलिए जब सारे साहित्यिको की तरफ से यह दावा कोई करता है कि वे शहीद है और उनके सिर पर काँटों का ताज है तथा राजनीतिक कार्यकर्त्ता सब-के-सब पतित है, तो मुझे ऐसे विचार बहुत छिछोरे ज्ञात होते है।

अवश्य ही इसका एक उज्जवल पहलू भी है। वैदिक युग मे बृहस्पति ऐसे दार्शनिक थे जो प्रचलित विचारो के विरुद्ध मत रखने का साहस रखते थे। दुर्भाग्य तो यह है कि हम ऐसे विद्वानो के सम्बन्ध मे बहुत कम जानते है। बृहस्पति, चार्वाक तथा अन्य स्वाधीनचेता नेताओ की रचनाओ को ऐसी सफलता के साथ दबा दिया गया कि हमारे युग के हिटलर और तोजो उन दबाने वालो से कुछ सीख ही सकते थे। ये ही स्वतन्त्र दार्शनिक तथा कवि हमारे यहाँ के प्रथम वैज्ञानिक थे। इन्होने साहसपूर्वक यह सोचा तो सही कि जगत् की उत्पत्ति भौतिक है। यहाँ पर मै यह बता दूँ कि गाधी जी तथा दूसरो की कल्पना के राम राज्य का इतिहास मे कोई अस्तित्व नही है। जैसा कि एक सामन्तवादी समाज के लिए स्वाभाविक था, वर्ग भेद बहुत तीव्र थे और इन्हे कायम रखने के लिए सब कुछ किया जाता था। हमारे कुछ दार्शनिक तथा अध्यात्मवादी यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते रहे है कि मनु सहिता एक आदर्श कानून की किताब है। हम देख चुके है कि यह दावा बिलकुल गलत है और इसमे सत्य का कोई अश नही है।

पूँजीवाद के अभ्युदय के समय से शासक वर्ग यानी पूँजीवादी वर्ग ने भी बडी तत्परता के साथ अपने विशेषाधिकारो की रक्षा की है, पर उनमे इतनी गैरत तो रही कि उन्होने अपने कानून की किताबो मे राजा और रक को समान दिखलाया है। अवश्य व्यवहार मे यह समानता कभी भी कार्यान्वित नही होती, क्योकि गरीब और अमीर समान रूप से सब सुविधाओ का उपयोग नही कर पाते। एक ही मामले मे फँसने पर भी गरीब कोई वकील नही कर पाता, पर अमीर अच्छे-से-अच्छे वकील को नियुक्त कर सकता है। ऐसा होते हुए भी कभी-कभी शासक वर्ग को कानूनी समानता के ढोग को कायम रखने के लिए अपने वर्ग के एक-आध व्यक्ति को बलिवेदी पर चढा देना पडता है।

स्पष्ट है कि साधारणतः बुद्धजीवी वर्ग ने जनता के साथ धोखा किया है।

मै इस महान् विश्वास-घात के लिए इन बुद्धिजीवियो को विशेष दोष नही देना चाहता, क्योकि यह विश्वास-घात भी वर्ग समाज का एक अग है। अपने शासन को आराम से चलाने के लिए शासक वर्ग हमेशा दार्शनिको, लेखको, कवियो को खरीद लेता है। यदि यही इस समय भी हो रहा है, तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही। पर जैसा कि मैने कई बार इगित किया, सौभाग्य से कुछ ऐसे साहित्यकार भी मौजूद रहते है, जो शक्ति आरूढ लोगो का लगान लेने से इन्कार करते है और अपने ही मार्ग पर चलते जाते है। ये लोग बौद्धिक रूप से वृद्धिशील वर्ग के प्रतिनिधि है, यानी उन लोगो के प्रतीक है जिनके हाथो मे भविष्य है।

प्रगतिशील झुकाव वाले साहित्यिको को यह समझना चाहिए कि वे नव निर्माण मे क्या हिस्सा अदा कर सकते है। अवश्य ही उनका दान बहुत बडा हो सकता है; पर उन्हे मगरूर होकर यह नही सोचना चाहिए कि वे ही सब कुछ है, और वे दूसरो का पथ-प्रदर्शन करेगे, या जब दूसरे गुमराह हो तो उन्हे राह मे लायँगे। इस तरह का दावा निरर्थक है, और जितना शीघ्र वे इस तरह के तीसमारखाँ और हम बडा विचारो से मुक्त हो जायँ, उतना ही साहित्य के लिए कल्याणप्रद है। यदि हम अपने देश की मुक्ति के बिलकुल ताजे इतिहास मे जायँ, तो हमे ज्ञात होगा कि साहित्यिको का हिस्सा राज-नीतिक कार्यकर्त्ताओ के हिस्सो से काफी निकृष्ट रहा है। फिर भी साहित्यकार उनका मजाक उडाते है। अवश्य वे ऐसा सोचकर आत्म-प्रसाद पा सकते है कि महात्मा गाधी, पडित नेहरू, राजेन्द्र बाबू, सुभाष बाबू ने कुछ पुस्तके लिखी, इस कारण वे साहित्यिक है और इसलिए देश की मुक्ति मे साहित्यिको का प्रधान हिस्सा है। यह सब प्रचार कार्य के तौर पर अच्छा है, आत्म प्रतारण के लिए भी अच्छा है, पर सत्य तो यह है कि कुछ पत्रकारो के हिस्से के अलावा, जिन्हे ऊँचे साहित्यकार कुछ गिनते ही नही, हमारे देश की मुक्ति मे साहित्य-कारो का कोई विशेष हिस्सा नही रहा। प्रेमचन्द भी अपने कैमरे को लेकर आन्दोलन के पीछे चले, आगे नही।

साहित्यकारो को यह समझना चाहिए कि दूसरे क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओ के साथ-साथ वे भी मनुष्य के शोषण से मुक्त समाज को लाने के लिए अपने ढंग से तथा अपने साधनो से सग्राम कर रहे है। उन्हे चाहिए कि वे स्पष्ट विचार रखे। उन्हे इस प्रकार के वाक्याशो का व्यर्थ प्रयोग नही करना चाहिए, जैसे एक मे अनेक और अनेक मे एक। उन्हे चाहिए कि विचारो का सरलीकरण करे और उलझे हुए विचारो को खाहमखाह और भी उलझावे नही। जनता

की सच्ची सेवा मे समर्थ होने के लिए साहित्यकारो को समाज यंत्र का वैज्ञानिक-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। जैसा कि बुखारिन का कहा है"'समाज केवल मनुष्यो का जमाव-मात्र नही है। समाज मनुष्यो का ऐसा समूह है, जिनका आपस मे क्रियाशील सम्बन्ध है, साथ ही जिनकी प्रकृति के साथ सक्रिय, सामूहिक, व्यावहारिक, पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया भी है। इस प्रकार मनुष्य+मनुष्य+मनुष्य नही है, यह मनुष्य×मनुष्य×मनुष्य है। मनुष्यो का केन्द्रीय समूह तो है, पर इसके साथ ही उसकी वस्तुगत व्यावहारिक क्रिया-प्रतिक्रिया है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य तथा परिस्थितियाँ बराबर बदलती रहती है। इस कारण द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी के मत मे न तो समाज को व्यक्तियो की अनेकता मे खो डालना है और न व्यक्तियो की बहुलता तथा विविधता को समाज की एकता मे खो डालना है। 'समाज का अपना एक गतिशास्त्र है, जो एक तरफ तो प्रकृति से तथा दूसरी तरफ व्यक्ति से मिलाता है, पर वह उनसे पृथक् तथा भिन्न है। उनके साथ इनका सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक है, न कि यात्रिक।"

कुछ साहित्यकार, जिनको समाज के गतिशास्त्र के बसत की खबर भी नही है, कहते फिरते है कि साहित्यकार का उपजीव्य व्यक्ति है, जब कि राजनीतिक लोगो का उपजीव्य समाज है। यह वर्गीकरण सम्पूर्ण रूप से धाँधलेबाजी से भरा हुआ है और इससे साहित्य और राजनीति दोनो का अज्ञान सूचित होता है। ऐसे साहित्यिको को, जिनको सबेरे के अखबार से राजनीति का परिचय होता है, ऐसा मालूम पडता है कि राजनीतिक नेतागण केवल भीडो से ही सम्बन्ध रखते है। पर ऐसा मालूम होना गलत है। लेनिन, गाधी, नेपोलियन, हिटलर या अन्य किसी भी छोटे या बडे मनुष्यो के नेता या बहकाने वाले को लीजिए। वे अवश्य ही लाखो को चलाते है, पर उनके निजी कमरे मे जाइए, तो आप उन्हे व्यक्तियो को समझाते-बुझाते, दर्शन देते पायँगे। वे यहाँ अपने झगडते हुए लैफ्टिनेण्टो के झगडे मिटाते है, उनकी खाम खयालियो, उच्चाकाक्षाओ और मूर्खताओ के प्रति ऊपरी तौर पर रियायत करते हुए भी अपनी ही बात उनसे करवाने की चेष्टा करते है। अपने कमरे मे राजनीतिक नेता प्रत्येक व्यक्ति से व्यक्ति रूप मे मिलता है। कोई भी नेता तब तक महान् नेता नही हो सकता, जब तक उसके लेफ्टिनेण्ट महान् न हो। जो नेता अपने लेफ्टिनेण्टो मे व्यक्तिगत रूप से मिल नही सकता, वह नेता बन ही नही सकता, और यदि बन जाय, तो टिक नही सकता। सफल राजनीतिक नेता वही है, जो जनता को और साथ ही व्यक्तियो को सही

नेतृत्व दे सकता है या उन्हे बहका सकता है। यह समझना कि राजनीतिक नेता को केवल समूह से काम पडता है व्यक्ति से नही, एक अज्ञ व्यक्ति या मूर्ख के लिए ही उपयुक्त है, जिसे कुछ पता ही नही है। दूसरा विचार भी समान रूप से मूर्खतापूर्ण है कि साहित्यकार, उपन्यासकार या कवि केवल व्यक्ति को लेकर चलता है। पहली बात तो यह है कि एक व्यक्ति का कोई साहित्य नही हो सकता। साहित्य जब होगा, तो व्यक्तियो को लेकर। यहाँ तक कि यदि कोई व्यक्ति छिपाकर अपने लिए डायरी लिखे और खुद ही पढे, तो भी उसमे अन्य व्यक्तियो के साथ उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया का ही वर्णन होगा। हमारे ये व्यक्ति-सर्वस्व साहित्यकार नही जानते कि भाषा स्वय एक सामाजिक उपज है। भाषा अपने भाव दूसरे पर व्यक्त करने के लिए है, और भाषा के बिना कोई साहित्य नही हो सकता।

राबिन्सन क्रूसो करीब-करीब एक व्यक्ति का चरित्र है, फिर भी उसके लेखक ने उसे यह समझकर लिखा है कि इसे पढने वाला पूरा समाज है। यह बडे ही दुःख की बात है कि हमारे कुछ साहित्यिक यही नही जानते कि उन्हे क्या करना है। यह बात सही है कि उपन्यास, नाटक आदि मे व्यक्तियो का वर्णन होता है, पर कैसे व्यक्ति ? ऐसे, जिनका समाज से सजीव सम्बन्ध है चाहे वह सम्बन्ध खुला हो या छिपा। यदि कोई सृजन करने का इच्छुक कलाकार इस ढाँचे को न समझ पाय और यह न जान पाय कि समाज मे व्यक्ति का क्या स्थान है, तो वह कभी सफल नही होगा। अवश्य यह जरूरी नही कि वह अपने अनजान मे ही इस विषय का ज्ञान रखता हो। पर यदि किसी को इस विषय की सज्ञान जानकारी हो, साथ ही वह कलाकार भी हो तब तो सोने मे सुहागा रहेगा।

उपन्यासकार व्यक्तियो को लेकर चलता है, पर जैसा कि शहीद कलाकार राल्फ फाक्स ने बडे मार्मिक ढग से लिखा है" प्रत्येक मनुष्य के मानो दो इतिहास है, क्योकि वह साथ ही एक टाइप है, यानी सामाजिक इतिहास से युक्त एक आदमी है और दूसरी तरफ व्यक्तिगत इतिहास से युक्त एक व्यक्ति है। अवश्य ये दोनो, भले ही उन दोनो मे तीव्र विरोध हो, एक है, यानी एक इकाई के रूप मे है, जहाँ तक कि शेषोक्त प्रथमोक्त पर निर्भर है, यद्यपि इसका अर्थ यह न तो है, न होना चाहिए कि कला मे सामाजिक टाइप उस विशेष व्यक्तित्व पर हावी रहे। फालस्टाफ, डान क्विक्साट, टाम जोन्स, जूलियट सरेल, मोशिए द शार्लस ये सभी चरित्र टाइप है, पर जिनमे सामाजिक विशेषताएँ बराबर व्यक्ति को उद्घाटित करती है तथा जिनमे सामाजिक

आशाए भूख, प्रेम, ईर्ष्या, उच्चाकाक्षाएँ अपनी बारी मे सामाजिक पृष्ठभूमि को आलोकित करती रहती है । उपन्यासकार तब तक व्यक्ति की कहानी नही लिख सकता, जब तक कि उसके मन मे समग्र ही स्पष्ट धारणा न हो । उसे यह समझना चाहिए कि उसका अन्तिम परिणाम किस प्रकार उसके वैयक्तिक सघर्षो से उद्भूत होता है । साथ ही उसे यह भी समझना चाहिए कि जीवन की वे कौन-सी विविध परिस्थितियाँ है, जिनसे एक व्यक्ति वैसा या वैसी हुआ या हुई है, जैसा कि वह इस समय है । 'जो निकला, उसे किसी ने नही चाहा था'...एजेल्स के ये शब्द किस प्रकार कला के प्रत्येक महान् कार्य का एक खाका सा खीच देते है, और कितनी अच्छी तरह यह जीवन के ढाँचे को व्यक्त करता है, क्योकि प्रत्येक ऐसी घटना के पीछे, जिसे किसी ने नही चाहा था, एक ढाँचा तो है ही ।"

यह स्वय साहित्यकारो के ही हक मे होगा कि वे समाज के विराट ढाँचे मे अपने वास्तविक स्थान को समझे । साहित्यकार का काम ऐसा है कि उसे अधिक ख्याति प्राप्त होती है, पर इस कारण वह अपनी दुम को मोटी करके यह न करे कि आधी मे तो उसकी लिखाई है और बाकी मे सारी खुदाई है, या वही भविष्य का स्थपति है । जैसा कि पहले ही स्पष्ट दिया जा चुका है, भविष्य के स्थपतियो मे होने के लिए यह जरूरी है कि साहित्यकार के विचार उदार हो । सकुचित तथा प्रतिक्रियावादी कलाकार, चाहे उसे कितनी भी सफलता मिले, भावी समाज के स्थपतियों मे परिगणित नही हो सकता । वैज्ञानिक, शिक्षक, राजनीतिक कार्यकर्ता, भास्कर, डॉक्टर, इतिहास मे सबका अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है इतना महत्त्वपूर्ण स्थान कि ऊँचे दर्जे का अच्छा लेखक उसी दर्जे के एक वैज्ञानिक या राजनीतिक कार्यकर्ता से बढकर होने का दावा नही कर सकता । इसलिए यह विचार कि साहित्यकार दूसरो को भटकने से बचायँगे, सरासर मूर्खतापूर्ण है । हमे ऐसे दावेदारो से कहना है कि डॉक्टर, पहले अपना इलाज तो कर लो । क्या यह बात सत्य नही है कि समसामयिक सारे प्रचार-कार्य पर एकाधिकार वाले लोग भी बाद मे इतिहास के कूडेखाने मे पटक दिए गए और आज उनका 'नाम लेवा पानी देवा' कोई नही है ।

अवश्य यहाँ साहित्यकारो को फिर चेता दूँ, ऐसा राजनीतिक लोगो और साथ ही साहित्यिको के लिए भी सत्य है । राजनीति मे नकली नेता और वीर होते है, तो साहित्य मे भी बाघ की खाल ओढे हुए गदहो की कमी नही है, जो परस्पर प्रशंसा करके भोले पाठको को उल्लू बनाया करते है । मै साहित्यकारो से यह नही कहता कि वे अपने हस्तीदत-निर्मित मीनारो मे कैद रहे । मै तो

उनसे इनके विपरीत ही कह रहा हूँ। मै तो उनसे यह कह रहा हूँ कि अपनी कला के लगोट के प्रति सच्चा रहकर वे युग निर्माण के अखाडे मे कूद पडे, और यदि किसी कारण से वे समझते है कि उनका साधन अयथेष्ट है, तो वे लेखनी को छोडकर और किसी अस्त्र को अपनावे । पर यह रोने के रूप मे दूसरो के पथप्रदर्शक न बने । दिल मे तो ये अपनी हीनता को खूब समझते है, पर ऊपर से अकड दिखाते है कि आओ, हम तुम्हे शिक्षा दे । सच तो यह है कि ऐसे लोगो के पास देने को कुछ नही है, तभी वे देते फिरते है। पहले तो वे इस योग्य बने, फिर कामना करे। बढ-बढकर बाते करने से साहित्यकारो के पल्ले कुछ नही पडने का यदि वे गोर्की जैसे साहित्यकार पैदा करे, तो लेनिन-जैसे व्यक्ति सम्मान के साथ उनकी बाते सुनेगा। वे रवीन्द्र-जैसे साहित्यकार पैदा करे, तो गान्धीजी, नेहरू और पटेल उनसे पथ-प्रदर्शन, शाति तथा सत्सग की इच्छा करेगे। बर्नार्ड शा-जैसे साहित्यकार पैदा करे, तो चर्चिल भी उनसे काँपेगे । इसलिए मेरा यही नम्र निवेदन है कि साहित्यकार प्रवचन करते हुए मारे-मारे न फिरे । वे अच्छी चीजे लिखे । फिर उनकी कौन नही सुनेगा ?

३०

# अतीत का मोह

अतीत तथा अतीत की वस्तुओ की तथा व्यक्तियो की पूजा कुछ लोगो मे इतनी मज्जागत हो गई है कि कोई और बात उनके दिमाग मे नही घुसती। उनके निकट कोई स्वर्णयुग या सत्ययुग है तो वह भूतकाल मे ही है, वह कल्पित स्वर्णयुग उनके लिए वह कसौटी है, जिस पर कि वे वर्त्तमान, यहाँ तक कि भविष्य को भी कूतते रहते है।

यह बात सच है कि हम चाहे या न चाहे, एक हद तक अतीत हमारे साथ है, और हम कितना भी प्रयत्न करे, उसे सपूर्ण रूप से हटा नही सकते। वह तो हमारी धमनियो मे रक्त के रूप मे प्रवाहित है। मै तो यहाँ तक समझता हूँ कि सब प्रकार से अतीत से छुटकारा पा लेना या उससे मुक्त हो जाना न तो हमारा ध्येय है, और न हो सकता है। मनुष्य रूप मे हमारी श्रेष्ठता यही है कि हम अतीत की अभिज्ञताओ से लाभवान् हो सकते है, जबकि इतर प्राणी नही हो सकते या हो सकते है तो बहुत कम दर्जे तक।

हमारे ज्ञान, विज्ञान के किसी भी अश को लिया जाय, तो हमे ज्ञात होगा कि भूतकाल के प्रयोगो, कार्यो और घटनाओ पर निर्माण करने की शक्ति मे ही हमारा बडप्पन निहित है। एक पुश्त ज्ञान के सूत्र को जहाँ छोड जाती है, यदि अगली पुश्त उस सूत्र को वही से आगे लेकर आगे जाने की सामर्थ्य नही रखती, तो आज हम नियाँडरथाल के मनुष्य से कुछ उन्नत न होते। इसलिए जब यह कहा जा रहा है कि हम अतीत के दास नही रहना चाहते, तो इसका केवल इतना ही अर्थ है कि हम अतीत को अतीत समझते है, और उस पर आगे चलने, प्रगति करने, उन्नति करने का हौसला रखते है।

जब देखो तब रामायण, महाभारत, वेद की हाँकना अच्छा नही मालूम होता। अवश्य ही हम इन महान् ग्रथो की कद्र को अच्छी तरह समझते है। वे हमारे इतिहास के अविच्छेद्य अग है। हम किसी भी प्रकार से उनके महत्त्व को अस्वीकार नही करते, पर जब हमे प्रकारातर से यह समझाने की चेष्टा की जाती है कि जो कुछ भी उत्कर्ष था, वह पहले के युगो मे था, और अब

हम कुछ नही है, तो हमे इस पर आपत्ति होती है। हमारा कहना यह है कि हमारे पूर्वज महान् थे, पर हममे महत्तर सभावनाएँ है।

यह जो विचार-शैली है, जिसमे यह समझा जाता है कि हमे किसी अतीत युग के विचारो तथा व्यवस्थाओ से परिचालित होना चाहिए, सर्वथा वर्जनीय है। महात्मा गाधी ने रामराज्य के रूप मे जो आदर्श रखा है, उसके गुण-दोष के विचार का स्थल यह नहीं है, पर इसमे सदेह नही कि उन्होने इस प्रकार हमारे अतीत के एक युग विशेष को अनुकरणीय, माननीय तथा ध्येय के रूप मे रखा है। प्रत्येक उच्च आदर्श के लिए किसी-न-किसी प्रकार के यूटोपिया की कल्पना आवश्यक समझी गई है। हमे इस तरीके से कोई झगडा नही है यानी तब तक झगडा नही है जब तक कि वह वास्तविकता से दूर न हो जाय या जब तक कि वह हमे वास्तविकता से मुँह मोड लेने के लिए विवश न करे।

रामराज्य गाधीवाद का यूटोपिया है। हमे दो प्रधान कारणो से इस पर आपत्ति है। पहला कारण तो यह है कि अतीत के एक ऐतिहासिक युग को हमारा ध्येय या आदर्श बताया है। दूसरे शब्दो मे ऐसा आदर्श रखने का तात्पर्य यह है कि विकासवाद के सर्वमान्य सिद्धात को इस प्रकार से मान्यता नही दी जा रही है। किसी भी रूप मे यह कल्पना करना कि हजारो वर्ष पहले मनुष्य जाति अब से अच्छी थी या अच्छी अवस्था मे थी, यह प्रकट करता है मानो इस बीच मे हमारी कोई प्रगति हुई ही नही। अन्य वादो की तरह गाधीवाद मे भी यूटोपिया हो, केवल इतने मे हमे कोई आपत्तिजनक बात दिखाई नही देती, पर जब उसके साथ यह कहा जाता है कि किसी प्रागै-तिहासिक युग मे, चाहे वह रामराज्य हो चाहे मुहम्मदराज्य हो, हम सभ्यता तथा सस्कृति के उच्चतम सोपान मे थे, तो हमे इस पर बहुत आपत्ति होती है।

## *राम और उनका रामराज्य*

हमे रामराज्य के यूटोपिया पर दूसरी आपत्ति जिस कारण से है, वह बहुत ही सरल है। वह आपत्ति यह है कि जिस रूप मे रामराज्य बताया जाता है, उस रूप मे रामराज्य का इतिहास मे कोई अस्तित्व नही है। भारतीय प्राचीन साहित्य का क ख ग जानने वाले इस बात को अच्छी तरह जानते है कि ऋग्वैदिक युग मे ही यहाँ अच्छी तरह वर्ग समाज का उदय हो चुका था। इस कारण वर्ग समाज की जो भी विशेषताएँ थी, उस युग मे उनका उदय था। स्वय वाल्मीकि ने रामराज्य का जो चित्र खीचा है, वह अन्य

राजाओ के मुकाबले मे कुछ अधिक प्रशसात्मक नही है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर कोई अधार्मिक विचारो के व्यक्ति नही थे। उन्होने सस्कृत साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। वह राम-चरित्र के विषय मे लिखते है :

"युद्धकाड तक रामायण मे राम का जो चरित्र दृष्टिगोचर होता है, उस मे भलाइयाँ भी है, बुराइयाँ भी है, आत्मखडन भी है, और यथेष्ट कमजोरियाँ भी है। यद्यपि राम प्रधान नायक है, फिर भी श्रेष्ठता के किसी काल-प्रचलित बँधे-बँधाए नियम के अनुसार उन्हे अस्वाभाविक रूप से सुसगत करके पेश नही किया गया है, अर्थात् किसी एक शास्त्रीय मत के त्रुटिहीन प्रमाण के रूप मे उन्हे पाठको की अदालत मे गवाह बनाकर खडा नही किया है। पितृ सत्य की रक्षा के लिए उत्साह के कारण उनके पिता का जो प्राणनाश हुआ, वह भले ही शास्त्रीय रूप से समर्थन योग्य बताया जाय, पर बालि का वध किस नीति से उचित है ? इसके बाद विशेष उपलक्ष्य पर रामचन्द्र ने सीता के सम्बन्ध मे लक्ष्मण पर जिस वक्रोक्ति का प्रयोग किया था, उसमे भी श्रेष्ठता का आदर्श कायम नही रहा। रामायण के कवि ने किसी एक मत की सगति के तर्क को लेकर राम के चरित्र का निर्माण नही किया यानी वह चरित्र स्वाभाविक है, वह चरित्र साहित्य का है, पर वह चरित्र वकालत का नही।"

पर रामराज्य भी कल्पना मे राम के चरित्र तथा राम के राज्य-शासन को एक मत विशेष की वकालत का साधन बनाने की चेष्टा की गई है, और यह गलत है।

अब हम अपने मौलिक विषय पर लौटते है। हमे अपने पूर्व पुरुषो पर गौरव है, हमे अपने प्राचीन साहित्य पर नाज है, पर इस रूप मे नही कि हम उसी को भविष्य का एक-मात्र पाथेय बनायें। न तो हमारे पूर्व पुरुषो ने ही ऐसा किया और यदि हम प्रगति चाहते है, तो हम भी ऐसा नही कर सकते। हम रामराज्य, मुहम्मदराज्य या जो भी राज्य हो उससे सबक लेने के लिए तैयार है। पर उसकी बुतपरस्ती करना हमारे वश का नही है।

*स्थिर कुछ भी नही*

यदि हम अपने भूतकाल की तरफ जरा भी विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखे, तो हमे यह ज्ञात होगा कि हम जिन विचारो, सस्थाओ तथा रूढियो को शाश्वत और चिरतन समझते आ रहे है। इतिहास के एक विशेष सोपान मे उनकी उत्पत्ति हुई, और इसलिए यदि इतिहास के किसी अगले सोपान मे उनका विलय हो, तो हमे उस पर कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। प्रत्येक

विचार तथा सस्था का एक ऐतिहासिक तकाजा होता है, और उसके बाद उसका विलुप्त हो जाना स्वाभाविक है। जब ऐसा विलोप सामने आय तो उस पर आँसू बहा-बहाकर रोने की कोई आवश्यकता नही है।

एक बहुत ही शाश्वत समझे जाने वाले विचार को लिया जाय। हम नीति या सदाचार का नाम सुनते ही सेक्स या यौन सदाचार की बात सोचने लगते है, यद्यपि सच तो यह है कि यौन सदाचार सदाचार का एक अग-मात्र है। इस क्षेत्र मे आज जो मान्यताएँ है, वे हमेशा से नही है, और आज भी सब देशो मे उनका रूप एक नही है। अति आदिम युग मे विवाह-प्रथा नही थी। तब मातृ-गमन, पितृ-गमन, भगिनी-गमन, भ्रातृ-गमन आदि सभ्यता थी। ऋग्वैदिक युग मे हम मातृ-गमन युग से आगे बढ चुके थे, पर ऋग्वेद मे सगे भाई और सगी बहन के विवाह के बहुत से प्रमाण मौजूद है। अभी भी हिंदू तथा मुसलमानो मे बहुपत्नीत्व-प्रथा जारी है। सुधारक उसे बद नही कर पाए। हमारे पुरुष-प्रधान समाजो मे अब भी स्त्रियो और पुरुषो के लिए यौन सदाचार के भिन्न-भिन्न मानदड रखे गए है। इसलिए नीति तथा सदाचार की धारणा, जिसे लोग शाश्वत समझते है, कतई शाश्वत नही है— वह स्पष्ट है। उत्पादन-पद्धति मे स्त्री के महत्त्व मे वृद्धि या कमी के साथ-साथ यौन सदाचार का शिकजा उस पर कडा या नरम किया गया है।

एक अन्य शाश्वत विचार-धारा को लिया जाय। यद्यपि सब भारतीय धर्मो मे आत्मा का स्थान नही है, पर भारत मे उत्पन्न सभी धर्मो मे जन्मान्तर-वाद एक ऐसा विचार है जो सर्वमान्य है। आत्मा का अस्तित्व न मानते हुए भी किस प्रकार से बौद्ध और जैन धर्म कर्म को ही जन्मातरवाद का कारणीभूत समझते है, इसकी यहाँ पर व्याख्या करने की आवश्यकता नही है।

सब यही समझते है कि जन्मान्तरवाद की यह धारणा बहुत ही प्राचीन, यहाँ तक कि शाश्वत है। पर ऐसी कोई बात नही जैसा कि विटर नीट्ज ने तथा अन्य विद्वानो ने लिखा है। स्वय ऋग्वेद मे जन्मान्तरवाद का कोई पता नही है। विटरनीट्ज का कहना है.

"आत्मा की पुनर्जन्म-प्राप्ति तथा पुनर्जन्म-सम्बन्धी जो दु.खात्मक विश्वास है, और जो विश्वास बाद की सदियो के दार्शनिक विचारो पर सपूर्ण रूप से नियत्रण सा करता है, ऋग्वेद मे उसका कही भी पता नही मिलता।" विटरनीट्ज इससे यह उपसहार निकालते है कि बाद के भारतीय साहित्य तथा अति प्राचीन वैदिक साहित्य के अन्तर्गत विचार इसीलिए बिलकुल भिन्न है।

हिन्दू धर्म का इतिहास तो बहुत बडे परिवर्तनो से भरा पडा है। वेदो म जिस धर्म का प्रतिपादन है, उसे प्राकृतिक धर्म कहा गया है। उस युग मे आर्यो को परलोक की चिता नही थी। वे इहलोक के सुख, समृद्धि, युद्ध मे विजय, रोग से मुक्ति, शत्रुओ का विनाश आदि के लिए विभिन्न देवताओ से प्रार्थना करते थे। इन देवताओ के साथ आर्यो का सम्बन्ध बहुत-कुछ लेन-देन-मूलक है यानी ऐसा कि मै तुम्हे सोमरस पिलाता हूँ, तुम्हारे लिए यज्ञ मे आहुति देता हूँ, तुम हमारे लिए यह करो, वह करो इत्यादि। इस समय तक जीवन मे गारलौकिक दृष्टिकोण की प्रधानता नही हुई थी। अन्वेषणो से यह भी पता चलता है कि वैदिक युग मे एकेश्वरवाद नही था, यद्यपि समय समय पर वरुण, इद्र आदि को प्रधानता हो गई।

काल-क्रम से यही वैदिक धर्म बहुत ही जटिल अनुष्ठानमूलक हो गया। इसी के विरुद्ध विद्रोह मे न्याय, वैशेषिक, साख्य, जैन, बौद्ध आदि मतो की उत्पत्ति हुई। जहाँ पहले वैदिक धर्म मे आत्म-तृप्ति की भावना थी, वहाँ बाद मे आत्म, विलोप की भावना का प्रचार हुआ। मनुस्मृति तथा गृह्य सूत्रो का धर्म बिलकुल ही प्रतिक्रियावादी हो गया। खुल्लम-खुल्ला वर्ग पक्षपात शास्त्रीय हो गया। यह स्मृतियो तथा सूत्रो मे वर्णित समाज-व्यवस्था से ज्ञात होता है। आश्चर्य होता है कि डॉक्टर भगवानदास आदि हिन्दू स्मृतियो के प्रशसक किस प्रकार इन बातो की व्याख्या करेगे कि इन कथित आदर्श स्मृतियो तथा सूत्रो मे एक ही अपराध के लिए शूद्र और ब्राह्मण की सजाओ मे आकाश-पाताल का अतर है। उदाहरणार्थ, यदि शूद्र ब्राह्मणी पर बलात्कार करे, तो उसके लिए प्राण-दड का विधान है, पर यदि ब्राह्मण शूद्रो पर करे, तो उसके लिए बहुत लघु दड है।

### *अतीत आदर्श नहीं बन सकता*

इसीलिए मेरा यह वक्तव्य है कि अतीत को हम आदर्श के रूप मे नही रख सकते। अन्वेषणो से तो यह भी ज्ञात हुआ है कि प्रत्येक देश मे जो ईश्वर के विश्वास की उत्पत्ति हुई, उसके पीछे भी वीर-पूजा की भावना थी। हमारे देश मे, जहाँ राम, कृष्ण, बुद्ध आदि ऐतिहासिक व्यक्ति अवतार के रूप मे मान लिए गए, इस धारणा को बहुत स्पष्ट रूप मे देखा जा सकता है। कच्छ मच्छ, बराह आदि अवतार पशु-प्रतीक-पूजा के ही रूप है। कई बार दो-दो चार-चार कबीलो के देवता एक हो गए है, एक का मुण्ड ले लिया गया, तो दूसरे का धड या अन्य अग। इसी प्रकार से गणेश आदि देवताओ की उत्पत्ति हुई। इस सबध मे जो गवेषणाएँ हुई है, उनसे यह पता चलता है कि प्रत्येक

जाति मे वीर-पूजा का या वीर का सूक्ष्मीकरण होकर ईश्वर की उत्पत्ति हुई। वेदो के आर्य बाद मे ईश्वरवादी हुए है। पहले सोपान मे वे बहुदेवदेवी-वादी थे।

अतीत के संबध मे जानकारी प्राप्त करना बहुत ही आवश्यक है। सच तो यह है कि जब तक अतीत को जान नही लेते, तब तक भविष्य का निर्माण नही कर सकते। मैक्सिम गोर्की ने अपने एक अत्यत प्रसिद्ध लेख का नाम ही यह रखा है कि हमे भूतकाल का ज्ञान अवश्य करना चाहिए, इस लेख मे उन्होने बहुत जोरदार तरीके से इस बात को कहा है कि केवल नारो को सीख लेने से ही कोई क्रातिकारी नही हो सकता। हमे अपने अतीत को जानना चाहिए, पर इसलिए नही कि हम उसी को प्रमाण मान ले, और उसी के अनुकरण मे अपने पुरुषार्थ को इतिश्री समझे, बल्कि इसलिए कि हमे उस पर निर्माण करना है। जो स्थापित नीव को अच्छी तरह नही जानेगा, वह उस पर अट्टालिका का निर्माण कैसे करेगा।

*परिवर्तन से घबराइए नहीं*

अब हम सक्षेप मे यह बतला दे कि अतीत के अध्ययन से हम किन उपसहारो पर पहुँचते है। जैसा कि हम बतला चुके है, सबसे पहला उपसहार तो यह है कि अमीबा के जीवन से लेकर बीसवी सदी तक कोई भी सोपान, विचार या सस्था स्थायी नही रही। बराबर परिवर्तन होते रहे है।

दूसरा उपसंहार यह है कि यद्यपि परिवर्तन होते रहे, पर निरन्तर प्रगति होती रही है। यह प्रगति केवल बाह्य नही, बल्कि आभ्यतरिक भी रही है। अमीबा के शरीर से उन्नति करते-करते जैसे हमे बीसवी सदी के मनुष्य का शरीर प्राप्त हुआ है, उसी प्रकार से अमीबा के मन से उन्नति करते-करते हमे नियाडरथाल के मनुष्य का मन प्राप्त हुआ, और फिर उससे उन्नति करते-करते हमे आइस्टाइन का मन प्राप्त हुआ।

इसी से तीसरा उपसहार यह निकलता है कि प्रगति को सामने रखते हुए हमे किसी भी परिवर्तन से घबराने की जरूरत नही है। यह इतिहास की एक बहुत ही साधारण बात है कि एक क्रातिकारी विचार लेकर उठता है। फिर कालातर मे जब वह विचार शोषक वर्ग के साथ एकात्मक हो जाता है, तो वही रूढि हो जाता है, और उसे त्यागकर आगे बढने मे ही समाज का कल्याण होता है।

इन्ही क्रातिकारी दृष्टिकोणो को लेकर हमे अतीत की तरफ दृष्टिपात करना चाहिए, और नीर-क्षीर-विवेक से काम लेकर प्रगति के पथ पर अकुठित

होकर आगे बढना चाहिए। हमे न तो बाबा वाक्य को प्रमाण मानकर ठिठकना चाहिए, न रूढियो से घबराना चाहिए। रवीन्द्रनाथ की भाषा मे हमे सड़े-गलो को कुचलकर, उन्हे आघातो से जगाकर अपने पथ का निर्माण करना चाहिए।

३१

# महापुरुषवाद और प्रतिभा का जन्म तथा विकास

## ( १ )

'प्रतीक' की दिसम्बर १९५१ की सख्या मे 'इतिहास की महापुरुषवादी व्याख्या और मार्क्सवाद' नाम से एक विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। यदि शीर्षक की दृष्टि से देखा जाय, तो लेख इतने पर ही खत्म हो जाना चाहिए था कि महापुरुषवाद को भौतिकवादी नही मानते। पर लेखक ने इतना दिखाकर ही सन्तोष नही किया है, और वे स्वय महापुरुषवाद को न मानते हुए भी उसके पक्ष मे कुछ तर्क दे जाते है। यो मै इस लेख पर कोई विशेष ध्यान न देता, किन्तु एक तो इस लेख मे मेरा उल्लेख कई बार आया है, दूसरे, विद्वान् लेखक ईमानदारी के साथ चीजो को समझने की चेष्टा करते हुए ज्ञात होते है, इस कारण मै नम्रतापूर्वक इस लेख के सम्बन्ध मे कुछ निवेदन करने का साहस करूँगा।

प्रश्न के आरम्भ से ही विचार किया जाय। लेखक यह मानते है कि "व्यक्तिवादी अथवा पौरुषवादी इतिहास-सिद्धान्त का भी सबसे बडा दोष यह है कि वह समाज की निर्वैयक्तिक शक्तियो की सर्वथा उपेक्षा करके इतिहास के परिवर्तनो, क्रान्तियो का सारा श्रेय व्यक्ति-विशेषो को दे डालता है। मार्क्सीय समाजवाद ने इस रूढ किन्तु भ्रान्त सिद्धान्त का खडन किया, और बतलाया कि कर्म प्राय. सामाजिक हुआ करता है, वैयक्तिक नही।"

इतना मानने पर भी वे कहते है :

"किन्तु मार्क्सवाद कुछ भ्रति लिये हुए है, जिसका विवरण आगे आयगा। मार्क्स के अनुसार महापुरुष समाज के आर्थिक ढाचे की पैदावार है; मार्क्स की ही उत्पत्ति की बात लीजिए। महापुरुषवादी कहेगे कि यदि मार्क्स न हुआ होता तो आर्थिक ढाँचा धरा रह जाता, और इतिहास मे कोई महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन अथवा कम-से-कम वह परिवर्तन, जिसका श्रेय मार्क्सीय विचार-धारा को है, देखने को नही मिलता। इस पर 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' के लेखकद्वय, मन्मथनाथ गुप्त और रमेन्द्रनाथ वर्मा का उत्तर है, "मार्क्स के

पहले ही सारे यूरोप मे मजदूर वर्ग का उदय हो चुका था। इसी वर्ग के शोषण की नीव पर पूँजीवाद की बावन मंजिल वाली अट्टालिका खडी हो रही थी। ऐसे समय मे मजदूरो की विचार-धारा के रूप मे वैज्ञानिक समाजवाद का उदय होना स्वाभाविक था " यदि मार्क्स पैदा नही होते तो कोई और व्यक्ति इसका वाहन होता। किन्तु प्रश्न यह है कि प्रथमत: मार्क्स के अभाव मे इस शक्तिशाली विचार-धारा का कोई-न-कोई वाहन होता ही, इसका क्या प्रमाण है ? क्या यदि कालिदास न होते, तो कोई अन्य व्यक्ति 'मेघदूत'-जैसा काव्य रच देता ? यदि अकबर महान् का जन्म न हुआ होता तो क्या दीनइलाही अन्त साम्प्रदायिक विवाह, सर्वधर्म सम्मेलन प्रभृति क्रान्तिकारिणी प्रवृत्तियाँ तत्कालीन भारत मे सम्भव होनी ? यदि हाँ, तो जहाँगीर, शाहजहाँ और औरगजेब के शासन-काल मे इन प्रवृत्तियो का पता क्यो नही चलता ? जब कि इन तीनो शासन-कालो मे समाज की प्रकृति मे कोई परिवर्तन मानने के लिए कोई कारण नही दीख पडता। वस्तुत व्यक्तिविशेष के अपना कार्य अधूरा छोडकर जीवन-लीला समाप्त कर देने के बाद उस कार्य को पूरा करने वाला कोई अन्य महापुरुष या तो कभी प्रादुर्भूत ही नही हुआ अथवा यदि हुआ भी तो दीर्घकाल तक प्रतीक्षा कराने के बाद। अब यदि युग-विशेष महापुरुष-विशेष का आह्वान कर ही सकता है तो अकृतकार्य-महापुरुष का पूरक भी वह क्यो नही पैदा कर लिया करता ? मार्क्स की ही बात लीजिए। मार्क्स अपने जीवन-काल मे अपना कार्य पूरा नही कर सका। किन्तु उसके अधूरे कार्य को तुरन्त सँभाल लेने वाला कोई व्यक्ति दिखाई नही पडा। वस्तुत युग का पूरक व्यक्तियो की उत्पत्ति मे बहुधा अकिंचित्कर सिद्ध होना मार्क्सवाद की एकागिता का एक ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित करता है।

"तीसरे यदि हम मान भी ले कि मार्क्स के अभाव मे मार्क्स-जैसा कोई अन्य ही महापुरुष पैदा हो जाता, तो यह प्रश्न उठेगा कि परिस्थिति ने मार्क्स को ही अपना प्रतिनिधि अथवा पैगम्बर क्यो चुना ? जर्मनी नामक देश-विशेष के यहूदी नामक जाति-विशेष मे उत्पन्न मार्क्स नामक व्यक्ति-विशेष मे भला कौन सी विशेषता थी ?"

लेखक ने ऐतिहासिक भौतिकवाद पर जो आपत्तियाँ उठाई है, वे उनकी वैयक्तिक आपत्तियाँ नही है, बहुत से पढे-लिखे लोग इस प्रकार सोचते है, इसी कारण मैने कुछ ब्यौरे से लेखक को उद्धृत किया। पहले ही उनके इस कथन का उत्तर दिया जाय कि यदि मार्क्स पैदा नही होते, तो, इस विचार-धारा का कोई-न-कोई वाहन उत्पन्न होता, इसका क्या प्रमाण है ?

यदि लेखक मेरी 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' नामक पुस्तक को और ध्यान से पढते, तो उन्हे इसका उत्तर मिल जाता। जिस पृष्ठ से उन्होने मुझे उद्धृत किया है, उसी मे ये वाक्य आते है—

"हम केवल यहाँ यह देखेंगे कि मार्क्स के व्यक्तित्व का इतिहास से क्या सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध मे एगेल्स का कहना है 'और भौतिकवादी द्वन्द्ववाद जो वर्षो से हमारे हाथो मे सबसे अच्छा औजार और सबसे पैना हथियार रहा है, न केवल हम लोगो के द्वारा आविष्कृत हुआ, बल्कि यह बहुत मार्के की बात है कि हम लोगो से, यहाँ तक कि हेगल से भी स्वतन्त्र रूप से जर्मन मजदूर डिट्सगेन के द्वारा आविष्कृत हुआ था।' एगेल्स के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवाद के नाम से जो विचार-धारा प्रचलित है वह परिस्थितियो की उपज थी। यदि मार्क्स पैदा नही होते तो कोई और व्यक्ति इसका वाहन होता। उस हालत मे सम्भव है कि विचार-धारा उतने ज़ोरो के साथ सामने नही आती, किन्तु वह आती, इसमे सन्देह नही। यदि इस विचार-धारा मे अन्तर्निहित शक्ति होती, तो उस हालत मे वह मार्क्स की ही तरह किसी परम शक्तिशाली को अपने वाहन के रूप में ढूँढ लेती।"[१]

मैने अन्यत्र इस बात को स्पष्ट किया है कि—

"यो तो कोई भी व्यक्ति कुछ भी बक सकता है, और कोई भी ऊल-जलूस सिद्धान्त पेश कर सकता है, किन्तु जब तक वह विचार या सिद्धान्त उस युग की भौतिक जरूरतो से उत्पन्न इच्छाओ के साथ अपने को ग्रथित नही कर पाता, तब तक वह पुस्तको मे बन्द पडा रहता है। एक विचार एक समय मे अपनी ओर ध्यान आकर्षित क्यो नही कर पाता, और क्यो वही विचार दूसरे समय लोगो को पागल कर उनसे अधिक से-अधिक कुर्बानी यहाँ तक कि क्रान्तियाँ करवा लेता है, यह इसी से समझ मे आयगा कि विचारो के साथ जब सामाजिक शक्तियो का गठबन्धन हो जाता है तभी वे तगडे हो जाते है।"[२]

इससे यह स्पष्ट हो गया कि जो विचार-धारा मार्क्सवाद के नाम से चली, वह मजे मे डिट्सगेनवाद करके चल सकती थी। यदि मार्क्स पैदा न होते तो उसका नाम डिट्सगेनवाद पडता, हाँ उस हालत मे वह उतने तगडे रूप मे अपने को पेश न कर पाता, याने तब तक तगडे रूप मे न होता जब तक उसे अपने

---

१. ऐतिहासिक भौतिकवाद पृष्ठ ११—मन्मथनाथ गुप्त : रमेन्द्रनाथ वर्मा

२. ऐतिहासिक भौतिकवाद पृष्ठ २३४

वाहन के रूप मे एगेल्स या लेनिन की तरह पडित प्रतिपादक न मिलता ।

लेखक को मेरी उल्लिखित पुस्तक से इसका भी ऐतिहासिक उदाहरण मिल जाता कि जब सामाजिक शक्तियो के तर्क से किसी एक प्रकार के व्यक्ति का उत्पन्न होना अनिवार्य है, उस समय यदि वह व्यक्ति उत्पन्न हो और आकस्मिक कारण से वह मर भी जाय, तो उसका स्थान लेने वाला उत्पन्न हो जाता है । चलते हुए यह बता दिया जाय कि लेखक ने केवल कार्लाइल को ही महापुरुषवादी सिद्धान्त का प्रमुख प्रतिपादक बताया है, पर वर्तमान युग मे जान गुन्थर इस सिद्धान्त के कार्लाइल से बडे प्रतिपादक हुए है—

मैने उन्ही जान गुन्थर से अपनी उल्लिखित पुस्तक मे ये वाक्य उद्धृत किये है—

"ऐतिहासिक आकस्मिकता के सम्बन्ध मे फ्रैको एक अव्वल दर्जे के दृष्टान्त है । जो योजना बनी थी, उसमे उनका कोई स्थान नही था, प्रधान नेता होने की बात तो दूर रही । असली नेता तो कालवो सेटलो थे, जो जुलाई मे मार डाले गए थे—और सानजुरजो थे, जो लडाई के शुरू होते ही मारे गए थे । फ्रैको ने न केवल उनकी जगह ले ली, बल्कि वह दूसरो से योग्यतर साबित हुए । रणनैतिक दृष्टि से भी वे बुरे नही रहे ।"—इत्यादि ।

इसलिए एक नेता के मर जाने पर यदि परिस्थिति अनुकूल हुई, तो दूसरे नेता का उत्पन्न होना कोई आश्चर्यजनक बात नही है । लेखक ने यह जो कहा है कि मार्क्स के मरने के बाद उनके काम को उठाने वाला कोई व्यक्ति नही दिखाई पडा, यह बात और तो और, ऐतिहासिक रूप से भी गलत है । मार्क्स के बाद बहुत दिनो तक एगेल्स जीवित रहे । रही यह बात कि मार्क्स ने जिस क्रान्ति का नारा दिया था, वह नही हो सका, इसके कारण को ढूँढने के लिए ऐतिहासिक शक्तियो की छान-बीन करनी पड़ेगी । क्या लेखक का यह दावा है कि क्रान्ति पचास साल पहले हो सकती थी, या उसके लिए पचास साल पहले परिस्थिति तैयार थी ? यदि यह दावा नही है तो उनके कथन का कोई अर्थ नही रहता ।

लेखक को ऐतिहासिक भौतिकवाद के सम्बन्ध मे बहुत-सी गलत धारणाएँ है । ऐतिहासिक भौतिकवाद केवल सामाजिक रूप से क्रियाशील ( चाहे वे प्रगतिवादी हो या प्रतिक्रियावादी हो ) विचार-धाराओ को, तथा उसके सिल-सिले मे काम आने वाली शक्तियो तथा व्यक्तित्वो को समझने का दावा करता है, इससे अधिक नही । पर लेखक महोदय उससे ऐसे प्रश्नो के उत्तर की आशा करते है जो सर्वथा उसके दायरे के बाहर है । उदाहरणार्थ लेखक यह

पूछते है, कि जर्मनी नामक देश-विशेष की यहूदी नामक जाति-विशेष मे उत्पन्न मार्क्स नामक व्यक्ति-विशेष को ही इस विचार-धारा के प्रवर्तक होने का सौभा य क्यो मिला ? यह स्पष्ट कर दिया जाय कि ऐतिहासिक भौतिकवाद इस सम्बन्ध मे भी कुछ दिशाएँ दे सकता है, पर वह सब बातो को मिला कर इस रूप में नही कह सकता कि इस सम्बन्ध मे इतना ही है और इतना नही है। ऐतिहासिक भौतिकवाद का वह विस्तृत रूप, जिसमे दर्शन, अर्थशास्त्र, व्यक्तित्व का अध्ययन सभी कुछ आ सकता है, अभी इतना सम्पूर्ण नही हुआ है कि वह समाज के एक-एक व्यक्ति की व्याख्या करे। पर साथ ही वह इस बात को स्पष्ट किये बिना नही रह सकता कि किसी का व्यक्तित्व एक आकस्मिक उपज नही है, वह कार्य-कारण से अच्छी तरह बँधा हुआ है। दूसरे शब्दो मे वह शक्तियो, परिस्थितियो तथा उन शक्तियो, परिस्थितियो के सघर्षो की उपज है।

रहा यह कि प्रत्येक क्षेत्र मे, यहाँ तक कि मार्क्स ऐसे व्यक्ति के क्षेत्र मे ये परिस्थितियाँ क्या थी, उनका सम्पूर्ण रूप से सही लेखा तैयार करना या जानना बहुत-कुछ असम्भव है। इसी अर्थ मे एक विशेष व्यक्ति का विशेष रूप मे सामने आना आकस्मिक है।

व्यक्ति परिस्थितियो से उत्पन्न होता है। मै यहाँ फिर अपनी पुस्तक से उद्धृत करता हूँ। एगेल्स ने १८१४ मे स्टारकन बुर्ग नामक एक मित्र को एक पत्र मे लिखा था—

"एक विशेष समय मे एक विशेष व्यक्ति का किसी देश मे पैदा होना बिलकुल आकस्मिक घटना है। (आकस्मिक शब्द का यहाँ वही मतलब लिया जाय कि जिसकी हम पहले परिभाषा कर चुके है) किन्तु उस व्यक्ति को काट-कर अलग कर दीजिये तो उसके स्थल मे एक दूसरे व्यक्ति की जरूरत होती है। हो सकता है कि यह स्थानाभिषिक्त या एवजी व्यक्ति उससे घटिया हो, किन्तु अन्त तक वह मिल ही जायगा। जिस समय फ्रेच प्रजातन्त्र अपनी ही लडाइयो से परिश्रान्त हो गया था, उस समय जो नैपोलियन नामक एक कार्सिका वासी के लिए सामरिक अधिनायक की जगह की जरूरत हुई, यह एक आकस्मिक घटना थी। किन्तु यदि एक नैपोलियन न मिलता, तो दूसरा उसके स्थूल की पूर्ति कर लेता, इसमे सन्देह नही। यह इस बात से प्रमाणित होता है कि जिस समय भी नैपोलियन ऐसे व्यक्ति की जरूरत पडी, उस समय वह मिल गया जैसे सीजर, अगस्टस, क्रामवेल इत्यादि।" मार्क्स ने 'फ्रास के वर्गयुद्ध' नामक अपनी पुस्तक मे मानो इसी वक्तव्य को दूसरे शब्दो मे यो

कहा "प्रत्येक सामाजिक युग को महापुरुषो की जरूरत रहती है, और यदि ये न मिले तो जैसा हेलवेसियस ने कहा, वह उनका आविष्कार कर लेता है।"[१]

मैं समझता हूँ कि लेखक ने कितने प्रश्न उठाये है उन सबका उत्तर आ चुका। ऐतिहासिक भौतिकवाद केवल सामाजिक परिस्थितियो को समझने-समझाने ा दावा करता है। एक उदाहरण से इस बात का स्पष्टीकरण किया जाय। एक नदी एक विशेष दिशा मे जा रही है, उसके सम्बन्ध मे यह कहना सम्भव है कि वह अमुक दिशा मे जा रही है। पर वह नदी जिन लहरो को लेकर बनी है, उनके सम्बन्ध मे कुछ कहना सम्भव नही है। पर इस बात से घबराकर कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम् चेतन-सत्ता के हाथो मे या और किसी रहस्य-वादी शक्ति के हाथो मे अपने को सौप देने की आवश्यकता नही है, क्योकि प्रत्येक लहर मे कार्य-कारण-सम्बन्ध काम कर रहा है। कार्य-कारण से मै भौतिक कार्य-कारण को ले रहा हूँ।

एक और उदाहरण लिया जाय। एक व्यक्ति ने एक दूसरे व्यक्ति की हत्या कर डाली। यहाँ ऐतिहासिक भौतिकवाद की चीजो को समझने के लिए बुलाना ठीक न होगा, पर जब इस विशेष प्रकार की हत्याएँ इतनी सख्या मे हो कि वे सामाजिक लक्षण के रूप मे हो जायँ, तो ऐतिहासिक भौतिकवाद उनकी व्याख्या करेगा। हाँ जैसा कि मै पहले ही इंगित कर चुका हूँ, तार्किक रूप मे समाज की प्रत्येक घटना ही सामाजिक लक्षण के अन्तर्गत है, पर बडे पैमाने पर होने पर ही उनका अध्ययन सम्भव है।

लेखक ने परिस्थिति की माँग, समय की पुकार, आदि को शब्द-जाल-मात्र बताया है, पर यदि वे गहराई मे जाते, और वे इन शब्दो को असख्य ग्रहन-क्षत्रो से युक्त विश्व के साथ सयुक्त न करके मनुष्य समाज तक ही सीमित रखते तो इन शब्दो का अर्थ खुल जाता। लेखक ने भौतिकवाद पर यह भी आरोप लगाया है कि वह प्रतिभाओ के जन्म को समझा नही पाता। उन्हे यह बता दिया जाय कि भौतिकवाद इसका दावा भी नही करता। भौतिकवाद सिर्फ यह बताता है कि एक विशेष प्रकार की प्रतिभा एक विशेष समय मे सामाजिक रूप से आदरणीय क्यो हो जाती है। प्रतिभाओ की उत्पत्ति का प्रश्न प्रयोगवादी-विज्ञान पर उसी प्रकार से छोडा हुआ है जैसे भूगर्भ के ज्ञान का विषय भूगर्भ-विज्ञान पर, वायु के ज्ञान का विषय वायुगति-विज्ञान पर। फिर भी यदि कहा जाय कि इन विज्ञानो के क्षेत्र मे भौतिकवाद को कुछ

---

[१] ऐतिहासिक भौतिकवाद पृष्ठ २२

कहना नही है, तो गलत होगा। एक बात तो यह धनात्मक रूप से कही जा सकती है कि भौतिकवाद विज्ञान के क्षेत्र मे रहस्यवाद-अध्यात्म आदि को किसी भी हालत मे बरदाश्त न करेगा। प्रतिभाओ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जैसा कि लेखक का पता होगा, कुछ 'हाईपोथिसिसे' चल रही है, अन्तिम बात अभी कहने मे बहुत देर है। जब तक कोई प्रतिभाओ की उत्पत्ति की खोज के सिलसिले मे अपने को प्रयोगवादी क्षेत्र मे रखेगा, वह चाहे फ्रायड, युङ्ग, एडलर, पावलोव, किसी के तरीके से हो, तब तक ऐतिहासिक भौतिकवाद की उनसे कोई लडाई न होगी, पर ज्यो ही वह प्रयोगवादी क्षेत्र से हटकर, उदाहरणार्थ जन्मान्तरवाद को लाकर, प्रतिभा की उत्पत्ति की व्याख्या करेगा, त्यो ही भौतिकवाद उस पर आपत्ति करेगा।

इस प्रकार हम यह देख चुके कि यद्यपि भौतिकवाद प्रतिभाओ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कुछ अन्तिम बात कहने का दावा नही करता, फिर भी वह प्रतिभा के सम्बन्ध मे एक ढाँचा पेश करता है, जिसके अन्दर रहकर इस सम्बन्ध मे खोज करने वालो को काम करना पडेगा।

हमे यह दु ख है कि इस छोटे से लेख मे मै इमसे अधिक कुछ कहने मे असमर्थ हूँ। जो विषय यहाँ उठाये गए है, उन पर पोथे-का-पोथा लिखा जा सकता है। मैने स्वय ही इस पर सैकडो पृष्ठ लिखे है। यदि किसी बिन्दु-विशेष के स्पष्टीकरण या व्याख्या की माँग हुई तो मै सहर्ष उसे करूँगा।

( २ )

मार्च के प्रतीक मे 'महापुरुषवाद'[१] शीर्षक से मैने जो तर्क चलाया था, उसके सम्बन्ध मे मूल लेखक के रुख को देखकर मै उसे आगे नही चलाना चाहता क्योकि इससे कोई लाभ नही है। मै एक मुहूर्त के लिए यह मानने के लिए तैयार नही हूँ कि उक्त लेखक किसी नये वाद का आविष्कार कर रहे है। उनके संशयवाद का, जो स्वाभाविक रूप से रहस्यवाद मे समाप्त होता है, मुँहतोड उत्तर सैकडो बार दिया जा चुका है। इस अकिचन ने भी 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' मे उसका विस्तृत उत्तर दिया है। मै यह मान लेता हूँ कि 'प्रतीक'-सम्पादक मुझे इतना स्थान न देगे जिससे मै ढग से इसका उत्तर दे सकूँ।

फिर भी मै एक बिन्दु का स्पष्टीकरण करना चाहूँगा, जिसके सम्बन्ध मे मुझे डर है कि उक्त लेखक ने मेरे मत को विकृत करके पेश किया है और

---

१. इस लेख के उत्तर मे मूल लेखक ने एक लेख लिखा, जिसके उत्तर मे मैने यह दूसरा भाग लिखा, जिसे श्री वात्स्यायन ने छापने से इन्कार किया।

जिसमे शायद उन्हें कुछ सफलता मिली है। वह बिन्दु है भौतिकवाद का प्रतिभाओ के जन्म पर क्या दृष्टिकोण है । उन्होने ऐसे मेरे मत को पेश किया है मानो भौतिकवाद प्रतिभाओ के जन्म को सम्पूर्ण रूप से आकस्मिक समझता हो। यह बिलकुल गलत है, और मेरे मत का अपप्रतिनिधित्व है। मार्च के 'प्रतीक' मे 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' से जो उद्धरण प्रकाशित हुए है, उन्ही से उक्त लेखक पर यह स्पष्ट हो जाना चाहिए था कि भौतिकवादी कार्य-कारण-सम्बन्ध से मुक्त होने के अर्थ मे किसी वस्तु या घटना को आकस्मिक नही मानते, केवल इतना ही नही, ऐसा न मानना ही भौतिकवाद का आधार है। यदि भौतिकवाद इससे हट गया तो वह कही का नही रहेगा, फिर तो वह अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, सशयवाद कही भी जा सकता है।

प्रतिभाओ का जन्म इस अर्थ मे याने कार्य-कारण-परम्परा मे मुक्ति के अर्थ मे कदापि आकस्मिक नही है। एगेल्स ने स्टारकनबुर्ग को १८१४ मे जो यह लिखा था कि 'एक विशेष समय मे एक विशेष व्यक्ति का किसी देश मे पैदा होना बिलकुल आकस्मिक घटना है, इसका अर्थ यह कदापि नही है (और इसे उन्होने कोष्ठक मे स्पष्ट भी कर दिया) कि किसी व्यक्ति की उत्पत्ति कार्य-कारण-परम्परा से मुक्त है।' यहाँ आकस्मिक शब्द का केवल इतना ही अर्थ है कि कार्य-कारण-परम्परा इतनी विस्तृत है कि मनुष्य जाति के ज्ञान की वर्तमान अवस्था मे उसका ठीक-ठीक पता नही लग सकता। स्मरण रहे कि जब हम किसी विषय मे ऐसा कहते है कि हम इसे नही जानते, तो उसका अर्थ साथ ही यह भी है कि हम आगे चलकर उसे जान जायँगे। विज्ञान के क्षेत्र मे हाइजनवर्ग के अनिश्चियता सिद्धान्त को लेकर अध्यात्मवादियो और सशयवादियो ने कितना शोर मचाया था, पर अज्ञान या ज्ञानाभाव और बात है, और अज्ञान की आड लेकर रहस्यवाद, सशयवाद या अध्यात्मवाद के हाथो मे अपने को सौप देना और बात है। आइनस्टाइन ने हाइजनवर्ग के अनिश्चयता-सिद्धान्त पर जो कुछ कहा था वह प्रतिभाओ के जन्म के सम्बन्ध मे हमारे वर्तमान ज्ञानाभाव पर लागू होता है। उन्होने कहा था कि यह सिद्धान्त केवल सामयिक रूप से अज्ञान का शरण-गृह है, उनका कहना था कि ज्ञान की उन्नति के साथ-साथ विज्ञान मे कार्यकारणवाद का राज्य स्थापित होगा। प्रतिभाओ के जन्म के सम्बन्ध मे आकस्मिकता का यही अर्थ है। जो अभी आकस्मिक है, ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ वह साधारण ज्ञात होगा, बल्कि हम तो यह आशा करते है कि उस समय आर्डर पर प्रतिभाओ को उत्पन्न कर सकेंगे जैसे हम आज इजीनियर, शिक्षक आदि उत्पन्न करते है।

उक्त लेखक प्रतिभाओ के जन्म पर कोई नवीन सिद्धान्त पेश नही करते, फिर भी वे सशयवादी तरीके से यह कहते है कि समय या आर्थिक सामाजिक शक्तियो के साथ वीरो, महापुरुषो की उत्पत्ति का कोई सम्बन्ध नही है । यह उनकी ज्यादती ही कही जा सकती है । किसी वीर महापुरुष या लीडर (हम इसमे मिसलीडर को भी लेते है) के जन्म या उदय को हम अभी भले ही सामाजिक आर्थिक परिस्थिति से संयुक्त न कर सके, पर एक दिये हुए समय मे उसकी सफलता या विफलता आर्थिक सामाजिक परिस्थितियो पर निर्भर होती है, इस बात को बडे भारी सशयवादी को भी मानना पडेगा ।

महात्मा गाधी को ही लिया जाय, क्या उनके व्यक्तित्व का विकास सम्पूर्ण रूप से उस समय की परिस्थितियो पर निर्भर नही था ? क्या उनकी विचार-सरणी मे और उस सरणी की जाज्वल्यमान असगतियो मे हम उस वर्ग को, जिसके वह अन्ततोगत्वा प्रतिनिधि थे, प्रतिफलित नही पाते ? यदि भारत एक निरस्त्र, आध्यात्मिकताग्रस्त देश न होता, तो उनकी अहिंसा को कोई कौडी भर भी सम्मान न देता ? क्या उनकी अहिसा मे और साथ-ही-साथ काग्रेस द्वारा शासित स्वतत्र भारत के सशस्त्र राष्ट्र के रूप मे सामने आने मे जो असगति है, वह सम्पूर्ण रूप से उनकी परिस्थितियो से सम्बद्ध नही है ?

मै तो समझता हूँ कि राजनैतिक तथा सामाजिक नेताओ तथा अपनेताओ को, जैसे क्रामवेल, लूथर, कबीर, नेपोलियन, लैनिन, स्टालिन, हिटलर, माओ, गाधी सबके व्यक्तित्व, प्रतिभा या अपप्रतिभा की विश्लेषणात्मक दृष्टि से छान-बीन करने पर यह ज्ञात होगा कि उनकी सभी सफलताओ तथा विफलताओ को आर्थिक सामाजिक परिस्थितियो, वर्गो के आपसी सम्बन्धो तथा उनकी तुलनात्मक शक्ति, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति, प्रोद्यौगिक उन्नति का सोपान आदि बातो से सयुक्त करके अच्छी तरह दिखाया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे इनका बडप्पन ( बुरा और भला दोनो अर्थो मे ) ऐतिहासिक परि-स्थितियो के कारण ही विकसित हो सका । भौतिकवाद का यही कहना है ।

फिर भी एक बात का समाधान ही रह जाता है । वह यह कि परि-स्थितियाँ उत्पन्न होने पर हमेशा महापुरुष उत्पन्न होते है या नही । इसके सम्बन्ध मे इतना ही कहा जा सकता है कि परिस्थितियाँ यथेष्ट प्रबल हो तो वे अपना काम कर ही लेती है, चाहे ऐसा मामूली पुरुषो के द्वारा हो या महा-पुरुषो के द्वारा हो । इसका एक बहुत सुन्दर उदाहरण यह है कि भारत मे गाधीजी पैदा हुए, गाधीवादियो के अनुसार इस कारण भारत स्वतत्र हुआ, पर बर्मा मे उनके पाये का कोई व्यक्ति उत्पन्न नही हुआ, बर्मा फिर भी भारत

से कम स्वतन्त्र नही है। इस उदाहरण मे हम सिहल को भी खीच सकते है। मै यहाँ सूत्र रूप से ही बातो को कह रहा हूँ, नही तो ऐसे बहुत उदाहरण दिये जा सकते है जिनमे स्वीकृति प्राप्त वीरों या महापुरुषो की उत्पत्ति के बिना ही वे कार्य सिद्ध हुए जो अन्य देशो मे महापुरुषो के द्वारा हुए ऐसा ज्ञात होता है।

( ३ )

अब हम स्वाभाविक रूप से एक अन्धी गली मे फँसते दृष्टिगोचर होते है। क्या मामूली पुरुषो के द्वारा बडे कार्य या अपकार्य होने पर वे ही महा-पुरुष नही हो जाते ? हिटलर एक मामूली कारपोरल था, उसने आम तौर पर वर्साई-सन्धि के प्रति जर्मन जाति की प्रतिक्रिया और खास तौर पर जर्मन पूँजीवादी वर्ग की अपने को बचाने की उन्मत्त चेष्टा को रूप दिया, तभी न वह या अपनेता हो गया। नेपोलियन का भी इतिहास यही है। हिटलर और नेपोलियन के जीवनो मे तो हम यह भी देखते है कि उनके पक्ष की परिस्थिति कमजोर पडते ही वे पुनर्मूषकवत् अत्यन्त साधारण व्यक्ति के स्तर पर पहुँच गये।

अन्धी गली से हम निकलते इस प्रकार है कि जब कोई साधारण व्यक्ति के हाथ से लगातार बहुत से महान् कार्य या अपकार्य होते है, तब वह महा-पुरुष तथा प्रतिभा के रूप मे स्वीकृत होता है। यदि महात्मा गाधी जलियान वाला बाग के विरुद्ध बयान देकर ही लुप्त हो जाते, यदि हिटलर हिन्डेनबर्ग के नीचे सवैधानिक रूप से कार्य करना स्वीकार कर लेता इत्यादि, तो हमे वे मामूली व्यक्ति ही मालूम होते।

हम यहाँ पर केवल कुछ सुझाव दे रह है, महापुरुष की कोई 'हार्ड एड फास्ट' कडी परिभाषा का फतवा नही दे रहे है। मेरे वक्तव्य का आशय यह है कि जब एक ही व्यक्ति बार-बार परिस्थितियो के द्रुतीकरण या शिथिली करण को मूर्त करता है, तो वह महापुरुष हो जाता है, पर जब प्रत्येक परि-स्थिति मे नये व्यक्ति के द्वारा कार्य सिद्ध होता है, तो वह साधारण व्यक्ति या साधारण से कुछ उठकर एक व्यक्ति भर ही रह जाता है।

मै समझता हूँ कि इस बात को हम कला, साहित्य, सगीत आदि सभी क्षेत्रो मे ले जा सकते है। प्रत्येक अच्छा कलाकार कोई-न-कोई बहुत सुन्दर कला-कृति बनाता है, प्रत्येक अच्छा साहित्यकार दस-बीस पैरे इतने अच्छे लिखता है कि वह विश्व-साहित्य की वस्तु जॅच जाय, प्रत्येक गायक का कोई-न-कोई गाना ऐसा उतरता है कि वह स्वर्गीय स्वर-लहरी ज्ञात होता है, पर जब किसी

चित्रकार के अधिकतर चित्र, किसी रचयिता की अधिकतर रचनाएँ, किसी गायक के अधिकतर गाने अत्युच्च कोटि के हो, तो वह अपने क्षेत्र मे प्रतिभा-वान माना जाता है। चित्र कब क्यो अच्छे लगेगे, रचना कब क्यो ऊँची समझी जायगी, गाने कब क्यो मर्मस्पर्शी होगे, इस पर हम एक साथ सैकड़ो प्रश्नो पर पहुँच जाते है, जिनकी जडे उस समय की परिस्थितियो मे है जिनमे उस समय का सास्कृतिक-मानसिक उत्कर्ष है। यह नही कि इन प्रश्नो का अनुसरण असाध्य है, पर उनमे प्रत्येक मे इतनी शाखे फूटती गई है कि मानव जाति के ज्ञान के वर्तमान सोपान मे उनके सम्बन्ध मे पूरी बात नही जानी जा सकती है, पर इसी साँस मे कह दूँ कि आगे उनको जानना सभव होगा।

इस पर कोई चाहे तो प्रतिभाओ के जन्म के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक भौतिकवाद को अज्ञ बताकर खुश हो, तो हो, पर परिस्थिति यह है। यहाँ गलत-फहमी न हो कि हम व्यक्ति या वीर का महत्त्व ही नही मानते, इसलिए थोडे मे यह भी स्पष्ट कर द कि व्यक्ति का महत्त्व कितना है।

हमने अब तक जो कुछ लिखा है, उसका साराश यह जरूर है कि इतिहास व्यक्ति को बनाता है, किन्तु दूसरी तरफ उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति उत्पन्न हो जाने के बाद इतिहास को एक हद तक बना या बिगाड़ सकता है। यह बात ठीक है कि व्यक्ति को सामाजिक आर्थिक शक्तियाँ पैदा करनी है, बनाती है, या बिगाड़ती है, सफल बनाकर करोडो लोगो के भाग्य-विधाता के रूप मे पेश करती है, अथवा उसको सडक पर भिखारियो के साथ टुकड़े बाँटकर खाने मे या जेल की कोठरियो मे तिल-तिलकर अज्ञात अवस्था मे मरने के लिए बाध्य करती है, किन्तु व्यक्ति जब व्यक्तितत्व हो जाता है, तो उस समय वह सामाजिक शक्तियो का विरोध भी कर सकता है। इस पर कोई यह पूछ सकता है कि यदि व्यक्ति को सामाजिक शक्तियाँ बनाती है, तो यह कैसे सम्भव है कि वह उनका विरुद्धाचरण कर सके। किन्तु जो कुछ हमने कहा है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा किस प्रकार सम्भव होता है। यही पर मनुष्य की स्वतन्त्रता का प्रश्न आता है। व्यक्ति विशेष चाहे तो किसी एक ऐतिहासिक धारा का विरोध या समर्थन कर सकता है। लेकिन इस कथन से यह न समझा जाय कि इस प्रकार विरोध और समर्थन का कोई नियम नही है। उसके भी नियम है। यहाँ केवल इतना ही जानना यथेष्ट है कि व्यक्ति ऐसा कर सकता है, और करता है। अक्सर ऐसा हुआ है कि जो कल के क्रान्तिकारी थे, वे आज के प्रविक्रियावादी है। उसका कारण यह है कि व्यक्ति जब सामाजिक शक्तियो से सम्पूर्ण स्वतत्र रूप से बल्कि उसके विरोध मे चलने

लगता है, तभी ऐसी ट्रैजेडी होती है। किन्तु इसी से यह भी प्रमाणित होता कि व्यक्ति केवल इतिहास का मोहरा-मात्र नही है, और है तो उसमे इस बात की स्वतन्त्रता है कि वह विरोधी मोहरा हो या अनुकूल। यदि व्यक्ति का इतिहास के निर्माण मे कोई भाग न होता, और वह केवल घटना-चक्र के हाथो मे एक खिलौना-मात्र होता, और परिस्थितियो की हवा जिधर चाहे उधर उसे उडा ले जा सकती, तो उस हालत मे मनुष्य जाति एक प्रकार के अदृष्ट का शिकार-मात्र होती—चाहे वह अदृष्ट कितना ही मनोरम क्यो न हो, क्योकि जैसा कि लिण्डसे ने लिखा है "जहाँ मनुष्य की इच्छा छुट्टी ले लेती है, वहाँ भौतिक अवस्थाओ का अखड राज्य शुरू हो जाता है।" भौतिक अवस्थाओ के अखड राज्य मे मनुष्य के लिए कुछ करने-धरने, सोचने-समझने की जरूरत नही रहती। फिर तो समाज की शक्तियो के विश्लेषण का कोई अर्थ ही नही होता, क्योकि यदि हम एक मुहूर्त के लिए भी यह मान ले कि हम तो अज्ञात शक्तियो के हाथ मे क्रीडनक-मात्र है, तो उस हालत मे न तो कुछ करने का उत्साह ही रह जाता है, और न शायद उसकी जरूरत ही रह जाती है। हम समाज मे व्यक्ति के महत्त्व को और उसके चरित्र के प्रभाव को अस्वीकार नही करते, हम केवल यह चाहते है कि वह अपने सही परिप्रेक्षित मे समझा जाय।

मार्क्स ने अधिकारारूढ व्यक्ति के चरित्र की गणना आकस्मिक घटनाओ मे की है। वे लिखते है, "विकास की आम क्रिया मे इन आकस्मिक घटनाओ का एक स्थान होता है, और अन्य इस प्रकार की आकस्मिक घटनाओ से उनका प्रतिषेध भी होता रहता है, किन्तु फिर भी यह बात सत्य है कि बहुत कुछ हद तक इन आकस्मिक घटनाओ पर किसी घटना का विलम्बीकरण या द्रुतीकरण निर्भर रहता है। इन आकस्मिक घटनाओ मे ऐसी बाते भी आ जाती है, जैसे आन्दोलन के शीर्ष स्थान पर रहने वाले व्यक्तियो का चरित्र।"

अब हम फिर प्रतिभाओ के जन्म पर लौटते है। यदि हम भौतिकवादी इस समय प्रतिभाओ के जन्म पर कुछ निश्चित कह नही सकते, और जैसा कि विज्ञान के लिए जरूरी है उसे इच्छानुसार उत्पन्न नही कर सकते, तो बुर्जुवा विद्वानो की हालत इससे कही गिरी हुई है। 'लन्दन टाइम्स' के 'लिटरेरी सप्लिमेण्ट' मे १९५१ के २१ दिसम्बर अक के मे जार्ज बुखनेर के ये शब्द ध्यान देने योग्य है—

"More often than not, to speak of 'genius' is the last resort of a critic defeated by his subject, if the

word has a meaning at all, 'genius' is a quality which can be discerned, but not defined, weighed but not located, a sort of phlogiston whose existence in human minds and their products disprove. Vague as it is, the attribute is useful, only if applied with the utmost discretion: its very vagueness should protect it against abuse. To apply it is admit the limitations of criticism, but such an admission may well be preferable to the arrogant assumption that works of art can be analysed and assessed with a degree of accuracy comparable to that obtained in a chemical experiment"

"अपने विषय से हारे हुए आलोचक के लिए प्रतिभा की बात कहना अक्सर एक अन्तिम उपाय-मात्र होता है। यदि इस शब्द का कतई कोई अर्थ है, तो प्रतिभा एक गुण है जिसे पहचाना तो जा सकता है, पर उसकी परिभाषा नही हो सकती, जिसे तोला तो जा सकता है पर उसके सम्बन्ध मे यह नही कहा जा सकता, वह अमुक जगह है, यह एक तरह का फ्लोजिस्टन है जिसका अस्तित्व मनुष्यो के मनो तथा उनकी कृतियो से सिद्ध नही होता है। यद्यपि यह अस्पष्ट है, फिर भी यह गुणवाचक शब्द उपयोगी है, हाँ यदि बड़ी सावधानी और बुद्धिमत्ता से इसका प्रयोग किया जाय। इस शब्द की अस्पष्टता ही इसके दुरुपयोग से बचा सकती है। इस शब्द को उपयोग मे लाने का अर्थ आलोचना की सीमा को स्वीकार करना है, और इस प्रकार की स्वीकारोक्ति उस उद्धत दावे से अच्छा है कि कलाकृतियो को रासायनिक प्रयोगो मे प्रचलित स्पष्टता की मात्रा के साथ विश्लेषित और मूल्यावधारित किया जा सकता है।'

इससे प्रतिभा के सम्बन्ध मे खोज की परिस्थिति सामने आ जाती है। ऐतिहासिक भौतिकवादी भी इसको स्वीकार करता है, पर वह प्रतिभा के वरपुत्रो को देखकर आश्चर्य मे इतना बह जाना नही चाहता कि वह जाकर अपनी नाव को सशयवाद के दलदलमय किनारे पर लगावे या अध्यात्मवाद की मरीचिका मे कूद पडे, वह बलिक इसके लिए प्रतीक्षा करना पसन्द करेगा कि मनुष्य के ज्ञान की अग्रगति के साथ सत्य की पौ फटे, और उसके निकट सारी बाते स्पष्ट हो जायँ। उसकी यह आशा दुराशा तो नही है, क्योकि बराबर उसकी आँख पर से पर्दा हटता गया है, और उसे सत्य का साक्षात्कार होता गया है।

# ३२
# टालस्टाय का क्रायटसेर सोनाटा

टालस्टाय के उपन्यासो मे 'क्रायटसेर सोनाटा' शायद सबसे अधिक वाद-विवादपूर्ण ग्रन्थ है। यो तो टालस्टाय की सभी पुस्तके प्रचार-कार्य से ओत-प्रोत है, किन्तु यह पुस्तक तो मालूम होता है केवल प्रचार-कार्य के ही लिए लिखी गई है। इस पुस्तक मे टालस्टाय स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी अपने सब विचारो का पुलिन्दा लेकर हमारे सम्मुख उपस्थित होते है। पुस्तक का कथा भाग तो केवल एक उपलक्ष्य-मात्र है, इस सूक्ष्म कथा के चारो ओर टालस्टाय ने अपने विचारो का तानाबाना फैलाकर अद्भुत गल्प की सृष्टि की है। टालस्टाय यद्यपि इस पुस्तक मे अपना प्रचार-कार्य करते नजर आते है, किन्तु फिर भी वे कोई इतने मामूली कलाकार नही है कि झट से आत्मप्रकाश कर दे। बडे घुमाव, सुरुचि तथा कला के साथ वे अपने प्रचार-कार्य की नैया को खेते दृष्टिगोचर होते है। सुप्रसिद्ध रूसी लेखक एण्टोन चैखोफ ने बिना विचारे ही टालस्टाय को कला का 'कोलोसस' नही कहा था। आरभ मे सोवियट रूस मे टालस्टाय की गणना प्रतिक्रियावादी लेखको मे की जाती थी, किन्तु फिर भी सोवियट सरकार ने उनके उपन्यासो का बहुत सस्ता सस्करण प्रकाशित किया है। उनका शायद कहना यह है कि हम टालस्टाय की विचार-धारा को भले ही भूला दे, किन्तु उनके उपन्यासो को पढे।

वर्तमान लेख मे हम इस पुस्तक की साहित्यिक समालोचना नही करेगे, हम केवल टालस्टाय के स्त्री-पुरुष सम्बन्धी विचारो को स्पष्ट करेगे, और फिर उन पर सूत्र रूप से कुछ कहेगे। कहना न होगा कि यह प्रश्न बडा ही महत्त्वपूर्ण है, देश की आर्थिक और राजनैतिक अवस्था के बाद ही कदाचित् इस प्रश्न का नम्बर है। कुछ लोग शायद इसे उनसे भी अधिक महत्त्व दे। इसमे तो सन्देह नही कि आज दिन बहुत से लोग जेलखानो मे तथा पागल-खानो मे सड रहे है, और इनके बाहर भी केवल इस कारण दुख पा रहे है कि उनके अथवा उनके पिता-माता के जीवन मे यह सम्बन्ध सुलझ नही पाया

है या नही पाया था। बहुत से क्षेत्रो मे तो यह कारण स्पष्ट दिखाई देगा, किन्तु बहुत से क्षेत्रो मे यह छिपा रहकर मृदु-विष की तरह उनकी शारीरिक तथा मानसिक गति पर प्रभाव डालता रहता है।

इस उपन्यास का आरम्भ इस प्रकार होता है कि कुछ लोग गाडी म सफर कर रहे है। वे पहिले तो चीजो के 'भाव' पर तथा व्यापार पर बात-चीत करते है, फिर असली बात छिडती है। थोडी ही देर मे एक कहता हुआ सुनाई देता है "फिर उस औरत ने अपने पति से साफ-साफ कहा कि वह उसके साथ न तो रह सकती है, और न रहना चाहती है।" इसके बाद कुछ देर तक चिल्लाहट की वजह से सुनाई नही पडता। हल्ला कम होने पर फिर सुनाई पडता है "फिर झगडे शुरू होते है, रुपये-पैसे की कठिनाई भी आ धमकती है, दोनो ओर से झॉय-झॉय लगा ही रहता है, नतीजा यह होता है कि पति-पत्नी अलग हो जाते है। पहले के जमाने मे ऐसी बात नही हो सकती थी वह जमाने ही और थे, क्यो महाशय है न यही बात ?"

बातो-ही-बातो मे एक महिला-यात्री कहती है—"क्या यह अधिक अच्छा होता कि हमारे विवाह उस जमाने के ढग पर होते रहते, जब कि विवाह के क्षण तक वर-वधू एक दूसरे को देखते ही नही थे ? स्त्री बेचारी को यह भी पता नही होता था कि जहाँ वह जा रही है वहाँ उसकी कैसी आवभगत होगी ? वह किसी को प्यार करेगी या उसे कोई प्यार करेगा या नही ? उनकी शादी ऐसी समझिये जैसे किसी ने प्रथम आगन्तुक के साथ भौरी डाल ली। बाद का इसका जो परिणाम होना है, वही होता है, यानी आमरण दुख उठाना। तो आपकी राय मे यह अच्छा है ? × × × ऐसे लोगो का गठबन्धन कर देना कैसे अच्छा हो सकता है जो कि एक दूसरे को प्यार न करते हो ?

बूढ़े ने कहा—पहले लोग इस बात को इस निगाह से नही देखा करते थे। अभी हाल की सभ्यता है कि लोग इस दृष्टिकोण से इस मामले को देख रहे है। जरा सी बात हुई कि औरत ने कहना शुरू किया कि 'मै यहाँ नही रहना चाहती, मै तुम्हे छोड जा रही हूँ।' यहॉ तक कि किसानो मे भी यह सभ्यता फैल रही है। किसान औरत भी कह देती है 'लो यह तुम्हारा कपडा-लत्ता लो, अब मै 'वासका' के साथ जाती हूँ।' इसलिए मै कहता हूँ स्त्रियो के साथ बर्ताव का पहला नियम जो होना चाहिए वह है ताडना ?

औरत ने मुँह बनाकर कहा—'ताडना कैसी ?'

"ताड़ना ऐसी कि स्त्री अपने पति से डरे, यही ताडना और क्या ?'

"महाशय वे दिन लद गए जब··।"

"नही महाशया वे दिन जा नही सकते···"

"हॉ, श्राप पुरुषगण ऐसा ही सोचते है । श्राप अपने लिए तो स्वाधीनता चाहते है, किन्तु हमारे लिए 'हरम' है । क्यो महाशय पुरुषो के लिए तो सभी जायज है ? क्यो ?" औरत ने कहा ।

"पुरुष की बात और है !"

"तो आपकी राय मे पुरुष के लिए सभी बाते जायज है ?"

"यह बात नही, बात यह है कि पुरुष यदि कोई गडबड करे तो उससे परिवार का कुछ बनता-बिगडता नही, किन्तु औरत, औरत, वह तो एक कच्चा घडा है ।"

"हॉ, हो सकता है, किन्तु आपको मानना पडेगा कि स्त्री भी एक प्राणी है, तथा उसके हृदय मे भी वही उमगे उठती है जो कि उसके पति के दिल मे । आप ही बताये कि यदि वह अपने पति को प्यार न करे तो क्या हो ?"

"अपने पति को प्यार न करे ह ह ह ह, यदि वह प्यार न करे तो कराया जायगा ?"

"किन्तु नही, इस बात मे जबर्दस्ती चल नही सकती । जहाँ प्रेम नही है वहॉ कभी मार-मार कर प्यार कराया नही जा सकता" औरत ने कहा ।

यात्रियो मे से एक वकील ने कहा—"यदि वह अपने को धोखा दे, उस हालत मे क्या किया जाय ?"

बुड्ढे ने कहा—"यह हो ही नही सकता, उस पर आँख रखनी चाहिए ।"

"यदि फिर भी ऐसा हो ? आप अवश्य मानते होगे कि ऐसा हो सकता है ?"

बुड्ढे ने कहा—"यह बड़े आदमियो मे हो सकता होगा, यह हम लोगो मे सम्भव नही । यदि ऐसा कोई आँख का अन्धा गाँठ का पूरा पति हो जो कि अपनी स्त्री को भी वश मे न रख सके, तो मै कहूँगा कि वह इसी लायक है । किन्तु जो कुछ भी हो कोई इज्जत मे बट्टा लगने वाली बात न हो । प्यार करो या न करो गृहस्थी मे गडबडी की सृष्टि मत करो । प्रत्येक पति अपनी स्त्री को वश मे रख सकता है, इसका उसे हक है । केवल काठ के उल्लू पति ही इस हक का उपयोग नही कर सकते ।"

फिर बातचीत चलते-चलते वह महिला कहती है—"सबसे आवश्यक बात यह है, जिसको ऐसे लोग नही समझते कि केवल प्रेम ही से विवाह मे पवित्रता आती है, और सच्चा विवाह है भी वही जिसमे कि प्रेम हो ।"

एक नये महाशय ने बात मे उतरते हुए कहा—"अजी यह प्रेम है क्या बला ?"

"प्रेम क्या बला है ? साधारण दाम्पत्य-प्रेम"—महिला ने कहा।

"साधारण प्रेम विवाह को पवित्र कैसे करता है ?"

"कैसे ? बहुत ही सरलता से।"

"हर्गिज सरलता से नही।"—नये महाशय ने कहा।

दकील सज्जन ने इस पर बीच मे बोलते हुए कहा—"महाशया कह रही है कि विवाह अनुराग, या यो कह सकते है, प्रेम के परिणाम स्वरूप हो, और जिस क्षेत्र में प्रेम है वही विवाह पवित्रता-मण्डित तथा सार्थक है। यानी जिस विवाह की नीव स्वाभाविक प्रेम पर नही है, उसमे कोई नैतिक बाध्यता नही है। महाशया, यही है न आपका कहना ?"

बुड्ढे ने अधैर्य के साथ कहा—"हाँ महाशय, किन्तु क्या यह जानने मे कुछ हानि है कि उस प्रेम का क्या स्वरूप है जो कि विवाह को पवित्र बना देता है।"

महिला ने कहा—"सभी जानते है कि यह प्रेम क्या है।"

"सब जानते हो, मै नही जानता, मै जानना चाहूँगा आप कैसे इसकी परिभाषा करती है।"

"क्या ? यह बहुत ही आसान बात है।" इतना कहकर वह सोचने लगी। फिर बोली—"दूसरो की तुलना मे किसी खास व्यक्ति को एक-मात्र रूप से तरजीह देना यही प्रेम है।"

"बहुत अच्छी बात है, किन्तु कितने दिन के लिए तरजीह ? एक मास के लिए दो दिन लिए, आध घण्टे के लिए ?"

"आप विषय छोडकर बात कर रहे है।"

"जी नही मै उसी विषय मे बोल रहा हूँ, मै खास करके तरजीह देने के ही विषय मे बोल रहा हूँ, किन्तु मै पूछता हूँ यह तरजीह कितने दिन के लिए ?"

"कितने दिन के लिए ? बहुत दिन के लिए, अक्सर समग्र जीवन के लिए।"

"किन्तु महाशया ये बाते तो केवल उपन्यासो मे होती है, जीवन मे कभी नही। जीवन मे यह एक को दूसरे के ऊपर तरजीह देना क्वचित् ही कई साल से अधिक टिकता है। अक्सर तो ऐसा होता है कि इसकी आयु केवल कुछ मास, कई सप्ताह, कई दिन या कई घण्टे ही होती है।"

"ओह, आप तो भयकर बाते कह रहे है, मनुष्य मे अवश्य ही प्रेम नाम का एक पदार्थ है।"

"हाँ-हाँ, यह केवल मूर्खतापूर्ण उपन्यासो मे ही होता है कि 'आओ हम एक-दूसरे को समग्र जीवन प्यार करे।" केवल दुध-मुँहे बच्चे ही ऐसी बातो पर एतबार कर सकते है। किसी को समग्र जीवन प्यार करेंगे, यह बात कहना ऐसा ही हुआ जैसे कि कोई कहे कि वह एक मोमबत्ती को अनन्त काल तक जलायगा।"

"किन्तु आप तो केवल शारीरिक प्रेम की ही बात करते है, क्या आप उस प्रेम को नही समझ सकते जिसकी नीव आदर्शो के ऐक्य पर है—जो कि एक आत्मिक लगाव पर ही प्रतिष्ठित है ?"

"क्यो नही ? किन्तु इस हालत मे प्रजनन की कोई आवश्यकता नही है, और यह आदर्श का ऐक्य केवल सुन्दर तथा अधेड उम्र के लोगो मे ही प्राप्त होता है। इसीलिए मेरा दावा है कि यह प्रेम जो कि बताया जा रहा है कि विवाह को पवित्र करता है, दरअसल उसका सर्वनाश करता है।"

वकील ने बात काटकर कहा—"महाशय माफ कीजिये, घटनाएँ कुछ और ही बात कह रही है। हम देखते है कि विवाह-पद्धति कायम है और समस्त मानव-जाति—कम-से-कम उसमे से अधिकतर भाग दम्पत्य-जीवन ग्रहण करता है, और अधिकतर दम्पति बहुत समय तक सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करते है।"

"अच्छा ? आप कहते है कि विवाह की नीव प्रेम पर है, और जब मै कहता हूँ कि कामुकतामय प्रेम के अतिरिक्त किसी और तरह का प्रेम नही है, तो आप उसका अस्तित्व विवाह के प्रचलन से साबित कर रहे है। किन्तु जनाब असली बात तो यह है कि विवाह एक जबर्दस्ती और झूठ के सिवा कुछ नही है।"

इस प्रकार बात चलती जाती है, मुसाफिरो मे से एक सज्जन कहते है—"देखिये पोस्निशेफ (Posdnicheff) ने कैसे अपनी स्त्री को ईर्ष्या के कारण मार डाला।" जब बात-चीत यहाँ तक पहुँचती है तो मालूम होता है कि पोस्निशेफ मुसाफिरो मे स्वय मौजूद है। फिर क्या था, पोस्निशेफ अपनी राम-कहानी कहने लग जाता है। पोस्निशेफ इन शब्दो से अपनी राम-कहानी आरम्भ करता है—"प्रेम, विवाह, परिवार ये सभी बाते झूठी है, झूठी ? झूठी !"

"मै शुरू से ही आरम्भ करूँ। यह कहना आवश्यक है कि कैसे और क्यो मेरा विवाह हुआ और उसके पहले मै कैसा था। मैने तीस वर्ष की उम्र मे विवाह किया। इसके पहले मै व्यभिचार मे दिन-रात डूबा रहता था, और

ऐसा करते हुए भी समझता था कि मेरा नैतिक चरित्र निष्कलंक है। जिस परिवार मे मै पैदा हुआ था वहाँ व्यभिचार का नाम नही था, इसलिए मै दाम्पत्य-जीवन के सम्बन्ध मे एक कवित्वपूर्ण धारणा रखता था। इस धारणा के अनुसार मेरी स्त्री एक सर्वगुणयुक्त साध्वी होने वाली थी, हम लोगो का पारस्परिक प्रेम भी अतुलनीय होने वाला था। मै अपने को एक आदर्श ब्रह्मचारी समझता था, क्योकि मै किसी औरत को बरगलाता नही था, मुझमे कोई अप्राकृतिक बात भी नही थी।

"ऐसा रहते हुए भी अपने को एक भलामानुस समझता था। हाँ इस प्रकार मैने दस साल घोर अनैतिकता मे बिताये, किन्तु बराबर उस कवित्वमय समुन्नत प्रेम का स्वप्न देखता रहा। सोलह साल की उम्र के पहले ही मैने कुमार्ग मे कदम रखा था। लोगों ने इसके पहले मुझे बिगाड दिया था। स्त्रियो के सम्बन्ध में मेरी धारणा बडी कवित्व मडित थी। मेरे इस पतन से ऐसे व्यक्ति जिन्हे कि मै सम्मान करता था खुशी ही थे, वे कहते थे कि गाहे-बगाहे यह बात तन्दुरुस्ती के लिए अच्छी होती है। रही कोई घृणित बीमारी की बात, सो उसके लिए तो सरकार बडी सरगर्मी रखती है। नियमित रूप से वेश्याओ का निरीक्षण किया जाता है, इत्यादि। सरकार व्यभिचारियो के स्वास्थ्य का बडा ख्याल रखती है। डाक्टर भी, चूँकि उन्हे टका मिलता है कहते है कि एक दृष्टि से व्यभिचार मे भलाई है। मै ऐसी कुछ माताओ को जानता हूँ जो कि इस सम्बन्ध मे अपने लडको के स्वास्थ्य पर देख-रेख रखती थी। मजा तो यह है कि विज्ञान भी लोगो को वेश्यालय मे भेजता है।"

"विज्ञान कैसे?"—एक मुसाफिर ने पूछा।

"तो ये डॉक्टर विज्ञान के पण्डो के सिवा क्या है? नवयुवको को ऐसी बाते कहकर कौन बहकाता है? स्त्रियो का सिर कौन लोग यह कहकर फिरा देते है कि ऐसे उपाय है कि बच्चे न हो? कौन लोग ऐसे कुकर्मियो को जब प्रकृति से सजा मिलती है तो उनका इलाज करते है?"

"तो रोग का इलाज क्यो न किया जाय?"

"इसलिए महाशय कि रोग को आराम करने का अर्थ है व्यभिचारी का दिल बढाना,—यतीमखानो का भी यही मतलब है।"

"हाँ, लेकिन..."

"लेकिन-वेकिन कुछ नही, यदि जितनी चेष्टा रोग आराम करने मे लगाई जाती है, उसका सौवाँ हिस्सा व्यभिचार को दूर करने मे लगाया जाता तो यह रोग कब का दूर हो गया होता, किन्तु अब जा रहा है वह तो केवल रोग को

आराध्य करने के लिए हो रहा है जिसका अर्थ है व्यभिचार को उत्साहित करना। खैर तो इसका नतीजा यह हुआ कि मै दिन-ब-दिन व्यभिचार के गड्ढे मे गिरने लगा। मै कामुक हो गया। एक कामुक भी उतना ही अप्राकृतिक जीव है जैसा कि अफीमची या शराबी। चाहे वह कितनी भी चेष्टा करे, किन्तु वह एक युवती की ओर कभी भी भाई की दृष्टि से नही देख सकेगा। उसकी दृष्टि से ही यह बात खुल जायगी।"

"मै जब अपने अपराधो का स्मरण करता हूँ तो मेरे रोगटे खडे हो जाते है। फिर भी दिल्लगी यह है कि मेरे मिलने वाले मेरी अत्यधिक सिधाई के लिए मेरी खिल्ली उडाते थे। मै फिर भी विवाह के बारे मे स्वप्न देखता जाता था, इस उद्देश्य से मै कुमारियो को देखा करता था। मै स्वय तो पक में आकण्ठ मग्न था, किन्तु ऐसी पवित्र कुमारियो की तलाश मे रहता था जो कि मेरे योग्य होती। उनमे से बहुतो को तो मैने मन-ही-मन अलग भी कर दिया। फिर भी मैने एक को पा लिया जो कि मेरी ऊँचाई तक पहुँचती थी। इसका पिता एक ज़माने मे धनी था। यदि मै सच बात कहूँ तो, मेरी पीछा किया गया तथा उसकी माँ ने मुझे फाँस ही लिया। एक दिन मै उसके साथ चाँदनी रात मे टहल रहा था। उसके सौन्दर्य से मेरे दिल पर जैसे साँप लोट रहा था। एकाएक मैने निश्चय किया कि यह कुमारी वही है जिसके लिए प्रतीक्षा थी। दूसरे दिन मैने प्रस्ताव किया।

"जब वाग्दान हो गया तो मैने अपने जीवन का कुछ-कुछ हाल उसे बताया। बात यह है कि मेरा आखिरी किस्सा अभी ताज़ा था, वह उसे जान ही जाती। कुमारियाँ इस प्रकार की आबोहवा मे पाली जाती है कि वे समझती है कि युवकगण भी दूध के धुले हुए होते है। मेरी स्त्री ऐसी ही कुमारी थी। नतीजा यह हुआ कि जब उसने मेरी बात सुनी और समझी तो उस पर आतक छा गया। दाम्पत्य-जीवन का अच्छा श्रीगणेश रहा।"

"विवाह होने के बाद ही जो 'मधु-चन्द्रमा' होता है उसी के दौरान म मुझ मे तथा मेरी स्त्री मे झगडे हो गए। पहली बार झगडा हुआ तो मै आश्चर्य से अवाक् रह गया। दूसरी बार हुआ तो मै झिझका। हर बार झगडे के बाद जब शाति होती थी, तब कामुकता की एक बाढ आ जाती थी। धीरे-धीरे मै इन झगडो को रोजमर्रा की बात समझने लगा। पहले ही सप्ताह से मै यह समझने लगा कि मै फाँसा गया, बडी गलती हुई, किन्तु सब की तरह मैने इसे मानने से इन्कार किया। मै अब भी इसे नही मानता यदि वह घटना न होती।"

"पहले ही महीने मे मेरी स्त्री गर्भवती हो गई, किन्तु मै कामुकता से बाज नही आया। कहते है कि स्त्री तथा तथा दूसरे का आनन्द-विधान करते है। मै नही जानता बात क्या है। मै जानता हूँ शराब, स्त्रियाँ और गाने। मुसलमानो मे जो बहु-विवाह है उसमे तो सचाई है, किन्तु हमारे यूरोपीय बहु-विवाह मे तो झूठ ही है। हमारे यहाँ स्त्री-शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य यह है कि किस तरह पुरुष को बहकाया जाय।"

"मेरी स्त्री के प्रति मै ईर्ष्या का अनुभव करने लगा। वह ऐसे कि मै देख रहा हूँ कि कोई युवक मेरी स्त्री से बात कर रहा है, बात करते-करते वह मेरी स्त्री को देखता जाता है, और मुझे मालूम पडता है कि वह उसके शरीर की परीक्षा कर रहा है। भला उसे क्यो इतनी हिम्मत होती कि वह उसको इस प्रकार देखे, शायद वह सोच रहा हो कि मेरी स्त्री के साथ एक 'रोमास' हो तो कैसा रहे। और मेरी स्त्री इस बात को देख कर भी उसे सहन कर रही थी, यह देख कर मै हैरान था। केवल वह उसे सहन कर रही थी यह बात नही, मुझे तो यह मालूम हो रहा था कि इस बात से उसके दिल मे मधु घुल रहा था। इस बात मे मुझे दुःख हुआ, मेरी स्त्री ने मेरा ओर देखा, और मुझे देखकर और भी खुश हो गई, और प्रफुल्लता मे बाते करने लगी। मै ऐसी ही बातो से सन्देह करता था, छिप कर बाते सुनता था इत्यादि।"

"लडके उत्पन्न होने से होना तो चाहिए कि पुरुष और स्त्री मे अधिक मेल हो जाय, तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध मे गभीरता आ जाय, किन्तु होता है बिल्कुल विपरीत। बल्कि वे तो झगडे के एक और कारण हो जाते है। लडके भी दलबन्दी मे आ जाते है, कोई माँ का प्यारा होता है तो कोई बाप का। मेरे परिवार मे भी ऐसा हुआ, एक लडकी तो मेरी दुलारी हुई, और बडा लडका मेरी स्त्री का दुलारा हुआ। मै इस बडे लडके की जब-तब खबर लता था।"

"मुझे यह बात दुःख देती थी कि मै पुरुष हूँ फिर भी घर मे हुकूमत उसकी है। बच्चो के बल पर ही उसका यह आधिपत्य था। इसके अतिरिक्त वह मुझमे नैतिक रूप से श्रेष्ठ थी, जैसा कि हरेक दुलहिन अपने दुलहे से होती है। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि हमारी स्त्रियाँ बहुत मामूली होती है, उनका स्टैण्डर्ड पुरुषो की तरह ही होता है। किन्तु हमारी कुमारियाँ बडी उच्च होती है। तो क्या वजह है कि विवाह होते ही वे बिगड जाती है? इसकी वजह हम पतिदेवतागण है, हम उसे अपनी निचाई तक उतार कर ही

दम लेते है। फिर तो वे भी बकवाद करने वाली, सिद्धातहीन, गर्विता तथा बुरी हो जाती है।"

"मेरी स्त्री किसी ज़माने मे पिग्रानो बजाती थी, अब उसने फिर एकाएक पिग्रानो शुरू किया। यहाँ से उस पुरुष का आना-जाना शुरू होता है जिससे कि मुझ पर यह दुर्भाग्य आया। यह आदमी बहुत ही खराब था, मै इसलिए यह बात नही कहता कि उसी की वजह से मुझ पर यह दुर्भाग्य आया। वह सगीतज्ञ था। सगीत मे उसकी गति अप्रतिहत थी। यो तो देखने से उसके चेहरे पर गुडई झलकती थी, किन्तु जब यह वायोलिन बजाने लगता था तो उसका चेहरा उदात्त प्रशात हो जाता था, जैसे वह और ही आदमी हो जाता था। इस सगीत के सूत्र से ही इस व्यक्ति मे तथा मेरी स्त्री मे घनिष्ठता बढने लगी। मैने देख लिया कि यद्यपि वे दिखा रहे थे कि केवल सगीत ही मे उसकी दिलचस्पी है, पर बात कुछ और ही थी। यदि मै पवित्र होता तो इन बातो को समझ नही पाता, किन्तु मै तो सब किये हुए था, इसलिये समझ गया और जलने लगा। इसके अतिरिक्त मै यह भी जानता था कि मेरे प्रति मेरी स्त्री के मन मे एक बूँद भी प्रेम या सद्भाव नही है। इससे मेरे बदन मे और भी आग लग गई।"

"ऊपर से मै दोनो के प्रति भद्र रहता था। यह दिखाव कदाचित् मै इसलिये करता था कि मै अपनी स्त्री को दिखाना चाहता था कि मै उससे नही डरता। मै उस व्यक्ति को निमन्त्रण देकर खिलाता था, और सगीत का प्रदर्शन करने के लिए बुलाता था। एक दफे मै घर आया तो मैने जान लिया कि वह मेरे घर पर है। मेरे सारे बदन मे आग लग गई। मैने सोचा अब मामला यहाँ तक पहुँचा है, क्या पता ? सीना धक से हो गया। मै कमरे में जाके घुस गया, तो मेरी स्त्री पर जैसे बिजली गिर गई। किन्तु वह हिली-डुली नही, बनावटी हँसी हँस कर कहने लगी—बहुत अच्छा हुआ तुम आ गए, अगले रविवार के लिए हम क्या सगीत रखे इसको हम अभी तक तय नही कर सके।"

"मैने चुपचाप उस व्यक्ति से हाथ मिलाया। वह भी कहने लगा कि सगीत के सम्बन्ध मे बडी उधेड-बुन मे पडा है, कोई राय नही मिलती। बातचीत होने लगी, किन्तु वह मुझको ध्यान से देखता जा रहा था। बातो का मै भी उचित उत्तर देता जाता था, किन्तु मेरे मन मे यह पूर्ण विश्वास था कि यह सब मुझे झाँसा दिया जा रहा है, असली बात कुछ और ही हो रही थी। मेरे आने से अवश्य ही उनको दुख हुआ था, क्योकि बडी देर तक वे कुछ बोले नही। मुझे इच्छा हो रही थी कि इस व्यक्ति को मारकर निकाल दूँ, यह

आदमी जो कि मेरी स्त्री को गुमराह कर रहा है, तथा मेरे परिवार मे आग धधका रहा है, किन्तु समाज के नियमो से मै विवश था, मै हँसने लगा । मैने कहा कि मुझे उसकी सुरुचि के सम्बन्ध मे सम्पूर्ण विश्वास है, और मैने अपनी स्त्री को सलाह दी कि वह उसके चयन का अनुसरण करे ।

"उस दिन मै अपनी स्त्री से बोल नही सका । मै बोल ही नही सकता था, उसकी निकटता से मुझे डर लगता था कि न मालूम मै क्या कर डालूँ । खाते समय उसने बच्चो के सामने मुझसे पूछा कि मै कब बाहर जा रहा हूँ । मैने तारीख बतलाई, तो उसने पूछा कि मुझे मुसाफिरी के लिए किसी चीज़ की आवश्यकता तो नही है । मैने उत्तर नही दिया और मै मुँह बनाकर अपने कमरे मे चला गया । मेरे कमरे मे वह ऐसे समय कभी नही आती थी किन्तु आज आई । मै समझ गया कि उसने एक अपराध किया, उसी को छिपाने के लिए यह असमय आगमन है । मुझे और क्रोध आया, और मै सिगरेट पीने लगा ।"

उसने कहा—मै तो बात करने आई हूँ और तुम सिगरेट पी रहे हो ।

वह मेरे पास बैठ गई, मै जरा बच कर बैठा । वह बोली—मै देख रही हूँ कि मै रविवार को संगीत मे शामिल हूँगी इससे तुम नाखुश हो ।

मैने कहा—हर्गिज़ नही, मै इससे क्यो नाराज होने लगा ?

"बातचीत होते-होते मैने कहा—यदि तुम्हारे लिए परिवार का सन्मान कुछ नही है तो याद रखना कम-से-कम मेरे लिए उसका मूल्य है । जाओ—किन्तु वह गई नही । वह तो ऐसी बन गई कि कुछ समझी नही । वह गुस्से मे आ गई । वह मेरे ऊपर नाराज़ होने लगी । मेरा भी क्रोध बढने लगा, एक बार तो मेरी इच्छा हुई कि अपनी घृणा को भाषा मे ही न व्यक्त कर हाथा-पाई द्वारा व्यक्त करूँ । मै उठा और हाथ पकडकर उसे कमरे से निकालना चाहा, किन्तु वह फिर भी गई नही । वह बोली—'होश मे आओ' । अन्त मे मैने अपने को सँभाल लिया । वह देर तक बैठकर चली गई, घंटा भर बाद बूढी नौकरानी से मालूम हुआ कि उसे मूर्छा आ गई । मै देखने गया । सवेरे तक वह 'प्रेम' के प्रभाव से शान्त हो गई ।

"जिस रविवार को मेरे घर पर सगीत-सम्मेलन होने वाला था वह आ गया । इसमे त्रुखाचेवस्कि भी आने को था । बल्कि वह और मेरी स्त्री ही इस सम्मेलन के कर्णधार थे । मै इस मौके के लिए बहुत सी चीज़े खरीद लाया । बात यह थी कि मै दिखाना चाहता था कि मै ईर्ष्या नही करता । इतना होते हुए भी मै स्वाभाविक व्यवहार नही कर रहा था । मै बराबर अपनी स्त्री की

चितवन तथा त्रुखाचेवस्कि के ऊपर कडी निगाह रख रहा था। वह वायोलिन तथा मेरी स्त्री पिम्रानो बजाने वाली थी। कैसे उसने वायोलिन का बक्स खोला, कैसे उसका सुर मिलाने लगा ये जरा-जरा सी बाते भी मुझे स्मरण है। वे एक दूसरे की ओर कई क्षण तक देखते रहे, फिर वे एक दूसरे से बोले, फिर उन्होने जनसमूह के ऊपर दृष्टिपात किया। वे बिठोफेन का Sonate a Kreutzer बजा रहे थे।

"मजलिस खतम होने के बाद त्रुखाचेवस्कि मुझसे पूछने लगा मै कब बाहर जाऊँगा, और कब लौटूँगा। खैर मेरे पहले वह स्वय शहर के बाहर जाने वाला था। फिर क्या था हम लोगो ने एक दूसरे से विदा माँगी। पहले ही समय मैने उससे ऐसे खुले दिल से हाथ मिलाया।

"मै अपने काम से यथा समय जिले मे गया। दो दिन बाद मुझे पत्र मिला कि त्रुखाचेवस्कि आया था तथा उसने सगीत के लिए प्रस्ताव किया था, किन्तु मेरी स्त्री ने स्वीकार नही किया। मेरे बदन मे आग लग गई। कुछ दाल मे काला मालूम देता था। फिर मै सोचता था एक सगीत-व्यवसायी के लिए तो यह स्वाभाविक ही है कि पराई बहू-बेटी ताकता फिरे किन्तु मेरी स्त्री, लडको की माँ, नही-नही-नही—यह हो नही सकता। फिर मै और बातो को सोचता तो मुझे जान पडता कि कौन सी बात उसे रोकेगी ? रात भर इसी उधेड-बुन मे कटी। मै काम छोडकर घर चल दिया। गाड़ी मे मेरा समय बडी कठिनता से बीता, मै तो पागल हो रहा था और चाहता था कि तुरन्त पहुँच जाऊँ। मुझे मालूम देता था कि गाडी चल नही रही है। खैर जैसे-तैसे स्टेशन पर पहुँचा। वहाँ से घर पहुँचने के लिए मै इतना अधैर्य हो रहा था कि अपना सामान ही भूल गया, रास्ते मे यह बात याद आई किन्तु मै लौटा नही। मकान में घुसा तो पहली चीज़ जो देखी वह एक ओवरकोट था। इसको देखकर मुझे आश्चर्य नही हुआ, बल्कि मैने कहा यह तो मै जानता ही था। बच्चो के सामने ही ? किन्तु बच्चे तो बडी देर से सो रहे है, यही खैरियत है। मुझको तो रुलाई सी आने लगी, किन्तु मैने अपनी इस भावुकता को दबा दिया, और तत्पर होकर काम मे लगा। मैने नौकर को तो सामान लाने के बहाने टरका दिया, और स्वय कार्य के लिए उद्यत हुआ। इसमे तो कोई सन्देह नही रहा कि स्त्री ने मुझे धोखा दिया था, कोई बहाने की गुन्जाइश ही न थी। मै सीधे रास्ते को छोडकर दूसरे रास्ते से चलने लगा, मै सोचता जाता था—मैने इसे कभी धोखा नही दिया और यह पाँच बच्चो की माँ होकर इस प्रकार का आचरण कर रही ·····। यह स्त्री नही बल्कि घृणित

कुतिया है। मेरे दिमाग़ में केवल एक ही धुन थी कि कुछ करूँ । निष्क्रियता मुझे असह्य हो रही थी। मैने अपने जूते उतार दिए, एक छुरा निकाला और धीरे-धीरे आगे बढने लगा।

"मुझे उसके उस वक्त के चेहरे याद है जब कि मै किवाड खोलकर भीतर घुसा। मुझे एक विषादपूर्ण आनन्द हुआ। उसके चेहरे पर आतक सा छा गया। वह तो शायद मेज़ पर था, भय से उसका मुँह सूख गया, और वह पीछे हटने लगा। मेरी स्त्री के चेहरे पर भी भय था, तथा यह अनुभूति थी कि मेरा आना इस सुख की घडी में बहुत बुरा हुआ। मेरे हाथ मे छूरा छिपा था। फौरन ही वह सँभल गया, और अजीब तरीके से हँसकर बोला—हम लोग सगीतानुशीलन कर रहे थे।

मेरी स्त्री ने कहा--मुझे तुम्हारे आने की आशा नही थी।

"मै स्त्री पर टूट पडा और मैने छूरा उसकी छाती मे भोक दिया।"

संक्षेप में टालस्टाय का उपन्यास यही है। अप्रासगिक होने पर भी यहाँ कह देना आवश्यक है कि मेरे दिये हुए इस सक्षिप्त विवरण से जो कि कहीं अनुवाद है, कही छायानुवाद, कही सूत्र रूप से अनुवाद, पाठकगण टालस्टाय की कला को कूतने की चेष्टा न करे। मैने जिस सस्करण से इस गल्प का अनुसरण किया है, वह फ्रेंच मे है, और उसमे दो सौ से अधिक पन्ने है। मेरे इस छोटे लेख मे भला इस ग्रन्थ की कला कैसे आ सकती थी।

इस उपन्यास मे स्त्री और पुरुष के सम्बध पर जो दिशा ली गई है, उसमे उस समय के रूस के उच्चवर्ग की ह्रासशीलता सामने आ जाती है। हमारे देश के उच्चवर्ग के सम्बध मे यह चित्र बहुत कुछ सत्य है।

# ३३
# त्याग की झूठी धारणा

हमारे ऋषि-मुनि सर्वदा एक विशेष प्रकार के त्याग का उपदेश देते आए है। "अर्थमनर्थम् भावय नित्यम्"। "मा कुरु धनजनयौवनगर्वं, हरति निमेषात् काल· सर्वं", कबीर साहब की भाषा मे "रूखा सूखा खाइकै ठडा पानी पीव" तथा परमहस राम कृष्ण की भाषा मे "कामिनी-काचन त्याग करो" यही हमारे ऋषि-मुनियो की शिक्षा थी। कम-मे-कम लोग ऐमा ही समझते है, और तदनुरूप आचरण करने की चेष्टा करते है। यह धारणा हमारे देश मे इतनी प्रबल है, और उससे इतनी भारी हानि हो रही है कि शीघ्र-से-शीघ्र इसका मूलोच्छेद कर डालना चाहिए। "गरीबी कोई पाप नही है" यह बात सच्ची हो सकती है, किन्तु इस प्रकार दरिद्रता, दासता तथा अकर्मण्यता को पुण्य करार देना नितान्त हानिकर सिद्ध हो रहा है। यह बात नही कि भारतवर्ष मे ही कृच्छ्र-साधन की ऐसी धारणाएँ रही है, ईसाई तथा मुसलमानो मे भी ऐसी धारणाएँ प्रचलित थी, उनके इतिहास को खोजने से इसके सैकडो उदाहरण मिलेगे। किन्तु भारतवर्ष मे यह धारणा जिम हद तक ले जाई गई है, उतनी हद तक कही नही ले जाई गई। भारतवर्ष मे ऐसी विचार-धारा की प्रबलता होने के कारण ही भारतवर्ष का पतन हुआ, या भारतवर्ष का पतन होने के ही फलस्वरूप तसल्ली के तौर पर ऐसे विचारो का तथा दर्शन शास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ, इस प्रश्न को हम अन्य मौके के लिए छोड देगे। किन्तु हम इतना कह सकते है कि जब तक त्याग की ऐसी कायरतापूर्ण तथा पुरुषार्थहीन धारणा रहेगी, तब तक भारत का पुनरुत्थान असम्भव है। हम एक झूठे त्याग की धारणा के वशवर्ती होकर असली त्याग से मुँह मोडकर शक्ति का अपव्यय करेंगे।

त्याग का आदर्श एक महान् आदर्श है। सच बात तो यह है कि मै त्याग को प्रेम का ही दूसरा नाम समझता हूँ। किन्तु जहाँ त्याग नही है, है अकर्मण्यता, गुलामी, परवशता, वहाँ त्याग का आरोप करके अपनी अवनति से सन्तुष्ट

रहना बड़ी निंदनीय बात है। जब कोई बात हो ही नही सकती, तो कह दिया कि हम इसे चाहते ही नही, यही हमारे त्याग की पोल है। जब "अर्थ" हो ही नही सकता, चूल्हा कभी सुलगा ही नही, घर मे भूजी भाँग भी नही अँतडियाँ सूख गई, हमेशा फाके-मस्ती का सामना हुआ, और भविष्य मे भी उससे छुटकारे की उन्हे कोई आशा नही थी, तो वे क्यो न अर्थ को अनर्थ सोचते। अब उनके दुश्मनो के हिस्से मे सब जर्दा-पुलाव पड गया, तो वे रूखा-सूखा खाकर ठडा पानी न पीते तो क्या झख मारते? परमहस रामकृष्ण के कामिनी-काचन-त्याग का भी यही रहस्य है। जिस जाति के लोगो मे आधे आदमी भरपेट कभी नही खाते, जहाँ की मध्यवित्त श्रेणी बही खाता लिखते-लिखते अन्धी हो रही है, वहाँ ऐसे मत पैदा हुए तो कोई आश्चर्य नही है। आखिर जितनी भी विचार-सरणियाँ है, वे मुक्त तो है नही, वे Socially conditioned है। होते-होते लोगो ने अपनी दुर्बलता को ढकने के लिए इस विषय पर एक दर्शन-शास्त्र खडा कर दिया। कालान्तर मे जाकर यदि उसे भारतीय दर्शन का स्वरूप प्राप्त हो गया तथा यह विचार उसकी चाभी बन गया हो तो कुछ आश्चर्य नही। अवनत तथा गुलाम जातियो मे भारतवर्ष का ही नम्बर सबसे ऊँचा रहा। शायद तभी इस देश के रहने वालो मे पारलौकिकता का सितारा भी सबसे बुलन्द रहा। जिनका यह लोक छिन गया है, जिनकी धन-राशि लुट गई, जिनकी स्त्रियाँ हर ली गई, वे यदि कामिनी-कांचन त्यागकर परलोक के सम्बन्ध मे खयाल-आराइयाँ न करते तो क्या करते? हमारी त्याग-सम्बन्धी यह विचार-धारा पिछली गुलामी तथा हर क्षेत्र मे पगुता की एक अनिवार्य उपज है।

बजाय इसके कि हम अपने रहन-सहन की मात्रा को क्रमशः बढावे—अवश्य रहन-सहन की वृद्धि आम होनी चाहिए—कुछ लोग यह प्रचार करते देख पड रहे है कि कम-से-कम वस्तु से ही सतोष रखे। अवश्य केवल वैयक्तिक रहन-सहन की वृद्धि का हम समर्थन नही कर सकते, किन्तु सार्वजनिक रहन-सहन की वृद्धि हरेक राष्ट्र का ध्येय होना चाहिए। बल्कि इसी मे उसकी सफलता तथा सार्थकता है। जो लोग हमे रूखा-सूखा खाकर ठडा पानी पीने के लिए कहते है हम उनसे पूछते है, "क्यो? क्यो हम ऐसा करे?" इसका सबसे अच्छा उत्तर जो दिया जाता है, वह यह है कि खाने-पीने की हद करके देखा जा चुका है कि कभी तृप्ति नही होती। मानना पडेगा कि इस तर्क में कुछ जान है, किन्तु हमारी माँग यह थोडे ही है कि हम गुलाबजल मे नाव खेवे, दूध के कुल्ले करे, नोट जलाकर तम्बाकू पिये। हम तो सुरुचिपूर्ण

तथा स्वास्थ्यकर हद तक ही जाना चाहते है । मान लीजिए, डॉक्टर हमे यह बताते है कि प्रत्येक आदमी के शरीर को स्वस्थ रखने के निमित्त आधी छटॉक घी की, आध सेर दूध की तथा एक अडे की कम-से-कम आवश्यकता है, तो जो धर्म, सदाचार या पैगम्बर हमे इससे कम मे सन्तुष्ट रहने को कहेगा, हम उस धर्म को गुमराह तथा पैगम्बर को नासमझ करार देगे। ऐसा ही हर एक बात मे समझ लिया जाय।

त्याग की इस झूठी धारणा की वजह से हमारी सभ्यता, सस्कृति तथा दृष्टिकोण सभी एकागी हो गए है। बनते-बनते यह धारणा हमारे स्वभाव का एक अग हो गई है, और अब हम इस प्रकार उसके शिकजे मे जकड गए है कि दूसरे तरीके से सोच ही नही सकते। जहाँ त्याग नही है, वहाँ हम त्याग का आरोप करते है। इसका नतीजा यह होता है कि हमे जहाँ त्याग की आवश्यकता है, वहाँ हम खीसे निकालकर रह जाते है। हम यहाँ पर राजनीतिक त्याग का ज़िक्र नही कर रहे है। उसम तो देखा जा चुका है कि कुछ योग्य रहनुमाओ के रहते हुए भी हम आवश्यक परिमाण मे त्याग नही कर पाये। हम गौरीशकर या काचन गगा के अभियानो की बात को ही लें। ये दोनो स्थान हमारे देश में है। किन्तु इन पर आकर अभियान करे जर्मन और अन्यान्य लोग हमारे देश की युवक-शक्ति के लिए कितनी लज्जा की बात है ? हमारे देश की भाषाओ की पैमाइश करे ग्रियर्सन साहब, हमारे इतिहास पुरातत्त्व तथा मुद्राओ पर गवेषणा करे अन्य देश के लोग। और हम, हम तो त्यागी ही ठहरे। इसलिए हम तो केवल "ठंडा पानी पीव"। ऐसे दर्शनशास्त्र के होने का लाभ सिर्फ इतना ही हो गया है कि हम ग़रीब और ग़ुलाम तो थे ही, अब ढोंगी भी हो गए।

एक मात्रा तक इन्द्रिय-निरोध बहुत अच्छा है, बल्कि अवश्य कर्तव्य है, सभ्यता की यही माँग है। प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य सर्वथा इन्द्रियो के वश में रहता था। जब जैसा जी मे आया, तब वैसा किया। यदि उसकी इच्छा में कोई बाधा थी, तो प्रकृति थी, या औरो के मुकाबले मे उसकी दुर्बलता। इन्द्रियो का अनुगमन असभ्यता थी,इसलिए कुछ लोगो की दृष्टि मे इन्द्रिय-निरोध ही चरम सभ्यता हुई। सयम अच्छा है, सयम की शिक्षा की भी आवश्यकता है। किन्तु उपभोग-मात्र को घृणा की दृष्टि से देखना कोई स्वास्थ्यकर मनोवृत्ति नही है। इसमें कही-न-कही रोगी मनोवृत्ति है। या तो इसका मतलब यह है कि हम उसे पा नही सकते, या पाये भी तो उपभोग नही कर सकते, इसका नतीजा बाद को जाकर बुरा होता है। हम उपभोग करते भी है तो

डरते-डरते। नतीजा यह होना है कि उपभोग का पूरा मजा हम उठा नही पाते। इसके अतिरिक्त उपभोग के बाद हम हमेशा एक दुविधा मे पड जाते है। जाने हमने अच्छा किया था नही, न करते तो अच्छा होता। इस प्रकार हमारी सारी मानसिक काठी ही एक विषादपूर्ण रँग मे रंग जाती है। हम सयम तथा उपभोग, दोनो मे अक्षम हो जाते है। हम एक नाम-हीन परिभाषा-हीन यन्त्र (Mechanism) मे परिणत हो जाते है, जो कि केवल गुलामी के पहियो के द्वारा ही चल सकता है। सयम की अति करने की चेष्टा मे हमारा पतन बडे जोर से होना है। फिर तो हम कही रुकते ही नही। हम समझते है कि जितना ही हम इन्द्रिय-निग्रह करेगे, उतना ही भला है। किन्तु साथ ही यह देखते है कि पूर्ण इन्द्रिय-निग्रह असम्भव है। अतः हमारा मन एक कुरुक्षेत्र हो जाता है जहाँ यह कुरु-पाडव-युद्ध बडे तुमुल वेग से हुआ करता है। हम उस सतत युद्ध का कोई स्वाभाविक तथा मानवीय निपटारा कर नही पाते। परिणाम यह होता है कि हम ऊपर से तो उसी दिखावे को जारी रखते है, और बँगला मे जैसा कहते है, भीतर-भीतर डूबकर पानी पीते है, और पीते है बहुत गँदला पानी।

यौन (Sexual) तथा अन्य बातो मे लोग जो विपरीत मार्ग (Perverse) का अवलम्बन करते है, उसके मूल मे एक तरँफ तो अत्यन्त सयम तथा दूसरी ओर इद्रियानुगमन है, जब प्राकृतिक मार्ग पर इंद्रियानुगमन की अति कर दी जाती है तो कुछ समय के उपरान्त उसमे सुखानुभूति जाती रहती है, या अत्यन्त निस्तेज हो जाती है। तब पात्र अप्राकृतिक मार्ग पर दौड़ता है कि देखें उसमे क्या है। ऐसे ही अतिसयम तथा कृच्छ्र का भी मन के ऊपर बुरा असर होता है। इस विषय को लेकर बड़े-बड़े लेखको ने बडे-बडे उपन्यास लिखे है। हम यहाँ पर आनातोल फ्रास-लिखित 'थायस' तथा 'ग्रात्सिया देलेद्दा' लिखित 'बेचारी मा' का उल्लेख करेंगे। स्मरण रहे, इन दोनो व्यक्तियो को नोबुल पुरस्कार मिल चुका है। देलेद्दा लेखिका है।

'थायस' पर कुछ कहने के पहले हम आनातोल की एक अन्य पुस्तक Les opinions de M. Jerome Coiguard से कुछ उद्धृत करेंगे। सूत्र रूप से 'थायस' का प्रतिपाद्य विषय उसमे आ गया है। आनातोल लिखते है—"मेरे गुरुदेव ने कहा, प्रलोभन भी एक आवश्यक उपादान है। कभी-कभी प्रलुब्ध भी होना चाहिए। दुनिया मे आकर प्रलुब्ध होना. यह तो मनुष्यो का तथा ईसाइयो का प्रारब्ध ही है। इससे कोई बच नही सकता। सबसे बडा जो प्रलोभन है, वह भीतर से आता है, बाहर से नही। अश्लील तसवीरो को

हटाने के लिए तुम इतने व्यग्र हरगिज नही होते, यदि तुमने मरुभूमि मे रहने वाले साधुओ के जीवन का विशद अध्ययन किया होता, तुम्हे मालूम होता कि भयकर एकातता मे रहते हुए सब तरह के श्लील या अश्लील चित्रो से दूर, सतत कृच्छ्र-साधन करते हुए भी, उपवास से जर्जरित होने पर भी कटकशय्या पर पडे हुए भी, वे वासनाओ के द्वारा मज्जा तक ग्रस्त हो जाते थे। यत्र-तत्र तुमको जो नग्न नारी-मूर्तियाँ दिखाई पडती है, उन्हे अपनी सुनसान कुटिया मे इससे कही हजार गुनी अधिक प्रलुब्धकारिणी स्त्रियो के चित्र का सामना करना पड़ता था। शैतान (जिसको कि असच्चरित्रगण प्रकृति कहते है) किसी भी चित्रकार की अपेक्षा अश्लील चित्रो का श्रेष्ठतर चित्रकार है।

'थायस' का विषय यही है। जेम्स लुइस ने इस पुस्तक के सम्बन्ध मे लिखा है कि इसमे हमारी इन्द्रियवृत्तियो तथा आत्मा का चिरन्तन द्वन्द्व चित्रित किया गया है। किन्तु मै इसमे इस प्रकार के द्वन्द्व के अतिरिक्त अति सयम का दुष्परिणाम देखता हूँ। इस पुस्तक मे यान्फूस-नामक अति सयमी ससार-त्यागी का दु.खद अन्त दिखलाया गया है। यान्फूस बडा भारी तपस्वी है। दूर-दूर तक उसका यश परिव्याप्त है। कोई कृच्छ्र, कोई सयम, कोई उपवास ऐसा नही है, जो उससे बचा हो। लोग उसकी ईश्वर-भक्ति पर मुग्ध है। यान्फूस भी आत्मतृप्त है। कोई वासना उसके मन मे धुँधुआ नही रही है। वह बिलकुल जितेन्द्रिय है। उनको उसने ऐसा वश मे कर लिया है कि वे भग्नदंत सर्प की भाँति शात है। किन्तु एकाएक उसके मन मे एक पुरानी बात की स्मृति जाग उठती है। एलेक्जेड्रिया मे एक लडकी है। हाँ, वह अब पाप-जीवन व्यतीत कर रही है। उसका उद्धार करना चाहिए। हज़रत ईसा-मसीह की पवित्र वाणी उस तक क्यो न पहुँचाई जाय ? बस, वह इस बात पर दिन-रात विचार करता है, उपवास रखता है, और ईश्वर से प्रार्थना करता है कि उसका कर्तव्य क्या है। अन्त तक उसे विश्वास हो जाता है कि ठीक है, उसे जाना चाहिए। वह असा उठाकर ईश्वर का नाम लेकर रवाना हो जाता है। हम गल्प के सूत्र का पूर्ण रूप से अनुसरण नही करेगे। सार यह है कि अन्त तक यान्फूस का पतन होता है। हमे उसके पतन से कोई आश्चर्य नही होता। अतिसयम या मेरुदड-हीन सयम का यह अनिवार्य परिणाम है।

देलेद्दा की पुस्तक का केन्द्रस्थल पाल-नामक एक युवक पादरी है। रोमन कैथोलिक पादरियो को विवाह करने का अधिकार नहीं है। पाल बहुत दिनो तक इस नियम का सचाई के साथ पालन करता रहा, कितु बाद को वह एक युवती के प्रेम-पाश मे आबद्ध होकर छटपटाने लगता है। वह अपने शृगार आदि

करता है। पादरी के यहाँ आईना होना निषिद्ध था। पादरी को भूल जाना चाहिए कि वह शरीरधारी है। किंतु पाल इसके विपरीत आईने पर मुग्ध था। पाल की माँ, जो कि कि पुत्र के पादरीपन से बडी खुश है, पुत्र के इस परिवर्तन को देखती है और घबराती है। वह भरसक कोशिश करती है कि उसका पुत्र इस प्रलोभन मे विजयी हो। वह उसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करती है, यहाँ तक कि खुलकर पाल को स्पष्ट शब्दो मे सचेत कर देती है।

पाल जिस जगह पर तैनात था, उसी जगह पर पहले एक बूढे पादरी का पतन हुआ था। पाल की माँ जब पुत्र के सम्बन्ध मे इस उधेड-बुन मे पड़ी हुई है, उस वक्त वह बूढा पादरी स्वप्न मे उसके आगे प्रकट होता है। वह कहता है "उसे उस स्त्री का परिचय पा लेने दो। नही तो जो बात मेरे पतन का कारण हुई, वही उसके भी पतन का कारण होगी। जब मै बिलकुल नवयुवक था, तब मुझे किसी स्त्री के आमोद-प्रमोद से कोई प्रयोजन नही था। मै केवल स्वर्ग पाने की धुन मे था। पर मैने यह नही जान पाया कि स्वर्ग इसी भूमण्डल पर है। जब मैने यह बात जान पाई, तब मै किसी काम का न था। अवसर निकल गया था। इस प्रकार उस बुढ्डे का पतन हुआ था, वह आवारो के साथ हो गया था।

माँ की दुश्चिता के होते हुए भी पाल अपनी प्रेयसी एगनेस से मिलने जाता है। वह लौटकर प्रतिज्ञा करता है कि नही जाऊँगा, किन्तु घटना-चक्र उसे वहाँ ले जाकर ही मानता है। न जाने की प्रतिज्ञा करने के बाद जब वह जाता है तो पहले से अधिक खुलकर मिलता है। अब तक केवल बाते होती थी, किन्तु इस बार पाल उसकी गोद मे गिर पडता है दोनो एक दूसरे के भुजपाश मे आबद्ध हो गए, अधरो से अधर उत्तप्त होकर मिल गए।

पाल फिर भी युद्ध करता है, किंतु प्रेम ज़ोर मारता है। वह एगनेस से कहता है—"मै समझता हूँ, हम लोगो ने वर्षो से एक दूसरे को प्यार किया है, हम लोगो ने दूसरो के हृदयो मे खटकने वाला आनन्द उठाया है, मरणांत कष्ट सहे है। एगनेस, मेरी आत्मा की आत्मा एगनेस, अब और बडी वस्तु तुम मुझ से क्या चाहती हो? मै तुम्हे क्या दे सकता हूँ? आत्मा से बढकर मेरे पास क्या है?"

ये आजन्म ब्रह्मचारी पाल के वचन है। संयम की अति का यह नतीजा अनिवार्य था:

अब मै अपने जीवन से एक उदाहरण देकर इस बात को समाप्त करता हूँ। मैने जेल के बाहर कभी चौबीस घटे का भी उपवास नही किया था, मुझसे

शायद होता भी नही, किंतु जेल मे जिद में आकर बडी कठिन परिस्थिति में चालीस तथा बावन रोज तक का उपवास किया। एक दफे तो बिलकुल मौत के करीब पहुँच गया था। पन्द्रह-पन्द्रह दिन के उपवास तो न-मालूम कितने दफा किये। इन उपवासो मे मैने एक बात का खूब अनुभव किया कि सयम की अति को भले ही कोई निभा ले जाय, किन्तु उसका असर मन पर कुछ और ही होता है। हम इधर अखड मानसिक शक्ति तथा आदर्श के बूते पर शरीर से तो उपवास करते थे, किंतु मन हमारा बिलकुल उच्छृङ्खल हो जाता था। रात को स्वप्न मे रसगुल्ले, गुलाबजामुन और तरह-तरह की मिठाइयो के दर्शन होते थे। यदि दो अनशनकारी इकट्ठे रखे जाते है, जैसा कि कई बार होता है, तो वे आपस मे खाने-पीने की चीजो के सम्बन्ध मे बातचीत करते है। कई बार मैने यह भी खयाल किया कि जबरदस्ती यदि दूसरे विषयो मे बातचीत करना चाहते है तो भी लुढकते-पुढकते खाने की चीज़ पर ही पहुँचते है। ऐसे विषय मे बात करने पर भी उस समय कुछ अजीब ही तृप्ति होती है। साधारण अवस्था मे जिस चीज को खाना हम इज्जत के खिलाफ समझेगे, उस समय उसकी कल्पना से ही हमारे मुँह मे पानी भर आता है। केवल इच्छा-शक्ति के प्रबल प्रयास से ही तथा आदर्श के जोर पर ही हम व्रत को निभाते रहे।

इस अति सयम का फल केवल तात्कालिक ही हो, ऐसा नही। कई बार तो यह स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है। वे ही अनशनी, जो अनशन के काल मे सयम की पराकाष्ठा दिखलाता है, अनशन टूट जाने के बाद ही इस प्रकार पेटूपन दिखलाता है, जिसको देखकर विश्वास करना मुश्किल हो जाता है कि यह वही आदमी है, जिसने सैकड़ो निर्यातनो के होते हुए भी तनिक दूध तक पीने से इन्कार किया था। अनशन के बाद कुछ दिनो तक बड़ी सावधानी से रहना चाहिए; क्योकि मेदा नरम होता है। किन्तु उस वक्त पेट मे तो राक्षस-सा समा जाता है। कौन डॉक्टर की सुनता है। जो कुछ सामने आया—हप! इसके फलस्वरूप भयंकर पेचिश तथा अन्य पेट-सम्बन्धी रोगो का सामना होता है। यदि ये रोग स्थायी हो जायँ तो क्या ताज्जुब? एक अनशनी के बारे में तो यह देखा कि उन्होने वर्षो से मास-भोजन तरक कर रखा था; किन्तु २१ दिन के कठिन उपवास करते समय उनके मन मे और चीजो के साथ-साथ मांस-भोजन की भी प्रबल इच्छा हुई। अब अनशन खुदा-खुदा करके खतम हुआ, तो मांस के लिए वे कोशिश करते रहे। मास न मिला तो वे अपने स्वभाव के विरुद्ध अपने हाथ से कबूतर मारने को फिरने लगे।

मेरा यह सुचिन्तित मत है कि खाने-पीने मे इन्द्रिय-सम्बन्धी सभी बातो में एक ओर तो अतिमयम तथा अनशन के दक्षिणमार्ग तथा दूसरी ओर सम्पूर्ण इन्द्रियानुगमन के वाममार्ग का परित्याग करना चाहिए । रहन-सहन के स्टैंडर्ड को बढाने मे गौरव समझना चाहिए, न कि घटाने मे । अवश्य आदर्श तो यह है कि रहन-सहन की सार्वजनिक उन्नति हो, न कि केवल वैयक्तिक । यौन आदि मामलो मे विपरीतता ( Perversity ) के प्रचार के लिए अति दक्षिणमार्गी उतने ही ज़िम्मेदार है, जितने कि अति वाममार्गी । सच बात तो यह है कि समाज मे हम जिन्हे वाममार्गी करके जानते है, वे अक्सर असफल या पतित दक्षिणमार्गी है । हमे त्याग की झूठी धारणाओ को छोडकर सच्चे त्याग की ओर प्रवृत्त होना चाहिए । वह त्याग, जो कि एक सही दिमाग़ तथा स्वस्थ जाति के एक सही दिमाग़ तथा स्वस्थ सदस्य के उपयुक्त है ।

३४

# विकासवाद और धर्म

विज्ञान-जगत् के क्षितिज मे आइनस्टाइन-रूपी मार्तंड के अभ्युदय के पहले एक-मात्र डार्विन का ही बोल-बाला था। विज्ञान की जिस शाखा मे देखिए डार्विनवाद या विकासवाद का अखड साम्राज्य था, दर्शन की पुस्तको मे इसी की तूती बोलती थी। इसके सामने किसी वाद की नही चलती थी। यो तो वैज्ञानिक बहुत हुए है, किन्तु, डार्विन ने जिस मत का वैज्ञानिक प्रतिपादन किया है, वह अत्यन्त युगान्तरकारी तथा क्रातिकारी था। वैज्ञानिक प्रतिपादन शब्द का इसलिए प्रयोग किया गया कि डार्विन के पहले गेटे तथा लामार्क ने इस सिद्धान्त का खाका-सा खीच दिया था, गेटे तथा लामार्क को इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे एक तरह का विश्वास-सा था कि यह सिद्धान्त सत्य है। डार्विन ने दीर्घकालीन प्रयोग, भ्रमण तथा गवेषणा के बाद जिस रहस्य का उद्घाटन किया, उससे उस युग के वैज्ञानिको के सम्मुख जो गुत्थियाँ थी सब सुलझ जाती थी, सब बाते एक नई रोशनी मे नजर आती थी, इसलिए उसका इतना महत्त्व है। विकासवाद को केवल जीव-विज्ञान का एक सिद्धान्त कहना भूल होगी, यह हमारे भूतकाल पर रोशनी डालता है, वर्तमान को स्पष्ट करता है, तथा हमे बताता है कि भविष्य मे 'हम किस ओर' यात्रा कर रहे है।

केवल उन्नीसवी सदी के वैज्ञानिको मे ही नही, सर्वकाल के वैज्ञानिको मे डार्विन का स्थान प्रमुख है। यदि आइनस्टाइन पैदा नही होते, तो डार्विन को ही कदाचित् जगत् का सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक माना जाता। चार्ल्स डार्विन पर सैकडो पुस्तके तथा पुस्तिकाएँ लिखी जा चुकी है जीव-विज्ञान से आरम्भ करके डार्विन के विकास-वाद ने सर्वत्र अपना जादू फैला दिया है। एक जमाने मे लोगो ने इसके विरुद्ध बडी कयामत बरपा की थी। बहुत-से लोग तो विकासवाद के प्रतिपादन को सुन-कर पाजामे से बाहर हो गए थे, उन्होने कहा—"क्या? मनुष्य दूसरे इतर प्राणियो की परिणति-मात्र है? छि.! यह कभी नही हो सकता।" बात यह है कि इस सिद्धान्त से धर्मवादियो के सृष्टि तत्त्व पर हडताल-सी फिरी जा रही थी,

उन्होने इसलिए हर बुरे-भले तरीके से विरोध किया, खूब कोशिशें की कि विकासवाद के पाँव उखड जायँ, किन्तु कुछ नही। डार्विन ने बडी मजबूती से इसकी नीव डाली थी, इसलिए इसका बाल बाँका न हो सका। नवीन-नवीन खोजो से तथा प्रयोगो से इस सिद्धात की और भी परिपुष्टि हुई।

अब स्थिति यह है कि कोई भी व्यक्ति, जिसकी बुद्धि अन्ध-परम्परा से कुण्ठित नही हो गई है तथा जिसके दिमाग को धर्मरूपी लकवे ने एकदम बेकार नही कर दिया है, वह मानने के लिए बाध्य है कि विश्व मे जो कुछ भी हो रहा है वह एकदम नही हो रहा है, बल्कि वह युग-युगान्तर की अनवरत परिणति का ही परिणाम है।

डार्विन के जीवन-काल ही मे फिट्ज मूलर तथा हेकल ने उनके सिद्धान्त का पाया और भी मजबूत कर दिया था। हेकल स्वय एक बडा मशहूर तथा भारी-भरकम वैज्ञानिक हुआ है। उसकी Weltkratsel (विश्व की पहेली) एक ऐसी पुस्तक है जिसका सभी सभ्य भाषाओ मे अनुवाद हो चुका है और जिसको सभी जानते है, किन्तु उनके वैज्ञानिक अनुसधानो के विषय मे लोग बहुत कम जानते है। हेकल ने अपनी Natur und mensch ( प्रकृति एव मानव ) नामक पुस्तक मे डार्विनवाद पर जो लिखा है उसी का कुछ उद्धरण यहाँ देगे। यो तो यह सारी पुस्तक ही डार्विनवाद का भाष्य है, किन्तु हम केवल उनकी कुछ ही उक्तियो को यहाँ उद्धृत कर सकते है। हेकल लिखते है—

"अँगरेज प्रकृतितत्त्ववेत्ता चार्ल्स डार्विन ने १८६६ मे Origin of species-नामक ग्रन्थ की रचना करके जिस बौद्धिक आन्दोलन को जन्म दिया, वह थोडे ही समय मे गहराई तथा विस्तार मे बहुत फैल गया। है तो यह प्राकृतिक विज्ञान का एक साध्य, किन्तु विश्व के क्रम-विकास मे जाकर यह खत्म होता है। × × × डार्विन के जरिये से जिस सिद्धान्त का आविष्कार हुआ, और जो जाकर प्राकृतिक विज्ञान का सबसे प्रमुख सिद्धान्त हो गया, उसको लोग विभिन्न नामो से अभिहित करते है। साधारण तरीके पर तो इसे वशावरोह-सिद्धान्त (Deszendenztheorie) कहते है, किन्तु इसे क्रम-परिवर्तन सिद्धान्त ( Transmutationtheorie oder auch Kurz transformismus ) भी कहते है। दोनो सज्ञाएँ ठीक है, क्योकि इस सिद्धान्त मे यह प्रतिपादन किया जाता है कि सभी प्राणी तथा वनस्पति की जातियाँ ( जो कि अब जीवित है या कभी थी ) एक ही अथवा कुछ अजटिल किस्मो से उद्भूत है, और वे उससे अथवा उनसे उद्भूत होकर वर्तमान अवस्था को प्राप्त हुई है। यद्यपि इस सिद्धान्त की ओर उन्नीसवी सदी के प्रारम्भ के कुछ

प्रकृतितत्त्ववेत्ताओं ने इशारा कर दिया था, किन्तु यह डार्विन का ही काम था कि उन्होने इस सिद्धान्त को जड तक जाकर पूर्णता के साथ प्रमाणित किया। यही कारण है कि यह सिद्धान्त डार्विन का सिद्धान्त कहलाता है, यद्यपि यह बात कहना कि यह सिद्धान्त डार्विन का ही सिद्धान्त है, कुछ हद तक सत्य का अपलाप करना है।"

यह तो हुई हेकल की बात। हेकल के इस मन्तव्य के बाद एक युग व्यतीत हो चुका, फिर भी सिद्धान्त अब तक सर्वमान्य बना हुआ है, तथा बहुत-सी बातो की एक-मात्र व्याख्या, सुलझन तथा हल है, और जितने ही दिन बीतते जाते है उतने ही उसके सपक्ष मे अधिकतर मसाले इकट्ठे हो रहे है। इस सम्बन्ध मे सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लेखक जे० वि०एस० हलडेन की सन् १९३४ ई० की राय दी जा रही है। वे अपने Facts and faith नामक ग्रथ मे कहते है "जीव विज्ञानवेत्तागण इस विषय पर सर्वैव एकमत है कि क्रम-विकास हुआ है, अर्थात् इस समय जो वस्तुएँ जीवित है वे ऐसे पूर्वपुरुषो से उद्भूत हुई है, जिनसे उनकी बडी विषमता है। केवल कुछ ही व्यक्ति जिनमे कि एक जेसुइट कीटतत्त्ववेत्ता (Entomologist) है, इस सिद्धान्त के विस्तार को घटा देना चाहते है, किन्तु जहाँ तक मुझे पता है, कोई इसे अस्वीकार नही करता।"

अन्यत्र वे ही विद्वान् लिखते है—"डार्विन के सिद्धान्त के आविष्कार के बाद जो ६० या अधिक साल व्यतीत हो गए है, उस समय के अन्दर कोई भी तथ्य ऐसा आविष्कृत नही हुआ जो अनिवार्य रूप से विकासवाद के साथ असगत हो। × × विकासवाद की व्याख्या के क्षेत्र मे डार्विन के विचार अब तक प्रबल है तथा बाद की खोजो से उनमे बहुत कम परिवर्तन हुए, यद्यपि डार्विन के समसामयिक पदार्थविद्याविशारद तथा रासायनिको के मतो में बहुत कुछ सुधार करना पडा है।"

ऊपर दी हुई बातो से वैज्ञानिक-जगत् मे डार्विन का स्थान बहुत स्पष्ट है। वर्तमान लेख म हम डार्विन के धर्म-सम्बन्धी मत का दिग्दर्शन करायँगे, किन्तु ऐसा करने के पहले हम डार्विन के जीवन की कुछ मोटी-मोटी बातो पर रोशनी डालेगे। किसी मनुष्य के मतवाद को उसकी गहराई तक समझने के लिए यह परमावश्यक है कि हम उसको जाने, बल्कि सम्यक् बोध के लिए यह भी आवश्यक है कि वह जिस देश तथा काल मे उत्पन्न हुआ है उसको भी हृदयगम करे। डार्विन को समझने के लिए भी हम विकासवाद की सहायता लेंगे, और देखेगे कि उसका परिणाम क्या होता है।

सन् १८०९ की १२ फरवरी को श्रुसबीर नामक स्थान मे डार्विन का

जन्म हुआ। डार्विन की उम्र जब आठ ही साल की थी, तभी से वे मातृस्नेह से चिरकाल के लिए वचित हो गए। यह बात इतनी कम उम्र मे हुई कि उनको अपनी माता की मृत्यु-शय्या, उनके काले मखमल का गौन तथा उनके काम करने की मेज़ के अतिरिक्त कोई बात याद नही आती थी। डार्विन उन लडको मे नही थे, जिनको कुशाग्र बुद्धि कहते है। वे अपनी छोटी बहन कैथराइन की तुलना मे बुद्धू समझे जाते थे। साथ ही वे कुछ नटखट भी थे। लडकपन से ही डार्विन का झुकाव प्राकृतिक इतिहास की ओर था, और सब तरह के पौधे, सिक्के, खनिज द्रव्य, मुहर तथा घुंघची आदि के सग्रह करने का तो उन्हे एक मर्ज़ सा था। यह नमूना इकट्ठा करने की प्रवृत्ति उनमे विशेष प्रबल थी, ध्यान देने की बात यह है कि उनके भाई तथा बहनो मे यह प्रवृत्ति किसी में नही थी।

डार्विन ने अपने जीवन के कुछ सस्मरण लिखे है, उनमे वे एक जगह पर लिखते है, "अपने विषय मे मै इतना कह सकता हूँ कि मै लडकपन मे दयालु स्वभाव का था, किन्तु यह गुण मुझमे सम्पूर्ण रूप से बहनो की देखादेखी तथा उदाहरण मे आया था। मुझे सचमुच सन्देह है कि मानविकता ( दया ) एक स्वभावज गुण है कि नही। मुझमे उन दिनो अडे सग्रह करने की प्रवृत्ति थी, किन्तु मै कभी भी एक चिडिया के घोसले से एक से अधिक अडा नही लेता था। केवल एक ही बार मैने इस नियम का उल्लघन करके सब अडे ले लिए, मैने जो ऐसा किया वह इसलिए नही कि उनमे कोई ऐसी बात थी, बल्कि मैं ताव म आ गया।"

बचपन मे डार्विन ने एक पिल्ले को पीटा था, उसके विषय मे वे लिखते है, मैने एक बार एक पिल्ले को पीटकर बडा ही निष्ठुर कृत्य किया। मैने बहुत तो नही मारा, क्योकि पिल्ला चिल्लाया नही, किन्तु थी यह निष्ठुरता। इसमे सन्देह की गुन्जाइश नही, क्योकि अब भी इतने सालो के बाद मुझे वह जगह याद है जहाँ मैने उस अभागे पिल्ले को पीटा था। मैने ऐसा क्यो किया था, इस विषय पर जब इस समय सोचता हूँ तो यही खयाल होता है कि अपनी प्रभुता का अनुभव करने के लिए ही मैने ऐसा किया था। यह कृत्य मेरे विवेक पर एक भारी पत्थर सा बना रहा, विशेष शायद इसलिए कि मै कुत्तो का बडा शौकीन था। कुत्ते भी मालूम होता है मेरे इस प्रेम को पहचानते थे, क्योकि ऐसा बहुत दफा हुआ कि कुत्ता अपने मालिक से मुझे अधिक प्रेम करने लग गया, एक तरह से मैने उनका प्रेम चुरा लिया।"

अन्य प्रसग पर वे लिखते है, "मेरे पिता तथा तथा बडी बहन से मुझे

मालूम हुआ कि कम उम्र से ही मुझमे एकान्त मे टहलने की प्रवृत्ति थी, किन्तु ऐसे मौको पर मै क्या सोचा करता था, मुझे स्मरण नही।" एक दफे तो यहाँ तक नौबत पहुँच गई कि अन्यमनस्कता की हालत मे वे एक स्थान से नीचे गिर पडे, खैरियत यह थी कि यह जगह सात आठ ही फुट ऊँची थी। यह कही नही लिखा है कि इस महापतन का परिणाम डार्विन पर क्या हुआ, किन्तु यदि अनुमान करना जायज है तो हो सकता है कि उन्होने इस बात से केवल कल्पना की उडान भरने की तथा सूक्ष्म चिन्तन (Abstract thinking) की व्यर्थता देख ली हो, और तथ्यो तथा ठोस प्रयोगो की ओर झुके हो।

डार्विन को शैशव मे शिक्षा कुछ ढग से नही दी गई। न डार्विन के पिता को न उनके शिक्षको को यह धारणा थी कि डार्विन बाद को जाकर विज्ञान मे अद्वितीय होगा। होनहार लडको मे उनकी गणना न थी। केवल यही बात नही, कुछ-कुछ अश मे वे औरो से निकम्मे समझे जाते थे। बचत की कोई बात थी तो यह कि बालक डार्विन को कई अच्छे शौक थे। वे जिस बात मे दिलचस्पी लेते थे उसके पीछे हाथ धोकर पड जाते थे और जटिलताओ को सुलझाने के लिए बावले से हो जाते थे। ज्यामिति के प्रमाणो से उन्हे अपार सन्तोष होता था। कम उम्र मे ही डार्विन को कविताएँ पढने की, विशेषकर शेक्सपियर के ऐतिहासिक नाटको मे बडी रुचि थी, किन्तु बाद के जीवन मे कविता के प्रति उनका अनुराग सर्वथा शिथिल हो गया था। बाद को और तो और शेक्सपियर भी उनके निकट अरुचिकर हो गए थे।

विद्यार्थी-जीवन मे ही डार्विन ने एक पुस्तक पढी थी Wonders of the world। इस पुस्तक मे भ्रमण-कहानो के रूप मे अजीब-अजीब गपोडे थे। डार्विन का मन तभी से विश्व भ्रमण के लिए ललचा रहा था, उनकी यह भ्रमणाकाक्षा बाद को Beagle नामक जहाज पर भ्रमण करने से कार्यरूप मे परिणत हो सकी। गोली चलाने का तथा शिकार खेलने का भी चस्का उनको लड़कपन मे ही पड गया था। स्कूल के बहुत से लडको के साथ विद्यार्थी डार्विन का घनिष्ठ सम्बन्ध था। उनके सम्बन्ध मे नाद को "I loved dearly" उन्होने लिखा अर्थात् "मै उन्हे बहुत प्यार करता था।"

डार्विन बाद को स्कूल से उठाकर एडिनवरा-विश्वविद्यालय मे भेजे गए। वहाँ उन्होने किसी विषय मे अधिक दिलचस्पी नही ली। हाँ, रसायन-विज्ञान पर जो वक्तृताएँ होती थी, वे उन्हे पसन्द थी। इस बात को स्मरण करते हुए बाद को उन्होने लिखा था—"मेरी राय मे कालेजो मे लेक्चर सुनने की अपेक्षा घर पर पुस्तक पढने मे कही अधिक लाभ है और हानि कुछ भी नही।" वे

करते भी ऐसा ही थे अर्थात् वे तथा उनके भाई इरास्मस अपने समय के छात्रो से कालेज के पुस्तकालय का कही अधिक उपयोग करते थे ।"

ग्रैट-नामक एक छात्र ने उनके निकट लामार्क के विकासवाद-सम्बन्धी सिद्धान्त की एक बार बडी प्रशसा की । वे मौन आश्चर्य से सुनते रहे, किन्तु उनके मन पर उसका कोई विशेष परिणाम नही हुआ । उन्होने अपने दादा द्वारा लिखित Zoonomia नामक पुस्तक मे इस मत का यत्र-तत्र इशारा पाया था, किन्तु उनके मन पर उसका भी कोई विशेष प्रभाव नही पडा था । अस्तु ।

दो सेशन तक एडिनबरा में जब वे रह चुके, तो उनके विषय में उनके पिता को मालूम हुआ कि लडके का इरादा डॉक्टरी करने का नही है, इसलिए उन्होने प्रस्ताव किया कि डार्विन पादरी बने । इस विषय का सौभाग्य से अपने अत्यन्त सक्षिप्त सस्मरण मे डार्विन ने उल्लेख किया है । वे इस सिलसिले में लिखते है, "मैने मेरे पिता के इस प्रस्ताव पर एकाएक राय देने से इन्कार कर दिया, मैने कुछ समय माँगा, क्योकि जो कुछ थोडा बहुत भी मैने इस विषय पर सोचा था उससे मुझे सन्देह था कि शायद मै 'चर्च आफ़ इंगलैड' के समस्त विश्वासो से सहमत न हो सकूँ । मेरा जो कुछ भी उज्र इस सम्बन्ध में था वह केवल इस दृष्टिकोण से था, नही तो किसी एक गाँव में या कस्बे में पादरी की हैसियत से जमने में मुझे खुशी ही होती । इसलिए मैने बडे ध्यान से Pearson on the Creed नामक पुस्तक का अध्ययन किया, तथा इधर-उधर और भी कुछ पुस्तकें पढी । उस ज़माने में मुझे बाइबिल के किसी भी शब्द की सत्यता के सम्बन्ध मे ज़रा भी सन्देह नही था । फिर क्या था, मुझे सहज ही मे यह विश्वास हो गया कि हमारा धर्ममत पूरे तरीके से हम मान्य यदि नही है तो होना चाहिए ।"

इसी डार्विन ने बाद को जाकर विकासवाद सिद्धात को स्थापित किया, जो कि बाइबिल के पहले ही अध्याय के विरुद्ध पडता है । यह परम आश्चर्य की बात है कि विकासवाद के प्रवर्तक यही चार्ल्स डार्विन एक दिन पादरी बन कर धर्म का स्तम्भ बनने को प्रस्तुत हो गए थे, और हो भी चुके होते, यदि 'बीगस' नामक जहाज पर नैचुरलिस्ट का पद स्वीकार कर वे विश्व-भ्रमण करने न निकलते, और इस प्रकार यह पादरी बनने वाला प्रस्ताव स्वाभाविक तरीके से अपनी मृत्यु को प्राप्त नही होता । बाद के नतीजो को देखकर यही कहना पडता है कि यह विज्ञान-जगत् के लिए तथा ज्ञान-बुभुक्षित मानव जाति के लिए बडे दुर्भाग्य की बात होती, यदि डार्विन प्रकृति के रहस्यो का उद्-

घाटन करने में अपनी समस्त मूल्यवान् शक्ति तथा समय नियोजित करने के बजाय युग-युगान्तर की रूढि तथा कुसस्कारो का पृष्ठपोषण करने मे ही अपना समस्त जीवन गँवा देते।

कुछ व्यक्तियो को यह धुन है कि वे खोपडियो की आकृति का निरन्तर अध्ययन किया करते है, उनका कथन है इससे चरित्र का पता लग सकता है। अग्रेज़ी में ऐसी सनक वालो को Phrenologist कहते है। इस विद्या के अनुसार डार्विन का चरित्र कैसा ठहरता है, यह भी राह चलते हम डार्विन के मुँह से ही सुन ले। वे लिखते है, "कुछ साल पहले जर्मनी की मनोवैज्ञानिक सस्था के मन्त्रियो ने बडी आजिज़ी से मेरा एक फोटो माँगा। क्या करता, मैने भेज दिया। इसके कुछ समय बाद समिति के एक अधिवेशन का पूर्ण विवरण मुझे प्राप्त हुआ। उस विवरण को पढने से मुझे मालूम हुआ कि मेरी अभागी खोपडी पर सार्वजनिक रूप से ऊल-जलूल बहस-मुबाहिसा हुआ था, और एक वक्ता ने ताव में आकर यहाँ तक कह डाला था कि मेरी आकृति बता रही थी कि मुझ मे दस पादरियो से कही अधिक श्रद्धा है।"

एडिनबरा त्यागने के बाद डार्विन कोई तीन साल तक कैम्ब्रिज में रहे। यहाँ भी वे कुछ विशेष चमके नही। 'बीगल' नामक जहाड यात्रा पर जा रहा था, उसमे एक नैचुरलिस्ट की आवश्यकता थी। डार्विन के एक मित्र ने यह पद डार्विन को दिलाना चाहा। डार्विन ने पहले तो इनकार कर दिया, किन्तु बाद को पद स्वीकार कर लिया। 'बीगल' पर की यात्रा कदाचित् डार्विन के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। 'बीगल' ने ही डार्विन को डार्विन बनाया। डार्विन दो सेशन तक एडिनबरा विश्वविद्यालय मे रहे, तीन साल तक केम्ब्रिज मे रहे, फिर भी डार्विन ने बाद को जाकर अपने छात्र-जीवन पर एक विहगम दृष्टि डालते हुए यह स्वीकार किया कि उनके मन की पहली वास्तविक शिक्षा तथा तालीम 'बीगल' पर ही हुई। उनको इस जहाज पर विविध वैज्ञानिक हैसियत से अकेला काम करना पडता था, इससे उनकी निरीक्षण-शक्ति अत्यन्त विलक्षण हो गई, जो पहले ही से बडी अच्छी थी।

'बीगल' ने बडे दूर-दूर के देशो में टक्कर मारी। २७ सितम्बर सन् १८३१ से लेकर अक्तूबर १८३६ तक 'बीगल' भ्रमण करता रहा। इस भ्रमण मे डार्विन ने जो निरीक्षण किये, जो नकशे खीचे, जो नमूने प्राप्त किये, वे ही उनको वैज्ञानिक जगत् मे स्थायी तथा प्रमुख स्थान पर अधिष्ठित करने के लिए यथेष्ट थे, किन्तु डार्विन इतने ही से भला सतुष्ट क्यो होते ? उन्होने अपने प्रयोगो तथा गवेषणाओ के ताँते को जारी रखा।

२६ जनवरी सन् १८३६ मे डार्विन ने विवाह किया। उनका विवाहित जीवन सुखी था, कम-से-कम उनके लडके तथा लड़कियो की शहादत के अनुसार बात ऐसी ही है।

डार्विन के बाद का जीवन एक निरन्तर वैज्ञानिक तपस्या तथा साधना का जीवन था। मरते दम तक वे अपने स्थान पर डटे रहे। वे स्वय एक जगह लिखते है कि उनकी पुस्तको की अनुकूल समालोचना से तथा उनकी खपत से उनको खुशी अवश्य होनी थी, किन्तु वह खुशी सामयिक होती थी।

विशेषज्ञो के समर्थन तथा अनुमोदन से ही उन्हे यथार्थ खुशी होती थी। उन्होने लिखा भी है कि वे जन-साधारण की निन्दा-प्रशसा के प्रति उदासीनता का रुख रखते थे, तथा प्रशसित होनें के लिए अपनी प्रतिपाद्य वस्तु से बाल भर भी नही हटते थे।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे डार्विन का स्थान स्पष्ट हो गया। ऐसे वैज्ञानिक का धर्म-सम्बन्धी मत अवश्य ही महत्त्वपूर्ण होगा, किन्तु इसके पहले कि उनके धर्ममत को उद्धृत करूँ, मै आइनस्टाइन की एक प्रासगिक उक्ति उद्धृत करना चाहता हूँ। आइनस्टाइन कहते है—

You must distinguish between what is a literary fashion and what is a scientific pronouncement. These men are genuine scientists and thier literary formulations must not be taken as expressions of thier scientific convictions.

अर्थात् "एक वैज्ञानिक ने साहित्यिक ताव में आकर क्या कहा, तथा उसका विशुद्ध वैज्ञानिक मत क्या है, इसमे प्रभेद किया जाना चाहिए। इसमें तो सन्देह नही कि ये लोग खरे वैज्ञानिक है, किन्तु उनकी साहित्यिक उडानो को गलती से वैज्ञानिक उपायो से पहुँचे हुए साध्यो के रूप में नही लिया जाना चाहिए।"

आइनस्टाइन ने यह जीनस तथा एडिटन आदि अध्यात्मवादी वैज्ञानिको के सिलसिले मे कहा है, फिर भी ये बाते डार्विन के धर्ममत के सम्बन्ध में लागू है। डार्विन स्वय भी स्वीकार करते है कि धर्म के सम्बन्ध मे उन्होने ढंग से अध्ययन नही किया, फिर भी डार्विन के धर्ममत मे एक विशेषता है जो जीनस तथा एडिटन के मत मे नही है। अपने धर्ममत का स्पष्टीकरण करते हुए डार्विन वही तक जाते है, जहाँ तक उनकी वैज्ञानिक बुद्धि उन्हे ले जाती है। यदि कही वे उससे आगे निकल जाते है तो वे उसे वही साफ़ कह देते है।

डार्विन के धर्ममत को मनन करते समय पाठक यह बात स्मरण रखे कि उनके बाद विज्ञान बहुत आगे बढ गया है और उसके आविष्कारो से उत्तरोत्तर अनात्मवाद की पुष्टि हुई है, यह केवल मेरा मत नही, यह सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लेखक जे० बी० एस० हालडेन का मत है।

पहले ही कहा जा चुका है कि डार्विन ने धर्म का विशेष अध्ययन नही किया था, इसलिए वे धर्म पर कोई मत देने मे हिचकते थे। फिर बहुत से लोग उनके धर्ममत को जानने के लिए व्याकुल रहते थे। डार्विन ने सन् १८५६ में अपनी युगप्रवर्तक पुस्तक Origin of Species लिखी। इसके २० साल बाद वे ७० वर्ष की उम्र मे J. Fordyce नामक एक सज्जन को लिखते हैं—"धर्म के सम्बन्ध में मेरे मत क्या है, यह मेरे अतिरिक्त और किसी से वास्ता नही रखता, किंतु चूँकि आप प्रश्न करते है इसलिए मेरा वक्तव्य यह है कि इस सम्बन्ध में मेरे विचार अव्यवस्थित है, तथा उनमे उतार-चढाव की चरम अवस्था मे भी मै कभी इस अर्थ मे नास्तिक नही रहा कि ईश्वर का अस्तित्व ही अस्वीकार कर दिया हो। मै समझता हूँ कि ज्यो-ज्यो मै बूढा होता जाता हूँ, त्यो-त्यो मै अपनी अवस्था को अज्ञेयवाद शब्द से अधिक सचाई से व्यक्त कर सकता हूँ।

१८७९ में तो वे ऐसा लिखते है, मालूम होता है वे बहस में पडना नही चाहते थे, इसलिए उन्होने इस प्रकार प्रश्न से जी चुराकर पीछा छुडा लिया। इसीलिए थोड़े-से शब्दो में अपने मत का सार दे दिया। सन् १८७३ ई० की २ अप्रैल को उन्होने एक डच छात्र को एक दीर्घ पत्र लिखा, उसमें उन्होंने अपने धर्ममत पर अधिक रोशनी डाली है। हम नीचे पत्र का अनुवाद उद्धृत करते है—

"मै जरा विस्तार के साथ अपने मत का प्रतिपादन करूँगा, तुम्हारे पत्र का सक्षिप्त उत्तर देना असम्भव है × × × × × ×। मेरी समझ मे ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में सबसे विशाल तर्क यह है कि इस विशाल तथा विचित्र विश्व की उत्पत्ति दैवात् हुई यह बात मानने को जी नही चाहता. किन्तु इस तर्क मे कितना वास्तविक तत्त्व है यह मै कभी तय नही कर पाया। मै यह मानने के लिए विवश हूँ कि यदि एक प्राथमिक कारण स्वीकार कर लिया जाय, तो फिर यह जिज्ञासा फिर भी रह जायगी कि यह प्राथमिक कारण कहाँ से आया, और क्योकर आया। दूसरी ओर मै जब देखता हूँ कि दुनिया में कष्ट तथा दुख बहुत है तो मै किसी निर्णय पर पहुँच नही पाता। बहुत-से महान् व्यक्ति ईश्वर मे विश्वास रखते थे यह बात ऐसी है जिसके महत्त्व को मैं खूब

समझना हूँ, किन्तु यहाँ भी गम्भीर विचार करने पर मालूम होने लगता है कि यह तर्क बहुत कुछ छिछोरा है । मै समझता हूँ कि इन सब पर विचार करनें के अनन्तर सबसे निर्विघ्न उपसहार जिस पर कि मनुष्य पहुँच सकता है वह यह होगा कि इस सारे विषय को ही हम बुद्धि के परे मान ले, किन्तु फिर भी मनुष्य अपना कर्तव्य कर सकता है ।"

१८७६ मे एक जर्मन छात्र के पत्र का डार्विन की ओर से इन शब्दो में उत्तर दिया गया था—"मिस्टर डार्विन आपको यह लिखने को कहते है कि उनको इतने पत्र मिलते है कि उनके लिए सभी पत्रों के उत्तर देना सम्भव नही। वे समझने है कि विकासवाद तथा ईश्वरवाद मे कोई अनिवार्य विरोध नही है, किन्तु आपको यह भी खयाल रखना चाहिए कि विभिन्न व्यक्ति ईश्वर शब्द से बिभिन्न वस्तु का ग्रहण करते है।"

हम यहाँ पर इतना कह देना उचित समझते है कि विकासवाद तथा ईश्वरवाद मे अनिवार्य विरोध भले ही न हो, ( हम इसका ठेका नही लेते ) किन्तु प्रचलित धर्मों की साक्षात् ईश्वर से उतरी हुई पुस्तको का अर्थात् उनके सृष्टि तत्त्व के साथ विकासवाद का अनिवार्य विरोध अवश्य है। इसका क्या अर्थ होता है पाठक स्वय समझ सकते है।

डार्विन की ओर से जो नन्हा-सा पत्र लिखा गया, उससे उस जर्मन छात्र को सतोष नही हुआ, तब बूढे डार्विन को स्वयं कलम पकडनी पडी । उन्होने लिखा, "मै बूढा हूँ, काम बहुत रहता है, समय बहुत कम रहता है, इसलिए तुम्हारे पत्रो का विस्तृत उत्तर देना मेरे लिए सम्भव नही । सच बात तो यह है कि उनका उत्तर दिया ही नही जा सकता । विज्ञान के साथ हजरत ईसामसीह का कोई सम्बन्ध नही है । विज्ञान की पद्धति मे मँजा हुआ व्यक्ति एकाएक किसी बात का विश्वास नही करता, वह सावधान हो जाता है । जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मै नही समझता कि किसी को दैवी आदेश (Revelation) हुआ या किसी पर बदी नाज़िल हुई । रही भविष्य जीवन की बात, सो इस सम्बन्ध में मनुष्य को चाहिए कि वह परस्पर विरोधी अस्पष्ट सम्भावनाओ मे से सत्य क्या है यह अपने लिए ढूँढ ले ।"

अन्तिम वाक्य मे डार्विन ने स्थिति को और भी अस्पष्ट कर दिया । इन सब बातो से बराबर मालूम होता है कि डार्विन ने अपने लिए तो सत्य को ढूँढ लिया है, किन्तु किसी कारण से वे इन सब बातो को स्पष्टत: कहने के पचडे मे नही पडना चाहते थे ।

डार्विन ने स्वय ही अपने धर्ममतो का सक्षिप्त इतिहास लिखा है । केवल

उनके जबरदस्त व्यक्तित्व को देखते हुए ही नही तथा हमारे वर्तमान विषय की दृष्टि से ही नही बल्कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह इतिहास महत्त्वपूर्ण है। हम डार्विन के उस समस्त लेख को नीचे उद्धृत करते है। वे लिखते है—

"इन दो सालो ( आक्टोबर १८३६ से जनवरी १८३६ ) मे मै धर्म के विषय मे खूब विचार करता रहा। जिन दिनो मै "बीगल" पर यात्रा कर रहा था, उन दिनो बहुत कट्टर था। मुझे स्मरण है कि जहाज के कुछ अफ़सरो ने स्वय कट्टर होते हुए भी मेरा इसलिए मजाक उडाया था कि मैने एक बार बाइबिल के कुछ अश को अकाट्य नीति के रूप मे उद्धृत किया था। मै समझता हूँ मेरा तर्क उन्हे नवीन जंचा होगा, तभी तो वे हँसे होगे। बाद को मै समझ गया कि पुराने अहदनामे की बाते हिन्दुओ के धर्मशास्त्र से अधिक प्रामाणिक नही है। फिर वह प्रश्न बराबर मेरे मन में उठता रहा और आखिर तक गया नही कि ईश्वर यदि हिन्दुओ मे अपना दैवादेश प्रकट करते या भेजते तो क्या वे उसे विष्णु, शिव आदि के विश्वास के साथ सयुक्त करने की अनुमति देते? इस बात पर मै विशेषकर इसलिए भी सोचता था कि ईसाई धर्म के साथ भी तो पुराना अहदनामा जैसी वस्तु सयुक्त है। मुझे ये बाते सम्पूर्ण रूप से अविश्वास्य मालूम देती थी।

"अधिक मनन करने के बाद मुझे यह भी स्पष्ट भासित हुआ कि जो मुअज्जिजे (Miracles) ईसाई धर्म के स्तम्भस्वरूप है, उन पर कोई भी सही दिमाग आदमी विश्वास नही कर सकता, जब तक कि उनके पक्ष मे स्पष्टतम प्रमाण प्राप्त न हो जायँ। हम इस नतीजे पर भी पहुँच गए कि जितना ही हम प्रकृति के निर्दिष्ट नियमो के बारे मे ज्ञान संचय कर रहे है, उतना ही मुअज्जिजो मे आस्थास्थापन करना हमारे लिए कठिन होता जा रहा है। मै यह समझ गया कि उस युग मे, जिस युग मे कहा जाता है कि ये मुअज्जिजे सघटित हुए थे, लोग इतने अज्ञानी तथा सहज विश्वासी थे कि हमारे लिए उसकी कल्पना करना भी असम्भव है। इधर यह भी बात मेरी दृष्टि मे आई कि जिन धर्म-पुस्तको मे इन मुअज्जिजो का वर्णन है उनके सम्बन्ध मे यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि उनकी रचना उसी युग मे हुई थी, जब की बतलाई जाती है कि ये अद्भुत घटनाएँ हुई थी। इन धर्म-पुस्तको मे मैने देखा छोटी-छोटी बातो मे ही नही, बल्कि महत्त्वपूर्ण बातो मे भी बडा मतभेद तथा पाठान्तर है, वह प्रभेद इतना अधिक है कि उनको हम विभिन्न चश्मदीद गवाहो की स्वाभाविक विभिन्नता कहकर टाल नही सकते। मेरे मन मे ये जो विचार लहरा रहे थे, इनमे कुछ नवीनता की पुट

थी, ऐसा मैं नहीं समझता, किन्तु जैसे-जैसे इन विचारों का मेरे मन पर प्रभाव पडने लगा, तैसे-तैसे ईसाई धर्म को ईश्वरी आदेश प्राप्त धर्म के रूप मे देखने मे मै असमर्थ होने लगा। मेरे मन पर इस बात का भी कुछ कम असर नही हुआ, यह बात मै अदाज से नही लिख रहा हूँ, मुझे यह बात बहुत अच्छी तरह स्मरण है। मै बडी व्यग्रता के साथ इस बात की प्रतीक्षा करता रहा कि पम्पियाई के सदृश किसी स्थान के खँडहरो में लब्धप्रतिष्ठ रोमनो के पत्र-व्यवहार के रूप मे अथवा हाथ की लिखी हुई पोथियो के रूप मे कुछ ऐसे प्रमाण प्राप्त होंगे जिससे ईसाई धर्मशास्त्रो मे वर्णित घटनाओ का पूरा-पूरा समर्थन होगा। किन्तु जब मैने इस बात पर ज़रा और गहराई से सोचा, तो मुझे मालूम हुआ कि कोई ऐसा प्रमाण हो ही नही सकता जिससे कि मै इन बातो की सत्यता का कायल हो जाऊँ। इस प्रकार अश्रद्धा धीरे-धीरे मेरे विचार-जगत् मे छाने लगी और अन्त तक मेरे मन मे उसका अखण्ड साम्राज्य हो गया। यह प्रक्रिया इतनी शनैः-शनैः हुई कि इससे मुझे कोई कष्ट नही हुआ। यद्यपि मैने जीवन के बहुत परवर्ती समय तक वैयक्तिक ईश्वर के प्रश्न पर कुछ भी अधिक विचार नही किया, फिर भी मै उन अस्पष्ट उपसहारो को उपस्थित करता हूँ जिन तक पहुँचने के लिए मै विवश हुआ हूँ। प्रकृति उद्देश्य युक्त (Design) है, पाले ने (Paley) यह जो तर्क उपस्थित किया था, और जो किसी ज़माने मे अकाट्य समझा जाता था, अब प्राकृतिक निर्वाचन (Natural selection) के नियम के आविष्कार से बिलकुल लचर सिद्ध हो चुका है। अब हम इस प्रकार तर्क नही कर सकते कि Bivalve shells के Hinge को किसी बुद्धिमान् सत्ता ने बनाया हो, जैसे एक किवाडे के Hinge को कोई आदमी बनाता है। इन्द्रिययुक्त वस्तुओ की परिवर्तन-शीलता में, अथवा प्राकृतिक निर्वाचन की क्रिया मे उतना ही उद्देश्य (Design) या भविष्य बुद्धि है, जितना कि वायु के प्रवाह के पथ मे है। मैने इस विषय पर अपनी पुस्तक Variations of domesticated animals and plants के अन्तिम भाग में आलोचना की है, और जहाँ तक मुझे मालूम है किसी ने मेरे उस तर्क का उत्तर नही दिया है।"

डार्विन के लेख के इस हिस्मे पर भाष्य करते हुए उनके सुयोग्य पुत्र सर फ्रांसिस डार्विल लिखते हैं, "मेरे पिता पूछते हैं कि पहाडो के टूटे हुए जिन जिन टुकडो को जोड-तोडकर मनुष्य अपने रहने से लिए मकान बनाता है, क्या उनके सबके स्वरूप तथा आकार पहले से निश्चित है ? यदि नही, तो क्या हम विश्वास करे कि पालतू जानवरो तथा पौधो के परिवर्तन उनके उत्पादको

(Breeders) के खातिर पहले से नियत है ?" यदि हम इस तर्क को एक भी क्षेत्र मे छोड दे, तो इस विश्वास के लिए खाक भी कोई कारण नही दिया जा सकता कि प्रकृति मे इसी प्रकार के परिवर्तन भविष्य बुद्धियुक्त है तथा विशेष प्रकार से परिचालित होते रहते है ?" Variation of Animals and Plants Vol II p. 431. Ist Edition.

डार्विन उसी सिलसिले मे और भी लिखते है, "चारो ओर जो असख्य ऐसी चीजें देखने मे आती है, जिनमे कि आबोहवा की अनुकूलना की वजह से बडी खूबी के परिवर्तन हुए है, यदि उनको हम छोड भी दे, तो यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि इस जगत् मे की सब व्यवस्थाएँ अधिकतर अशो मे हितकारी है, इस बात की कैसे व्याख्या की जाय ? अवश्य कुछ लेखक ऐसे भी है जो जगत् मे दुखो के प्रभाव से इतने प्रभावित है कि वे समस्त अनुभूतशील प्राणियो के दुखो का लेखा देखते हुए यह देखने मे असमर्थ है कि विश्व मे दुखो की अधिकता है या सुखो की,तथा सब बातो को देखते हुए जगत् अच्छा है या बुरा । मेरी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार सुख की ही निश्चयात्मक रूप से प्रधानता है, यद्यपि मुझे डर है कि इस बात को प्रमाणित करना टेढी खीर है । यदि इस उपसहार की उपसहार सत्यता को स्वीकार कर लेते है, तो प्राकृतिक निर्वाचन से हम जिन फलो की प्रतीक्षा करते है, उनसे यह भली-भाँति मेल खा जाता है । यदि किसी प्राणी जाति (Species) के अधिकतर सदस्य सर्वदा दारुण दु.ख या यत्रणा मे विराजमान रहते तो वे अवश्य ही अपनी वश-वृद्धि की परवा नही करते, किन्तु ऐसा कोई कारण नही कि हम सोचे कि ऐसा कभी हुआ है, कम-से-कम अक्सर इसके विपरीत हुआ है इसमे तो कोई सन्देह नही । दूसरे और भी कुछ कारण है जिनसे हम इस विश्वास पर पहुँचते है कि सभी अनुभूतिशील प्राणी इस प्रकार से बने है ताकि वे साधारण तौर पर सुख का उपभोग कर सके ।

"प्रत्येक व्यक्ति जो मेरी तरह विश्वास करता है कि प्राणियो के शारीरिक तथा मानसिक यन्त्र (उनके अगो के सिवा जो कि धारणकारी के लिए हितकर या अहितकर नही है) प्राकृतिक निर्वाचन तथा जीवन युद्ध मे योग्यतम की विजय ( Survival of the fittest ) के अनुसार क्रम विकसित हुए है, मानेगा कि ये इन्द्रियवर्ग ऐसे बने है कि उनके धारणकारी दूसरे प्राणियो के साथ सफलतापूर्वक प्रतियोगिता कर सके, एव इस प्रकार अपनी जाति की वृद्धि कर सके । एक प्राणी अपनी जाति के निमित्त सबसे हितकर कार्य-पद्धति विविध कारणो से अनुसरण करने के लिए बाध्य हो सकता है—

(१) दुख के कारण, जैसे कष्ट, भूख, प्यास, भय के कारण ।

(२) सुख के कारण, जैसे खाने, पीने, बच्चे पैदा करने की प्रतिक्रिया से या

(३) दोनो के सम्मिश्रण से, जैसे खाने की खोज की क्रिया से।

"किन्तु यन्त्रणा या दु ख अधिक काल स्थायी हो तो उसके फलस्वरूप मनोभग होता है, तथा प्राणी की कार्यकारिणी शक्ति घट जाती है, फिर भी दुःख मे एक भलाई का माद्धा यह है कि प्राणी बडी तथा आकस्मिक विपत्तियो के विरुद्ध सावधान हो जाता है। दूसरी ओर सुखात्मक सवेदनाएँ चाहे जितनी देर स्थायी हो उनसे मनोभग तो होगा ही नही, बल्कि प्राणी का समस्त शरीर-यन्त्र अधिकतर कार्य के लिए उत्तेजना प्राप्त करेगा। इसलिए ऐसा हुआ है कि अनुभूतिशील प्राणियो मे अधिकतर प्राणी प्राकृतिक निर्वाचन के ज़रिये इस प्रकार क्रम विकसित हुए है कि सुखात्मक सवेदनाओ के द्वारा ही वे परिचालित हो रहे है, अर्थात् वे वही काम करते है जिसमे सुख मिले। हम इस बात को प्रयास से मिलने वाले आनन्दो मे प्रत्यक्षीभूत देखते है। कभी-कभी तो आनन्द की प्राप्ति के लिए शरीर तथा मन का विपुल सचालन करना पडता है। दैनिक भोजन मे, सामाजिकता मे तथा परिवार के प्रेम मे भी हम इस बात को देख सकते है। मुझे इसमे सन्देह नही कि इन आनन्दो का जोड (जो कि स्वाभाविक पुनराविर्भावशील है) बताया है कि अनुभूतिशील प्राणियो मे सुख-दु ख से कही अधिक है, यद्यपि बहुत से व्यक्ति ऐसे होगे जिनके हिस्से मे दुःख अधिक आते है। यह यन्त्रणा या दु ख का अस्तित्व प्राकृतिक निर्वाचन के साथ असगत नही है, क्योकि प्राकृतिक निर्वाचन सम्पूर्ण रूप से सर्वथा क्रियाशील नही है, वह केवल एक प्राणी जाति को दूसरी प्राणी जाति के मुकाबिले से अत्यन्त जटिल तथा परिवर्तनशील अवस्था मे यथासम्भव सफल बनाता है।

"जगत् मे बहुत से दु.ख है इस बात को कोई भी अस्वीकार नही करता। कुछ लोगो ने मनुष्य जाति मे दु ख के प्रादुर्भाव की व्याख्या इस कल्पना के बल पर करने की चेष्टा की है कि यह उसके नैतिक उत्कर्ष के लिए है, किन्तु जगत् में के सब अनुभूतिशील प्राणियो के मुकाबिले मे मनुष्यो की सख्या दाल मे नमक के बराबर नही है। मनुष्येतर प्राणी जो कष्ट सहन करते है उसमे उनकी कोई नैतिक उन्नति नही होती, यह तो स्पष्ट ही है। एक ज्ञान-सम्पन्न प्राथमिक कारण के मुकाबिले मे दु खो के अस्तित्व वाला तर्क मेरी समझ में ज्यादा वज़नदार है, किन्तु जैसा कि अभी कहा गया कि दु खो के अस्तित्व के साथ इस मत का पूर्ण सामजस्य है कि सभी प्राणी परिवर्तन तथा प्राकृतिक निर्वाचन के ज़रिये क्रम विकसित हुए है।

"वर्तमान युग मे बुद्धियुक्त ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे जो तर्क आम तौर पर जरा ज्यादा दिया जाता है वह यह है कि अधिकतर मनुष्यो को आन्तरिक रूप से इसका विश्वास है। किसी जमाने मे मै ऐसे विश्वास के सोते मे बहा करता था (यद्यपि मै समझता हूँ मुझमे धार्मिक भाव प्रबल रूप से विकसित नही थे) और मै भी ईश्वर के अस्तित्व मे तथा आत्मा के अविनश्वरत्व मे विश्वास करता था। ब्रैजिल के अरण्यो की विराटता के सामने अवाक् रहकर मैने अपने रोजनामचे मे लिखा था, विस्मय, प्रशसा तथा भक्ति के उदात्त भावो से हृदय जिस प्रकार गद्गद् हो जाता है उसका वर्णन करना सम्भव नही। मुझे खूब स्मरण है कि मुझमे यह विश्वास था कि मनुष्य अपने शरीर के अन्दर सचरणशील प्राण-यान वायु से परे कुछ है, किन्तु अब अत्यन्त महिमा-मडित दृश्य भी मेरे मन मे उन विश्वासो को तथा भावो को उत्पादन करने मे समर्थ नही हो सकते। सत्यता के साथ एक तरह से यह कहा जा सकता है कि मै वर्णांध हो गया हूँ। यह भी मै समझता हूँ कि सारी दुनिया जहाँ लाल रग देखती है वहाँ यदि मै न देखूँ तो उसमे मेरा न देखने का प्रमाणरूप में कुछ मूल्य नहीं रह जाता। साथ ही यह भी बात है कि सभी जाति के सभी व्यक्तियों मे अगर एक ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे एक ही-सी धारणा होती तभी यह तर्क सम्पूर्ण रूप से वैध माना जा सकता, किन्तु बात ऐसी नही है। इसलिए मै नही समझता ऐसे आन्तरिक भावो तथा विश्वासो का प्रमाण रूप मे कोई मूल्य है। वास्तविक बात क्या है उसका इन बातो से भला क्या दिग्दर्शन हो सकता है? उदात्त दृश्यो के निरीक्षण से हमारे मन मे जो भाव लहराने लगते थे, और उस समय ईश्वर-विश्वास से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध थे, अपरिहार्य रूप से उस भाव से भिन्न थे जिनको हम उदात्त अनुभूति कहते है, (इस अनुभुति की वशावली का पता लगाना चाहे जितना कठिन हो) ईश्वर के अस्तित्व के सपक्ष में यह तर्क मुश्किल से दिया जा सकता है। इस अनुभूति का मूल्य मुश्किल से उस प्रबल किन्तु अस्पष्ट अनुभूति के तुल्य है जो कि हमारे अन्दर सगीत से पैदा होता है।

"रही अमरत्व की बात, सो इसका लचरपन तो इसी से सिद्ध है कि पदार्थ विज्ञान के पडितगण यह समझते है कि ग्रहो के साथ सूर्य इतना ठंडा हो जायगा कि वह जीवन के अनुपयुक्त हो जायगा, हाँ, यदि कोई और महान् ज्योतिष्क आकर सूर्य के साथ टकराये, और इस टक्कर के फलस्वरूप वह सूर्य के अन्तर्गत हो जाय और इस प्रकार उसे नवजीवन का घूँट पिला दे तो और बात है। जो लोग मेरी तरह यह विश्वास करते है कि मनुष्य भविष्य मे इस

समय से कही पूर्णतर प्राणी हो जायगा, उनके लिए यह विचार असह्य है कि मनुष्य तथा अन्य अनुभूतिशील प्राणी इस प्रकार मन्द तथा दीर्घ सिलसिलेवार उन्नति के बाद सम्पूर्ण विनाश को प्राप्त होगा। दूसरी ओर जो लोग कि सम्पूर्ण रूप से मानवीय आत्मा के अमरत्व मे श्रद्धाशील है, उनकी दृष्टि मे हमारे जगत् का विनाश होना कुछ भय की बात नही है।

"ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे एक और तर्क है। यह बुद्धि से सम्बन्ध रखता है अनुभूति से नही। इस तर्क मे मुझे कुछ अधिक तत्त्व दिखाई देता है। बात यह है कि इस विशाल तथा विचित्र जगत् को (जिसके अन्तर्गत मनुष्य भी है) एक अन्ध आकस्मिक घटना अथवा आवश्यकता से उद्भूत कहकर धारणा करना मुश्किल है। जब मै इस पहलू से इस प्रश्न पर विचार करता हूँ तो मुझे मनुष्य सदृश किसी बुद्धिमान् प्राथमिक कारण को तसलीम करना पडता है और उस अवस्था मे कोई मुझे ईश्वरवादी कहे तो कुछ बेजा न होगा। जहाँ तक मुझे स्मरण है यह धारणा मेरे मन मे उस युग तक प्रबल थी जब कि मैने Origin of species लिखा।[1] तब से यह विश्वास बहुत-से परिवर्तनो के अन्दर गुज़रता हुआ शिथिल हो गया। किन्तु फिर यह सन्देह उठता है कि मनुष्य के मन को, जिसके सम्बन्ध मे मेरा यह विश्वास है कि वह निम्नतम कोटि के प्राणी सदृश मन से विकसित होकर बना है, कहाँ तक विश्वास करना चाहिए जब कि इतना बडा महत्त्वपूर्ण विषय उसके सामने विचारार्थ उपस्थित हो ?

"ऐसी सूक्ष्म समस्या पर रोशनी डालना मेरे वश की बात नही है, न मै उसका स्वाँग भर सकता हूँ। सभी वस्तुओ के आरम्भ के रहस्य के सम्बन्ध मे हम अनभिज्ञ है और इसलिए मै अपने को अज्ञेयवादी कहकर ही सन्तोष करता हूँ।"

चार्ल्स डार्विन के जिन लेखो से उनके धर्ममत का पता मिलता है उनमे उद्धृत अश ही सबसे अधिक विस्तृत है, किन्तु और भी ऐसी उक्तियाँ यत्र-तत्र फैली हुई है।

सन् १८६१ की ११ जुलाई को उन्होने मिस जुलिया वेजवुड को लिखा था—"मै तुम्हारे निबन्ध की प्रशसा करता हूँ, किन्तु मुझे स्वीकार करना पडेगा कि इसका कुछ अश मेरे ठीक-ठीक समझ मे न आ सका, इसका मुख्य कारण कदाचित् यह है कि मै दार्शनिक विचार-धारा के अनुसरण का अभ्यस्त

---

[1] १८५६

नही हूँ। मैं समझता हूँ कि तुम मेरी पुस्तक Origins of species को बखूबी समझती हो। तुमने जिन समस्याओ पर विचार किया है, उनमे से कुछ पर मैं भी विचार करता रहा हूँ, किन्तु मुझे स्वीकार करना पडेगा कि इसका नतीजा गोरखधन्धा ही रहा, जैसे पाप की उत्पत्ति पर चिन्ता करना। यह तो सच है कि मन निखिल विश्व की ओर प्रकृति मे भविष्य बुद्धि ( Design ) बिना आरोप किये देखने से इन्कार करता है, किन्तु जहाँ इस भविष्य बुद्धि का सबसे जबर्दस्त प्रकाश हम देखना चाहेगे अर्थात् अनुभूतिशील प्राणियो के गठन मे, वहाँ तो सोचने पर भी मुझे ऐसी कोई बात नही दिखलाई देती। Asa gray तथा कुछ दूसरे सज्जन प्रत्येक परिवर्तन को कम-से-कम प्रत्येक हितकर परिवर्तन को दैवेच्छाप्रणोदित मानते है। फिर भी जब हम उनसे पूछते है कि क्या वे Rockpigeon नामक पक्षी के हरेक परिवर्तन को, जिनकी सहायता से मनुष्य ने Pouter तथा Fantail आदि किस्मो का कबूतर पाया है, दैवेच्छा-सृष्ट मानते है, तब तो वे कुछ नही कह पाते। यदि वे या अन्य कोई यह मानते है कि यह परिवर्तन आकस्मिक है अर्थात् भविष्य बुद्धि या उद्देश्य (Design) की दृष्टि से आकस्मिक हेतु अथवा उत्पत्ति की दृष्टि से नही दिखाई देता कि वे परिवर्तनो के उस समूह को, जिसे बढ़ही नामक चिडिया कहते है, दैवेच्छा-सृष्ट समझे।"

डार्विन ने बार-बार प्रकृति मे उद्देश्य या भविष्य बुद्धि है कि नहीं इस प्रश्न पर आलोचना की है। वैज्ञानिक होने के नाते यह प्रश्न उनके निकट सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। डार्विन ने केवल कल्पना तथा विचारो की उडान से ही इस समस्या के समाधान की चेष्टा नही की जैसा कि प्राचीन दार्शनिक गण करते थे, बल्कि उन्होने महत्त्वपूर्ण तथा निश्चित वैज्ञानिक प्रमाण के आधार पर ही यह निर्णय किया था कि प्राणी जातियो का एक क्रम-विकास होता गया है। इस परिस्थिति मे उनके मन मे इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही था कि यह जो क्रमविकास का ताँता जारी है यह क्या है? क्या इसके पीछे कोई बुद्धिमान् ईश्वर है? अपने एक मित्र डॉक्टर ग्रे को जुलाई १८६० मे वे लिखते है—"इस प्रश्न पर एक और शब्द। मै एक चिड़िया को देखता हूँ, जिसकी कि मुझे कबाब के लिए आवश्यकता है। मै बन्दूक उठाता हूँ और धड से उसे मार गिराता हूँ। इस बात को मै भविष्य बुद्धियुक्त रूप में या उद्देश्य के सहित करता हूँ। एक दूसरा उदाहरण लो, एक अच्छा खासा आदमी पेड़ के नीचे खडा है, और एकाएक उस पर वज्रपात होता है। क्या आप विश्वास करते है, और मुझे उसके उत्तर मे विपुल कौतूहल है कि क्या ईश्वर

नें उद्देश्य सहित इस मनुष्य का वध किया ? बहुत से क्या अधिकतर मनुष्य ऐसा ही विश्वास करते है, किन्तु मै न तो ऐसा विश्वास करता हूं न कर सकता हूँ। यदि आप ऐसा विश्वास करते है तो क्या आप यह भी विश्वास करते है कि जब एक चिडिया एक कोडे को पकडकर चट कर जाती है तो ईश्वर ने पहले से ही यह तय कर रखा था कि अमुक घडी पर अमुक चिडिया अमुक कीडे को चट कर जायगी। मै समझता हूँ कि इस वज्राहत मनुष्य की तथा उस गोली से मारी हुई चिडिया की एक ही दशा है। यदि कहा जाय कि उस मनुष्य की अथवा उस कोडे की मृत्यु दोनो मे से एक भी बात पहले से स्थिरीकृत नही है, तो फिर यह कैसे मान लिया जाय कि पहले-पहल जब उनका जन्म या उत्पत्ति हुई होगी तो वह उद्देश्य सहित या किसी के इच्छावश ही हुई होगी।"

चार्ल्स डार्विन ने ३री जुलाई सन् १८८१ को डबल्यू ग्रैहम-नामक एक सज्जन को एक पत्र लिखा था, धार्मिक मतवाद के सम्बन्ध मे। इस लेख में जितने पत्र उद्धृत किये गए उन सबमे यही सबसे ताजा है। इस पत्र को लिखते समय डार्विन की उम्र ७२ साल की थी, वैज्ञानिक जगत् मे लब्धप्रतिष्ठ हुए उन्हे एक युग हो चुका था, Origin of species लिखने के बाद २२ साल याने एक पुश्त व्यतीत हो चुकी थी, अतएव इस पत्र मे प्रकट किये हुए विचारो को हम डार्विन के अत्यन्त परिपक्व विचार कह सकते है। हमे डार्विन के विचारो का मनन तथा निदिध्यासन करते वक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उन पर किसी प्रकार के क्रान्तिकारी विचारो का प्रभाव नही पडा था। न तो वे साम्यवादी थे न निहिलिस्ट। जिन उपसंहारो पर वे पहुँचे थे, वैज्ञानिक पद्धति से निखरी हुई साधारण बुद्धि से ही पहुँचे थे। पहले जो कुछ कहा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि यदि पक्षपात का कोई प्रश्न उठता है तो वे धर्म के ही साथ पक्षपात करते है, उनको ऐसी ही शिक्षा मिली थी तथा वे ऐसे ही पले थे।

उस पत्र में डार्विन लिखते है, "प्रिय महाशय, विज्ञान धर्म (Creed of science) नामक पुस्तक के अध्ययन से जो मुझे आनन्द प्राप्त हुआ है उसके लिए कृतज्ञता प्रकाश करने की धृष्टता मै कर रहा हूँ, आशा करता हूँ, आप इसे गुस्ताखी नही समझेंगे। अभी तक पूरी पुस्तक मैने नही पढ पाई, अब बुढापे ने मुझे धर दबाया है, इसलिए धीरे-धीरे पढ पाता हूँ। फिर भी बहुत दिनों से किसी पुस्तक मे मैने इतनी दिलचस्पी नही ली। स्पष्ट है, आपको इस पुस्तक के लिखने मे बहुत परिश्रम हुआ होगा, तथा समय भी बहुत लगा होगा।

आप अवश्य यह आशा नही रखते कि आपकी प्रतिपादित जटिल समस्याओं के सभी समाधानो के सम्बन्ध मे कोई आपका साथ देगा। मुझे डर है कि आपकी पुस्तक की कुछ बातो को मै ठीक-ठीक पचाने मे समर्थ नही हुआ हूँ। सबसे प्रमुख बात यह है आप कथित प्राकृतिक नियमो का होना मानते है, इसका साफ अर्थ उद्देश्य का आरोप होता है। मै इस बात से सहमत नही हो सकता। उन लोगो की बात जाने दीजिए जो कि आशा करते है कि ससार के सभी नियम कभी अनिवार्य रूप से एक ही नियम का अनुसरण करते पाये जायँगे, वह तो दूर की बात है उसको जाने दिया जाय। मै कहता हूँ कि नियमो को जैसे कि वे है लिया जाय, और हम चन्द्रमा की ओर दृष्टिपात करे जिसमे कि मध्याकर्षण का नियम, शक्ति-सरक्षण का नियम (Conservation of energy), आणविक सिद्धान्त (Atomic theory) आदि कितने ही नियम क्रियाशील है। वहाँ भी मै नही समझता कि आवश्यक रूप से कोई उद्देश्य ही होगा। यदि चन्द्रमा मे निम्नतम अचेतन प्रकरणो (Lowest organisms destitute of consciousness) का होना सिद्ध होता तो तब क्या उद्देश्य होता? बात यह है कि किसी बात को खयाली रूप मे ही देखने का या उस पर विचार करने का मेरा अभ्यास नही है, इसलिए बहुत सम्भव है मै बहक रहा हूँ। फिर भी आपने मेरे आन्तरिक विश्वास को मुझसे जितना सभव है उससे अधिक स्पष्टता तथा सजीवता के साथ उपस्थित किया है कि यह विश्व कोई आकस्मिकता की उपज नही है।"

अपने पिता के उक्त वचनो की व्याख्या करते हुए सर फ्रान्सिस डार्विन ने लिखा, "ड्यूक आफ आरजिल लिखित Good words नामक पुस्तक मे मेरे पिता के इस सम्बन्ध मे कहे हुए शब्द लिपिबद्ध है। ड्यूक लिखते है—उस बातचीत के दौरान मे मैने मिस्टर डार्विन से उन्ही की Fertilisation of orchids तथा Worms आदि पुस्तको का हवाला देते हुए कहा कि प्रकृति मे कुछ बहुत ही विचित्र तथा विस्मयकर व्यवस्थाएँ वर्तमान है, उनको देखकर यही मुझे प्रतीत होता है कि इसमें 'चित्" का उपादान मौजूद है। डार्विन ने इस पर जो उत्तर दिया वह मै कभी नही भूल सकता। वे मेरी ओर वक्र दृष्टि से देखने लगे, फिर बोले—यह ख़याल मुझे भी कभी-कभी बडे ज़ोर से आता है, इतनी तेज़ी से कि मेरे पाँव उखड-से जाते है। किन्तु..... इतना कहकर उन्होने अस्पष्ट रूप से सिर हिलाकर कहा—किन्तु वह चला जाता है।"

डार्विन उसी ग्रैहम वाले पत्र म लिखते है, "किंतु फिर मेरे मन में यह कुत्सित सन्देह हमेशा उठता रहता है कि मनुष्यो का मन निम्नतम प्राणियो के

मन का क्रम विकसित रूप-मात्र है क्या उसकी कोई हैसियत है, या उसका कोई विश्वास किया जा सकता है ? यदि बन्दर के लिए विचार करना सम्भव होता तो क्या हम उसके विचारो पर विश्वास करते ? दूसरी बात यह है कि मुझे प्रतीत होता है कि आप हमारे महत्तम व्यक्तियो को जो महत्त्व देते है, उसके विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकना है। मै बल्कि द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ श्रेणी के लोगो को अधिकतर महत्त्व देता हूँ, कम-से-कम विज्ञान मे। अन्त में मै आपसे लड-भिड़-कर यह दिखा सकता हूँ कि प्राकृतिक निर्वाचन ने सभ्यता की अग्रगति के लिए प्रस्तुत नही मालूम देते।"

अब हम सक्षेप में डार्विन के धर्ममत का विश्लेषण करते है तो पाते है (१) वे तथा उनका विज्ञान किसी भी हालत मे प्रकृति मे उद्देश्य मानने के लिए तैयार नही है, (२) वे विकासवाद तथा ईश्वरवाद में अनिवार्य विरोध न मानते हुए भी स्वय ईश्वरवादी नही है, (३) वे अपने को अज्ञयवादी कहते है किन्तु उनका अज्ञेयवाद का झुकाव अनीश्वरवाद की ओर है।

डार्विन के बाद विज्ञान मे क्रान्तिकारी उन्नति हुई है, यहाँ तक कि गत दस साल में भी यह बहुत आगे बढ गया है। प्रश्न यह है कि इस उन्नति का रुख किधर है ? क्या वह धर्मों की पोषिका है या शोषिका ? जे० बी० एस्० हालडेन के शब्दों मे—

The progress of physics by showing that matter does not possess various properties attributed to it by metaphysicians, has rendered Materialism a good deal more plausible than ten year ago.

( Fact and Faith )

अर्थात् पदार्थ-विज्ञान की उन्नति ने यह दिखलाकर कि मैटर मे वे गुण नही है जिनका कि दार्शनिक गण उस पर आरोप करते थे अनात्मवाद की सत्यता की सम्भावना को यहाँ तक कि दस साल पहले से भी कही ज्यादा बढा दिया है।

अवश्य विज्ञान में कुछ घरफोड़ विभीषण भी है जैसे सर जेम्स जीनस, एडिंगटन, आलिवर लाज इत्यादि। इनके सम्बन्ध मे आइनस्टाइन के उन शब्दो को हम याद दिलाते है कि एक वैज्ञानिक साहित्यिक ताव मे आकर क्या कहता है तथा उसका विशुद्ध वैज्ञानिक मत क्या है इसमें प्रभेद किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त जे० बी० हालडेन का इसी विषय का चोचला सुन लीजिये। वे कहते है, "कुछ लोग अनवरत यह प्रचार-कार्य कर रहे है कि

विज्ञान और धर्म का पुराना वैर खत्म हो चुका, और अब वे पुरानी दुश्मनी को बिसार करने वाले मिल रहे है। मेरे कुछ वैज्ञानिक बन्धु इस प्रचार-कार्य कर रहे है। सर जेम्ज जीनस हमे ईश्वर मे इसलिए विश्वास स्थापन करने के लिए कह रहे है कि इस विश्व जगन् मे ऐसी सुश्रृखला है इसका अवश्य ही कोई बुद्धिमान् स्रष्टा रहा होगा, किन्तु सर आर्थर एडिंगटन कहते है कि यह सुश्रृखला की बात हमारे मन का आरोप-मात्र है ? ये दोनो सत्य नही हो सकते, और मुझे तो बडी जबरदस्त आशका है कि दोनो गुमराह है। फिर भी आश्चर्य यह है दोनो धर्म के स्तभरूप मे उपयोग मे लाये जा रहे है, जिससे यह साबित है कि धर्म के अनान्य बौद्धिक आश्रय और भी कमजोर होगे।"

इन बातो को देखते हुए यह कहा जा सकता है और उसमे कुछ अत्युक्ति नही होगी कि डार्विन यदि आज दिन जीवित होते अनात्मवादी होते।

३५

# प्रगतिवाद की चतुःसीमा

इधर साहित्य के जाति-निर्णय पर हिन्दी में बहुत स्वस्थ वाद-विवाद हो रहा है। पर उससे चीजो का स्पष्टीकरण हो रहा है या नही यह दूसरी बात है। यहाँ मै यह बताने की चेष्टा करूँगा कि प्रगतिवाद का साहित्य के सम्बन्ध मे क्या वक्तव्य है, और उसकी सीमाएँ कहाँ जाकर समाप्त हो जाती है।

प्रगतिवादी तथा दूसरे लोगो मे सबसे अधिक झगडा इस कारण है कि प्रगतिवादी जहाँ तक कि साहित्य का सम्बन्ध है, अपनी आलोचना-पद्धति की सीमाओ को नही समझते। कुछ कठमुल्ला किस्म के प्रगतिवादी यह जो समझते है कि किसी साहित्यिक या कला-सम्बन्धी कृति के विषय मे उन्होने यह कह दिया कि वह प्रगतिशील है, तो सब-कुछ कह दिया, यह भ्रान्त धारणा है।

प्रगतिवाद प्राथमिक रूप से और मुख्यत· एक सामाजिक बल्कि समाज-सम्बन्धी मतवाद है। मैने मतवाद शब्द का प्रयोग किया, इससे यह न समझा जाय कि इस क्षेत्र मे मै किसी दूसरे मत की गुन्जाइश मानता हूँ। प्रगतिवाद अर्थात् समाज की प्रगति हो रही है, और उसमे हम हाथ बटा सकते है, यह मत एक वैज्ञानिक सिद्धान्त की तरह है, और उसमे मतभेद का कोई स्थान नही है। यह स्मरण रहे कि प्रगतिवादी सिद्धान्त का आविष्कार तो बाद को हुआ, पर वह बराबर समाज में लागू था। यह बात उसी प्रकार की है कि न्यूटन के पहले भी मध्याकर्षण का सिद्धान्त लागू था। इसी प्रकार हम यह भी देखते है कि साहित्य मे प्रगतिवादी मतवाद की स्थापना के पहले प्रगतिशील साहित्य मौजूद था।

✓अब हम थोडे में यह बता देना चाहते है कि मै क्यो यह मानता हूँ कि प्रगतिवाद साहित्य को मुख्यत समाज की कसौटी पर कसता है, और इसीलिए वह जो-कुछ कहता है, वह उस साहित्य के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने पर भी सब-कुछ नही कहता। बहुत-कुछ कहना बाकी रह जाता है, भले ही वह समाज की प्रगति की दृष्टि से उतना महत्त्वपूर्ण न हो। ✓

मैने प्रगतिवाद की जो सक्षिप्त परिभाषा की है उसमे दो बातें हैं, एक तो यह कि मनुष्य-समाज मे निरन्तर प्रगति हो रही है। आदिम समाज से लेकर मनुष्य ने अब तक बराबर प्रगति की है, और यह आशा की जा सकती है कि वह जल्दी ही साम्यवाद मे पहुँच जायगा जिसमे प्रत्येक व्यक्ति उतना काम करेगा जितना कि वह कर सकता है, और उतना लेगा जितनी कि उसे आवश्यकता है, दूसरे शब्दो मे जिसमे मनुष्य आत्माभिव्यक्ति और सच्चे अर्थों मे आत्म-विकास कर सकेगा।

अब हम परिभाषा के दूसरे हिस्से मे आते है। अवश्य यहाँ यह बता दिया जाय कि परिभाषा का दूसरा हिस्सा पहले हिस्से से ही निकलता है। मनुष्य ने यह जो प्रगति की है, यह इस कारण नही की कि किसी अज्ञात शक्ति ने ऐसी जगत्-रचना कर दी, या जगत्-रचना मे कोई उद्देश्य अन्तर्निहित था, बल्कि यह प्रगति सहस्रो सघर्षो, क्रान्तियो इत्यादि के फलस्वरूप हुई। और प्रगतिवाद इसी चालू प्रक्रिया के निरीक्षण से प्राप्त एक नियम-मात्र है। यही पर यह बात आती है कि मनुष्य कुल मिलाकर इस प्रगति मे बराबर हाथ बटाता आया है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य उद्योग न करता, निरन्तर आगे बढने के लिए सघर्ष न करता तो यह प्रगति न होती। प्रगति कोई भाग्य या अदृष्ट की तरह अपरिहार्य या अनिवार्य नही है कि मनुष्य हाथ-पैर समेटकर बैठा रहे, तो भी वह प्रगति करेगा ही। इतिहास का तथ्य तो यह है कि कुल मिलाकर मनुष्य-समाज प्रगति की ओर गया है, पर इतिहास मे कई जातियाँ ऐसी हो गई है जो ससार से इस कारण लुप्त हो गई कि वह हाथ-पैर बाँधकर स्थविर होकर बैठ गई।

इस प्रकार से प्रगतिवाद जहाँ अपनी परिभाषा के प्रथम भाग के कारण एक विज्ञान है, वहाँ वह अपनी परिभाषा के दूसरे भाग के कारण एक कर्तव्य-शास्त्र भी है, जो बताता है कि हम किस प्रकार प्रगति मे हाथ बँटा सकते है, और हमे हाथ बँटाना चाहिए। इस प्रकार प्रगतिवादी आलोचना-पद्धति आलोचना की एक वैज्ञानिक शैली-मात्र न होकर एक क्रान्तिकारिणी शक्ति के रूप मे इस बात को स्पष्ट रूप से सामने लाती है कि साहित्य इस प्रगति में हाथ बँटावे, और उसका पक्ष ले। दूसरे शब्दो मे वह यह भी स्पष्ट करती है कि साहित्य या कला कोई निस्पृह निष्काम वाक्य या रेखा-रचना-मात्र नही है, वह प्रगति का प्रतिपादक, उसके साथ पक्षपात करने वाला पार्टीसन साहित्य है।

जहाँ तक साहित्य की आलोचना की प्रगतिवादी पद्धति का सम्बन्ध है, वह ऊपर बताई हुई परिभाषा के दूसरे भाग को साहित्य मे पुष्पित और

पल्लवित देखना चाहती है। दूसरे शब्दों में वह चाहती है कि साहित्य समाज की अग्रगति, उत्थान या प्रगति मे हाथ बटाय, और इसी कसौटी पर वह साहित्य को कसकर देखती है कि किसी एक विशेष समय में कोई विशेष साहित्य इस सम्बन्ध मे कैसे उतरता है।

प्रगतिवाद मे स्वाभाविक रूप से मूल्य या मान्यताएँ चिरन्तन नहीं है, क्योकि प्रत्येक युग मे प्रगति का तकाजा विभिन्न होता है। एक ही बात किसी एक विशेष समय मे प्रगतिवादी हो सकती है, पर वही परिस्थितियो के बदलने पर प्रगति-विरोधी भी हो सकती है, जैसे देश-भक्ति को ही लीजिये। जब कोई देश पराधीन है, तो देश-भक्ति का नारा एक प्रगतिमूलक नारा होगा, देश-भक्तिमूलक साहित्य प्रगतिमूलक होगा। पर यदि वही देश स्वतन्त्र हो जाय और वहाँ देशी पूँजीपतियो का राज्य स्थापित हो जाय, भले ही उसका बाह्य रूप प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र का हो, वह दूसरे देशों पर साम्राज्यवादी आक्रमण करे, तो उस समय देश-भक्ति का नारा प्रगति-विरोधी होगा, इसी कारण किपलिंग आदि लेखको का बहुत सा देश-भक्तिमूलक साहित्य प्रगति-विरोधी है इसीलिए किसी साहित्य को प्रगतिवादी कह देने पर हम केवल इतना ही कहते है कि समाज की वर्तमान अवस्था मे वह प्रगतिशील है, हम सर्वकाल के लिए उसके सम्बन्ध में कोई फतवा नहीं देते।

अवश्य ऐसा हो सकता है कि कोई साहित्य इस प्रकार से रचित हुआ हो कि वह अपने समय मे प्रगतिवादी होने के अनिरिक्त सर्वकाल के लिए प्रगति-शील हो। गोर्की आदि बहुत-से लेखको का साहित्य इस श्रेणी में आ सकता है।

ऐसा क्यो, यह भी स्पष्ट कर दिया जाय। आखिर क्या बात है कि कोई साहित्य तो केवल अल्पकाल के लिए प्रगतिशील होता है, और कोई सर्वकाल के लिए। इसके उद्घाटन के लिए हमे कुछ गहराई मे जाना पडेगा। अब तक इतिहास मे इतने युग हुए है (१) आदिम समाजवादी युग, जब कोई वर्ग नही था, पर वह समाज उत्पादन की दृष्टि से बहुत पिछडा हुआ था (२) दास पद्धति का समाज, जिसमे दास ही उत्पादक थे, और दूसरे शोषक। यह समाज पद्धति भारत मे अपने क्लासिकल रूप में नही आई (३) सामन्तवादी समाज, जिसमे सर्फ या कृषक दास या अर्द्धदास ही उत्पादक थे, हमारे यहाँ वैदिक युग से लेकर अब तक देश के पिछडे हुए हिस्सों में यही समाज-पद्धति चालू है। (४) पूँजीवादी समाज, इसमे मजदूर उत्पादक है और पूँजीवादी शोषक। (५) समाजवादी समाज, इसमे उत्पादन तथा राज्य का सूत्र उत्पादको के हाथ में आ जाता है। रूस तथा उसके साथी देशो मे यही पद्धति है। इसमें स्वा-

भाविक रूप से भूतपूर्व शोषको आदि का दमन होता है।

इनके अतिरिक्त भविष्य मे साम्यवादी समाज स्थापित होगा, जिसमें किये हुए काम की मात्रा और गुण के अनुसार मजदूरी न दी जाकर (जैसा कि समाजवादी समाज मे होता है) एक व्यक्ति उतना काम करता है जितना वह कर सकता हूँ, पर उतना लेता है जितने को उसे आवश्यकता है, जो किये हुए काम के अनुपात से अधिक भी हो सकता है और कम भी।

अब इनमे से प्रत्येक युग में शोषित वर्ग के साथ पक्षपात करके प्रगतिशील साहित्य उत्पन्न हो सकता है। सामन्तवादी युग को लिया जाय, क्योकि हम उसके पास है। सामन्तवाद के गर्भ मे पूँजीपति वर्ग का जन्म होता है, पर वह एक उत्पीड़ित वर्ग के रूप में सामने आता है। उस पर अत्याचार होते हैं, अमीर उमराओ के मुकाबिले मे वह पराया समझा जाता है, मनमाने रूप से उस पर टैक्स लगाये जाते हैं। उसे उठने नही दिया जाता। पूँजीवादी वर्ग इस कारण साम्य, मैत्री, स्वतन्त्रता का नारा देकर अन्य शोषितो को अपने साथ लाता है। सामन्तवादी समाज में जो साहित्य समाजवादी अमीरो को नीचा दिखाकर पूँजीपतियो को आगे बढने मे अर्थात् उन्हे सामन्तवादियो पर विजय प्राप्त करने मे मदद देता है, वह प्रगतिशील है। इसके बाद चलिए तो हम देखते है कि पूँजीवादी वर्ग सामन्तवाद पर विजय प्राप्त करके उन उदात्त नारो को बालाये ताक रख देता है जिन्हे देकर वह शक्ति आरूढ हुआ, और वह मजदूर-वर्ग के शोषण मे प्रवृत्त होता है। ऐसी हालत मे वही साहित्य, जिसने सामन्तवाद पर पूँजीवादी वर्ग की विजय मे हाथ बटाया, और जो इस कारण प्रगतिशील था, अब प्रतिक्रियावादी हो जाता है। हाँ, यदि उस साहित्य में सामन्तवाद पर पूँजीवाद की बिजय के द्रुतीकरण के साथ-साथ यह भी साफ कर दिया गया हो कि पूँजीवाद अपने दिखाने के आदर्श के साथ विश्वास-घात करेगा, और साथ ही यह दिखाया गया हो कि मजदूर और किसान वर्ग (भले ही वह सामूहिक फार्म के रूप मे संगठित रूप मे हो) की विजय मे ही अन्तिम विजय होगी, तब वह साहित्य अपने समय में प्रगतिशील होने के अतिरिक्त सर्वकाल के लिए प्रगतिशील होगा। गोर्की तथा अन्य बहुत से लेखको के साहित्य मे इसी प्रकार का विस्तार और अन्तर्दृष्टि होने के कारण वह अपने काल के लिए ही नही सर्वकाल के लिए प्रगतिशील है। अपने यहाँ के प्रेमचन्द की कुछ रचनाओ के सम्बन्ध मे यह बात कही जा सकती है, उनमे हम देखते है कि प्रेमचन्द के पैर समसामयिक युग में जमे होने पर भी उनका सिर सर्वकाल के आकाश मे है जहाँ से वे अपने विचार आहरित करते है।

मै यहाँ और अधिक ब्यौरे मे नही जाऊँगा कि कौन सा साहित्य किस समय और किस हद तक प्रगतिशील है। मुझे तो यहाँ पर केवल इस कसौटी का स्पष्टीकरण करना था। यह तो साफ हो गया कि प्रगतिवाद की कसौटी एक समाज-सम्बन्धी कसौटी है, पर जैसा कि मै बता चुका हूँ किसी साहित्य के सम्बन्ध मे इतना ही कह देना सब-कुछ कह देना नही है कि वह समाज की प्रगति का विरोधी है, उसके पक्ष मे है अथवा विपक्ष मे है।

आखिर स्वीकृत प्रगतिशील लेखको मे कोई लेखक अधिक पसन्द किया जाता है, कोई लेखक कम, किसी लेखक को हम उस्ताद मानते है, तो किसी को उससे कई दर्जे उतरकर मानते है, इसमे कौन सी ऐसी बात है जिसके कारण एक प्रगतिशील लेखक दूसरे प्रगतिशील लेखक से श्रेष्ठ होता है, और श्रेष्ठ माना जाता है? क्या हम इसकी इस प्रकार व्याख्या कर सकते है कि एक अधिक प्रगतिशील है, इसलिए वह हमे अधिक पसन्द आता है, और दूसरा कम प्रगतिशील है, इस कारण वह हमे कम पसन्द आता है? क्या इस प्रकार की व्याख्या करना उचित होगा?

एक उदाहरण लिया जाय। मान लीजिए एक मञ्च से दो व्यक्ति बोल रहे है, दोनो प्रगतिशील है। एक के बोलने पर लोग जम्हाई लेने लगते है, इधर-उधर देखते है, घडी देखने लगते है, पर दूसरा जब बोलता है तो लोग मन्त्र-मुग्ध होकर सुनते है। क्या इसकी इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है कि एक अधिक प्रगतिशील है, और दूसरा कम? क्या भाषा, शैली, व्याख्यान को ढङ्ग से अदा करने आदि का इसमे कोई हाथ नही है? क्या अक्सर ऐसा नही देखा जाता कि अच्छा वक्ता अनिवार्य रूप से उस विषय का श्रेष्ठतर जानकार नही होता? कई बार ऐसा होता है कि अच्छा ज्ञाता अच्छा वक्ता नही होता। यह भी नही कहा जा सकता कि जिस व्यक्ति का व्याख्यान अधिक प्रभावोत्पादक हुआ, वह अपरिहार्य रूप से उस व्यक्ति से अधिक ईमानदारी के साथ अपनी कही हुई बातों मे विश्वास करता है।

इस प्रकार यह मानना ही पडेगा कि केवल इतना कह देने से ही कि अमुक कृति प्रगतिशील है, हम न तो यह कह देते है कि वह सबसे अधिक सफल रहेगी, और न हम उस कृति के सम्बन्ध मे सब-कुछ कह देते है। किसी कृति को प्रगतिशील बताने का अर्थ केवल इतना ही है कि सामाजिक दृष्टि से उस कृति का प्रभाव अच्छा होगा बशर्ते कि (यहाँ बशर्ते कि बहुत महत्त्वपूर्ण है) और सब दृष्टि से वह उस प्रकार की दूसरी कृतियो के मुकाबले का हो। हम फिर उसी उदाहरण मे लौटकर कह सकते है कि एक व्यक्ति व्याख्यान मे

मजदूरो के फायदे के पक्ष मे कहता है, पर उसे बोलना नही आता, दूसरा व्यक्ति बडा अच्छा वकील और वक्ता है, वह पूँजीपतियो की तरफ से बोलता है। अब इन दोनो मे पहला व्यक्ति प्रगतिशील यहाँ तक कि क्रान्तिकारी होते हुए भी सम्भव है कि किसी नये हृदय को आन्दोलित न कर सके, और वकील साहब प्रतिक्रियावादी होते हुए भी कुछ नही तो जैसा है उसे कायम रखने के पक्ष मे मुकदमा तैयार कर सके।

दूसरे शब्दो मे मेरा वक्तव्य यह है कि किसी लेखक का प्रगतिवादी होना इस बात की गारटी नही है कि प्रभाव कह लीजिये रस कह लीजिए या जो भी चाहे कहिये, उत्पन्न कर सकेगा। इसके विपरीत सम्भव है वाचालता तथा वाग्जाल की बदौलत प्रतिक्रियावादी अपना प्रभाव या रस (या करके लिख रहा हूँ इसलिए न समझा जाय कि मै दोनो शब्दो को बिलकुल पर्यायवाची मानता हूँ) उत्पन्न कर सके। और यहाँ यह भी बता दिया जाय कि यदि प्रभाव उत्पन्न नही कर सका तो किसी लेखक की प्रगतिशीलता ही क्या हुई ? और किसी वाद मे भले ही यह दावा (केवल दावा) किया जाता हो कि स्वातः सुखाय साहित्य की रचना की जाती है, पर प्रगतिवादी साहित्य तो जनता को लेकर चलने मे ही अपनी सार्थकता मानता है। इस कारण वह इस बात को महत्त्व दिये बिना नही रह सकता कि साहित्य या कला कहाँ तक और किस हद तक जनता को आन्दोलित करते है,उसे वीरता के कार्यो के लिए उद्बुद्ध करते है इत्यादि। चलते हुए यहाँ यह भी बता दिया जाय कि प्रगतिवादी के निकट केवल मध्ययुग के नाइटो की तरह मार-काट ही वीरता नही है। बुरे के ध्वस मे वीरता है, पर अच्छे के निर्माण मे उससे कम वीरता नही। स्वाभाविक रूप से जिन देशो मे शोषण-मूलक पद्धतियो का अभी अन्त नही हुआ है, वहाँ प्रगतिवादी साहित्य शोषण के विरुद्ध सग्राम के लिए उकसायगा, पर जहाँ सच्चे अर्थो मे जनवादी शासन स्थापित हो चुका है, वहाँ वह निर्माण के हाथो को मजबूत करेगा, अवश्य वह हर हालत मे शोषको के षड्यन्त्रो के विरुद्ध जनता को जागरूक रखेगा।

प्रगतिवाद एक नया वाद है, किन्तु उसमे नवीनता के लिए नवीनता, चौका देने के लिए नवीनता के प्रति मोह नही है। यदि नवीनता, नई शैली, नया प्रयोग प्रगतिवाद के लक्ष्य को असरदार बनाता है, उसके प्रभाव-क्षेत्र को विस्तृत बनाता है, तो वह स्तुत्य और अभिनन्दनीय है, पर यदि कोई प्रयोग के लिए प्रयोग मे पडकर भटक जाता है, जैसे कथित प्रयोगवादी भटके है, तो वह बिलकुल व्यर्थ और त्याज्य है। अतिआधुनिकता और अतिनवीनता के मोह ने यूरोपीय बल्कि पैरिस की कला को क्युबिज्म के गड्ढे मे डालकर कहाँ

पहुँचा दिया है इसे हम जानते है। वह जनता से सम्पूर्ण रूप से वियुक्त हो गई है, और उसके पीछे कोई अनुप्रेरणा नही है। वह तो कुछ थोडे से विकृत-रुचि लोगो का रेखा-विलास-मात्र रह गया है। सामाजिक रूप से यह कला उन देशो के शासक वर्गो के पतन की सूचक है।

लेनिन ने इसी कारण प्रगतिवादियो को चेतावनी देते हुए कहा था कि अतिनूतन और चौका देने वाले नूतन का मोह वर्जनीय और त्याज्य है, क्योंकि इससे हम कही पर नही पहुँचते, बल्कि पथ-भ्रष्ट होकर भटकते हुए ऐसी जगह पहुँच जाते है जो अवाछनीय है। हिन्दी के कथित प्रयोगवादी भटकते भटकाते एक तरफ तो मैथुनवाद मे पहुँचे (नदी के द्वीप) और दूसरे अध्यात्मवाद-रहस्यवाद-पलायनवाद मे पहुँचे (तार-सप्तक)।

प्राचीन का केवल इसलिए वर्जन कि वह प्राचीन है उचित नही। लेनिन ने कथित बुतशिकनो को फटकार बताते हुए कहा था—सुन्दर की रक्षा करनी पडेगी, उसे माडेल के रूप मे लेना पडेगा, और वहाँ से रूप-निर्माण का प्रारम्भ करना पडेगा, चाहे वह पुराना ही क्यो न हो। कोई चीज पुरानी या प्राचीन है, इस कारण यदि वह वास्तविक रूप से सुन्दर है तो हम उससे मुँह क्यो मोड़े, उसे आगामी विकास के प्रारम्भ-विन्दु के रूप मे लेने से इन्कार क्यो करे ? हम किसी चीज की केवल इसलिए पूजा क्यों करे तथा उस के सामने सिर क्यों झुकायँ कि वह नया है ? यह वाहियात बात है, बिलकुल वाहियात है। ऐसा सोचने मे एक बड़ा हिस्सा तो ढोग का है, और हाँ यह तो है ही कि पश्चिमी कला मे फैले हुए फैशनो के लिए अपने अनजान मे सम्मान की भावना है।

इसलिए प्रगतिवादी प्राचीन साहित्य, कला या सङ्गीत का केवल इस कारण तिरस्कार नही करता कि वह प्राचीन है। कला, सङ्गीत या साहित्य का सृजन हवा मे नही हो सकता, इनको जनवादी मोड़ देने के लिए, आवश्यकता के अनुसार नई परम्परा की सृष्टि करने के लिए प्राचीन साहित्य, कला, सङ्गीत की जानकारी आवश्यक है। हम उसका अनुकरण भले ही न करे (वह हम क्यो करेंगे ?), पर यदि वह अच्छा है, किसी अर्थ मे भी अच्छा है, उसे हम अपनी आगामी रचना का प्रारम्भ-विन्दु तो बना सकते है। हाँ प्राचीन की कद्र करते समय हम उसकी साधारण प्रवृत्ति तथा वर्ग-चरित्र की ढाल को भुला नही सकते। लेनिन की भाषा मे हमारा कर्तव्य यह होगा कि "पूँजीवाद ने सस्कृति, ज्ञान तथा टेकनीक का जो ऐश्वर्यशाली भण्डार छोडा है, वह हमारे लिए आत्यतिक रूप से आवश्यक है, हम उसे पूँजीवाद के अस्त्र से समाजवाद के

अस्त्र के रूप मे परिवर्तित कर ले ।"

इसी कारण इस बात की आवश्यकता है कि प्रगतिवादी अपने देश और विश्व की प्राचीन कलामूलक थाती का अध्ययन करे । अवश्य इस थाती की रक्षा का अर्थ यह कदापि नही है कि उस तक अपने को सीमित कर दिया जाय, जैसा कि लेनिन ने कहा है । किसी भी हालत मे हम उसकी अवज्ञा नही कर सकते । अवश्य उन्हे ढग से पचाने के लिए हमे जागरूक होकर उनका अध्ययन करना पडेगा क्योकि स्वाभाविक रूप से उनमें ऐसे बहुत से सस्कारो तथा विचारो की छाप है जो सर्वथा त्याज्य है । प्राचीन साहित्य तथा कला मे जहाँ कई बार क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ मिलेगी, साथ ही साथ वहाँ उनमे प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तिया भी है । हमारे यहाँ के प्राचीन सस्कृत तथा हिन्दी-साहित्य मे शासक वर्ग के साथ बराबर पक्षपात के वर्णन मिलेगे । फिर भी उन्हे पढने की आवश्यकता है ।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट हो गया कि प्राचीन के प्रति प्रगतिवाद का क्या रुख है ।

अब हम उसी प्रश्न पर आते है कि क्या किसी साहित्य को प्रगतिवादी कह देना उसके सम्बन्ध मे सब कुछ कह देना है ? मै पहले ही बता चुका हूँ कि नही, क्योकि निर्णयात्मक रूप से प्रगतिवादी रचनाओ में भी कोई अधिक प्रभावोत्पादक होता है कोई कम, इसका कारण अन्यत्र ढूँढ़ना पड़ेगा ।

यही से हम भाषा, शैली, घटना-विन्यास या टेकनीक पर पहुँचते है । शक्तिशाली प्रतिक्रियावादी लेखक इन्ही के सहारे जनता को गुमराह करते हैं, अर्थात् उन्हे या तो गलत रास्ते मे लगाते है, या सही रास्ते से हटाकर बेकार की बातों में उलझा देते है ।

यद्यपि प्रगतिवादी आलोचना किसी रचना के सामाजिक रुख से ही मुख्यत: सरोकार रखती है, फिर भी प्रगतिवादी लेखक भाषा आदि के प्रति उदासीन नही रह सकता । सच तो यह है कि भाषा के सम्बन्ध मे मोटे तौर पर एक ऐसा दृष्टिकोण है जो प्रगतिवादी कहला सकता है । प्रगतिवाद का आवेदन क्रान्तिकारी जनता के प्रति है, इस कारण प्रगतिवादी साहित्य की भाषा और शैली जनता की मनपसन्द होनी चाहिए । हमारे देश में कई बार भाषा को उस समय के प्रगतिशील विचारो के तकाजे के कारण बदलना पडा और फिर जब प्रतिक्रान्ति हुई तो फिर भाषा बदली । सस्कृत से बुद्ध ने पाली, प्राकृत को अपनाया, फिर जब प्रतिक्रान्ति हुई, तो फिर सस्कृत चली । स्वय हिन्दी की उत्पत्ति अपेक्षाकृत प्रगतिशील प्रवृत्तियो के कारण हुई ।

शैली के विषय मे भी यह कहा जा सकता है कि अप्रगतिवादी लेखक इसके गुरु हो गए है। उनसे प्रगतिशीलो को सीखने मे तो कोई हर्ज नही।

कुल बातो को देखकर यह कहा जा सकता है कि इन बातो की दृष्टि से अप्रगतिशील लेखक (जैसे मोपासाँ) कई बार प्रगतिशीलो से आगे रहे है। पर हर्ष का विषय है कि धीरे-धीरे दूसरा पलडा भारी हो रहा है।

: ३६ :

# शरच्चन्द्र की अन्तिम कृति 'जागरण'

एक उपन्यासकार के रूप मे शरत् बाबू का नाम भारत के प्रत्येक उपन्यास-पाठको को ज्ञात है। अब तो उनके कई उपन्यासो के फिल्म बन जाने से अनपढ़ लोगो मे भी उनकी कला की ख्याति पहुँच चुकी है।

शरत् बाबू उपन्यासो और कहानियो के रूप मे जो-कुछ छोड गए है वह बहुत यथेष्ट है। यहाँ पर मै उनका जिक्र नही करूँगा। 'शरच्चन्द्र एक अध्ययन' नाम से मैने शरत् बाबू पर एक नातिबृहत् पुस्तक लिखी है, उसमे उनकी प्रकाशित रचनाओ का ब्यौरेवार दिग्दर्शन कराया गया है। यहाँ पर मै केवल उनके असमाप्त उपन्यास 'जागरण' का विवरण दूँगा। वे जिस समय परलोक सिधारे, उस समय इस उपन्यास को लिखने मे लगे हुए थे। वे इसे समाप्त नही कर पाये और मृत्यु के पास से उनको बुलावा आ गया।

चलते हुए यह भी बता दिया जाय कि शरच्चन्द्र की अन्य जो रचनाएँ हमारे सामने मौजूद है, उनके अतिरिक्त केवल यही 'जागरण' ऐसी रचना नही है जिससे साहित्य वञ्चित रह गया, मृत्यु के कारण यह रचना हमें उसकी पूर्णता मे न मिल सकी, यह बात तो समझ मे आती है, पर उनके मित्रों की गफलत के कारण उनकी कई रचनाएँ खो गईं, और वे हमे प्राप्त नही हुईं। एक रचना 'वासा' या 'काकवासा', जो उपन्यास-क्षेत्र मे उनका पहला प्रयास था, स्वयं उन्ही के द्वारा नष्ट कर दी गई।

ईस्टलीन के अनुकरण मे उन्होने 'अभियान' नामक एक उपन्यास लिखा था, जो किसी साहब के पास था, पर उन्होने उसे खो दिया। इसी प्रकार 'माईटी ऐटम' के अनुकरण पर उन्होने 'पाषाण' नाम से एक उपन्यास लिखा था, जो खो गया। मजे की बात यह है कि यह उपन्यास उनके मामा श्री सुरेन्द्रनाथ गगोपाध्याय के पास था, और वे एक साहित्यिक थे, फिर भी यह उपन्यास खो गया। साहित्यिक होने के नाते उनको यह तो समझना चाहिए था कि लेखक के निकट रचना का क्या मूल्य होता है।

यही पर खोये हुए उपन्यासो की सूची समाप्त नही होती। 'ब्रह्मदैत्य' नाम से उन्होने एक उपन्यास लिखा था, जो खो गया। इनके अतिरिक्त कुछ लेखको का यह कहना है कि 'बाला', 'शिशु', 'छायारप्रेम', 'वामुन ठाकुर', आदि रचनाएँ खो गई। पता नही ये रचनाएँ कैसी थी, पर इनमे से दो, जैसा कि हम बता चुके है, अनुकरण मे लिखी गई थी, इस कारण न तो शरत् बाबू ने कभी इनके लिए अफसोस किया, और न हमे ही विशेष अफसोस है क्योकि हम तो असली शरत् बाबू को जानना चाहते है। अवश्य यह कहा जा सकता है कि अनुकरण मे भी प्रतिभा और सृष्टि-शक्ति का परिचय मिल सकता है। सम्भव है कि उन रचनाओ के प्राप्त होने पर यह ज्ञात होता कि गुरु गुड रह गए और चेला चीनी हो गए। ऐसा तो कई बार होता है न। जो कुछ भी हो शरत् बाबू ने अपनी सारी खोई हुई रचनाओ के लिए किसी को भी उलाहना नही दिया। उनकी सृष्टि-शक्ति तो एक उमड़ती हुई, कल-कल करती हुई महानदी की तरह थी, यदि उसमे का कुछ पानी बेकार मे खर्च हो गया, तो इसकी उसे क्या चिन्ता थी। वह तो पीछे को लौटकर देखने के और हिसाब करने के आदी नही थे।

हम पाठको को भी उन खोई हुई रचनाओ का उतना अफसोस नही है, क्योकि जब हम जानते ही नही कि हमने क्या खोया, तो हमें खोने का दु ख अधिक नही हो सकता। पर जिस उपन्यास को वह असमाप्त छोड गए, उसके लिए हमे बहुत अधिक अफसोस इस कारण है कि हमारी ऐसी धारणा है कि 'जागरण' मे वे अपनी पूर्ण विकसित टैकनीक का प्रयोग एक नई ही धारा के लिए कर रहे थे।

हम इस उपन्यास के सम्बन्ध में और कुछ न कहकर पहले पाठको के सम्मुख इसका सक्षिप्त रूप रख देगे जिससे कि उनके लिए यह सम्भव हो कि वे हमारी आलोचना के रस को पूर्ण रूप से ग्रहण कर सके। उपन्यास का जितना हिस्सा वे लिख गए, वह ८० पृष्ठो मे आया है, इसलिए हम उसका थोड़े मे ही साराश देंगे। साराश यो है—

बैरिस्टर मिस्टर आर० एम० रे का असली नाम राधामाधव राय था। वे न तो ब्राह्मसमाजी थे, कट्टर हिन्दू तो थे ही नही, हाँ यह कहा जा सकता है कि विलायत से लौटे हुए लोगो की बिरादरी के थे। जब वे स्कूल का दरवाजा पार करके कालेज मे कदम रखने ही वाले थे, तभी सात दिनो के अन्दर एक-एक करके उनके पिता तथा माता की मृत्यु हुई।

जमीदारो का परिवार था पिताजी काफी धन और जमीदारी छोड़ गए

थे । सबसे बडी बात जो वे छोड गए थे, वह यह थी कि वे एक विश्वस्त तथा चतुर कर्मचारी के हाथो मे जमीदारी का काम सौप गए थे । इसका नतीजा यह हुआ था कि रिश्तेदारो के सारे पेच व्यर्थ गये थे, और मिस्टर रे को कभी अभाव का सामना नही हुआ ।

बैरिस्टरी पास करने के बाद जब मिस्टर रे देश मे लौटे, तो उन्होने स्वाभाविक रूप से अपनी ही तरह एक साहब की शिक्षिता कन्या से विवाह कर लिया, और वे अयोध्या, प्रयाग, बम्बई आदि स्थानो मे प्रैक्टिस करते रहे । कहना न होगा कि उन्होने जो साहबी ठाठ अपनाया, वह अपनी बैरिस्टरी की कमाई की बदौलत नही, बल्कि जमीदारी की आमदनी की बदौलत कायम रहा । जमीदारी से जो रस निचोडकर भेजा जाता था उसी से उनकी साहबी का पौधा पलता रहा । इस बीच उनके परिवार की सख्या मे वृद्धि हुई, और एक पुत्र तथा एक कन्या पैदा हुई । पुत्र तो बचपन मे ही मर गया । पत्नी भी बहुत दिनो तक बीमार रहने के बाद चल बसी । तब से मिस्टर रे ने बहाना पाकर कह लीजिए या वैराग्य के कारण बैरिस्टरी छोड दी । पर साहबी ठाठ तो कायम रहा ही ।

इस समय साहब की उम्र पचास से ऊपर हो चुकी थी । वे अपनी कन्या को लेकर पछाँह के एक शहर मे रहते थे। इतने मे महात्मा गान्धी का असहयोग-आन्दोलन छिडा, और यद्यपि रे साहब न तो कोई राजनीतिज्ञ थे, और न कोई देश-भक्त, फिर भी समाचार-पत्रो के जरिये से असहयोग की लहर उनके हृदय पर भी लगी ।

रे साहब समाचार-पत्र तथा आये हुए पत्रो को पढने मे व्यस्त थे, इतने मे उनकी कन्या आलेख्य बाहर जाने की पोशाक मे दिखलाई पड़ी । उधर से मकान के सामने मोटर के खडे किये जाने की आवाज भी मालूम हुई । आलेख्य का रङ्ग गोरा नही था, क्योकि बङ्गाली साहबो की लडकियाँ गोरी नही होती । हाँ साबुन और पाउडर की बदौलत चमडी कुछ राख के रङ्ग की मालूम होने लगती है ।

यद्यपि माँ ने जबरदस्ती कन्या का नाम आलेख्य रखा था, और ऐसा नयेपन के लिए ही रखा था, फिर भी यह नाम मिस्टर रे को पसन्द नही था, और वे उसे आलो (शब्दार्थ-रोशनी) करके पुकारते थे । यह नाम उच्चारण की दृष्टि से आसान होने के कारण जल्दी ही प्रचलित हो गया, और कुछ लोगो के अलावा बाकी सब लोगों को यह पता ही नही लगा कि जमीदार-कन्या का एक अटपटा नाम भी है । वे सब उसे आलो ही करके जानते थे ।

आलेख्य ने पिता से कहा—यदि आज लौटने में कुछ देर हो जाय तो चिन्ता न करना। आज इन्दु के घर मे टैनिस-टूर्नामेंट है। मै उसमे शरीक हूँ।

मिस्टर रे अपनें पत्रो में डूबे हुए थे, सिर उठाकर बोले—आलो बेटी देखो, अजीब-अजीब बाते हो रही है, मैने पहले ही कहा था कि यह सब होकर रहेगा।

लडकी अपने पिता को पहचानती थी। उनके लिए दुनिया में जो-कुछ होता है, वह सब होकर रहेगा की श्रेणी में है, और वे उसे पहले ही से जानते थे। इस कारण वह सहसा समझ नही पाई कि उनका किस बात से अभिप्राय है। बोली—कौन सी बात पिताजी ?

मिस्टर रे ने पहले की तरह जोश मे कहा—पुलिस ने दो असहयोगियो को गिरफ्तार किया और मजिस्ट्रेट ने उन्हे कडी सजा दी है कोई छः-सात और पकडे जायँगे देखो क्या होता है।—कहकर उन्होने एक लम्बी साँस ली।

आलेख्य को इन बातो मे दिलचस्पी नही थी। अखबारो मे उसे कोई रस नही आता था। तिस पर इस समम उस पर टूर्नामेंट का भूत सवार था, फिर भी वह अपने निःसङ्ग, शोकजीर्ण,अकालवृद्ध पिता के आग्रह तथा आशङ्का की अवज्ञा न कर सकी। वह अपने पिता से सचमुच प्रेम करती थी। कलाई की घड़ी में उसने देखा कि अभी वह पिता को कुछ समय दे सकती है। बोली—उन व्यक्तियो ने क्या किया था ?

मिस्टर रे बोले—जो किया था, वह कोई मामूली बात नही है। वे गान्धीजी की तरफ से असहयोग का प्रचार कर रहे थे। कहते थे मार-काट मत करो, किसी अँग्रेज या भारतीय के प्रति विद्वेष न रखो, सरकार के साथ कोई सम्बन्ध न रखो, न उसकी नौकरी करो, और न उसकी कचहरियो में न्याय की आशा से जाओ।

आलेख्य बोली—इसका तो अर्थ यह हुआ कि वे देश में अराजकतावाद फैलाना चाहते थे।

मिस्टर रे कुछ चौककर बोले—मालूम तो ऐसा ही होता है।

आलेख्य बोली—तब तो उन्हे जेल भेजना ही चाहिए।

यद्यपि मिस्टर रे कन्या के सब कथनो से सहमत होते चले आ रहे थे, पर कन्या ने उससे जो उपसहार निकाला, उससे वे सहमत न हो सके, बोले—यह नही कहा जा सकता कि जो कुछ ये लोग कर रहे है, वह सब यो ही कर रहें है। सरकार की तरफ से भी अन्याय हो रहे है।

आलेख्य सरकार के पक्ष या विपक्ष मे नही थी, पर वह यह चाहती थी कि दुनिया जैसी है वैसी रहे। बोली—उस दिन हडताल मे मोटर पर निकलने के कारण इन्दु के पिताजी की गाडी के काँच तोड दिये गए थे, यदि वह ईंट काँच पार करके कही इन्दु के पिताजी को लगती ?

मिस्टर रे को इन्दु के पिता के साथ सहानुभूति थी, पर वे बोले—जब उस दिन हड़ताल थी, तो मिस्टर घोष बाहर न निकलते तो अच्छा होता।

आलेख्य ने इस बात को पसन्द नही किया और बोली—गलत बात न मानकर उन्होने तो साहस का परिचय दिया था।

मिस्टर रे बोले—बात गलत थी यह तुमने कैसे जाना ?

आलेख्य पिता की बात न मान सकी, पर इसके साथ ही उसे स्मरण हो आया कि हडताल के दिन मिस्टर रे को अस्पताल जाना था, वे पैदल ही गए थे। बोली—जो लोग पैदल गए थे, उन लोगो ने ठीक किया था। पर जो लोग इस गलत अनुरोध को न मान सके, उन पर ढेलेबाजी का अधिकार किसी को नही था।

मिस्टर रे ने अधिक तर्क नही किया। जब तक उनकी पत्नी जीवित रही, तब तक वह उन्हे दबाती रही। हमेशा वह बहुत अधिक ख़र्च करती थी, और रोक-थाम करने पर यह कहती थी कि इससे कम मे कोई भला आदमी गुजारा नही कर सकता। अब वे बहुत-कुछ कन्या के अधीन थे, कभी उस पर अपनी राय लादने की चेष्टा नही करते थे। इसलिए वे बोले—जाओ तुम्हे देर हो रही है, मुझे भी चिट्ठी-पत्री लिखनी है। जल्दी आना।

आलेख्य इन्दु के घर मे पहुँची तो वहाँ सब तैयार था, टूर्नामेंट घरेलू था। उसमे आलेख्य विजयी रही। इसके बाद चाय-पार्टी को दीर्घ होते देखकर आलेख्य चुपके से सटककर अपनी कार मे जाकर सवार हो गई। उसे अपने एकाकी पिता का स्मरण हो आया था। वह जल्दी से घर पहुँची, तो देखती क्या है कि पिताजी सामान बाँधने मे व्यस्त है। बोली—क्या बात है पिताजी ? कही जाने की तैयारी है क्या ? मै जब गई थी तब तो कोई बात नही थी।

हाँ एक पत्र से यह मालूम हुआ कि जाना जरूरी है। मैने तभी कहा था कि गाधी हमारा सत्यानाश करेगा। मै समझ गया था कि ये स्वदेशी गुण्डे देश को मिटाकर मानेगे।

कहकर उन्होने अपनी जेब से एक चिट्ठी निकालकर कन्या के हाथ मे दे दी, बोले—यदि इनको पकडकर जेल मे बन्द नही किया गया, तो देश का सत्यानाश हो जायगा।

अभी कुछ देर पहले उन्होने बिलकुल दूसरी ही बात कही थी। मुनीम ने लिखा था कि हाल बुरा है, कोई लगान नही देता, लोग मार-काट पर भी कमर कसकर तैयार मालूम होते है।

पत्र पढकर आलेख्य का चेहरा फीका पड गया। बोली—पिताजी आप स्वय जा रहे है ?

—जाऊँ नही तो क्या करूँ ? बिना गये काम नही बनने का। तुम चिन्ता न करो। घोष साहब से कह जाऊँगा, वे आकर दोनो समय खबर ले जाया करेगे।

एकाएक आलेख्य बोल उठी—मै भी आपके साथ जाऊँगी। आप जाकर दूसरे कमरे मे बैठे, मै सारा बन्दोबस्त किये लेती हूँ।

पिता को पुत्री की बात माननी पडी, पिता-पुत्री दोनो अपने देहाती घर में पहुँच गए। आलेख्य पहली ही बार अपने बाप-दादो के इलाके मे आई थी। यही वह कल्पवृक्ष था, जिसे झकझोरते ही विलायत का खर्च, अच्छे-से-अच्छे खाने, पहनने की चीजे, सोना, चादी, हीरा, मोती सब मिल जाते थे। उसकी माँ ने तो कभी इस तरफ ध्यान ही नही किया, पर वह कभी-कभी देखती थी कि जब बडी-बडी पार्टियाँ होती थी, और उनमे मनमाने ढङ्ग से खर्च होता था, तो पिताजी कुछ उन्मन और दुखी होते थे। कई बार तो वे ब्रेक लगाने की कोशिश भी करते थे, पर उनकी चेष्टा सफल नही होती थी। धूम-धडाके के बीच वे दु:खी होकर एक किनारे बैठ जाते थे।

यहाँ आये हुए कुछ ही समय हुआ था कि आलेख्य को ऐसा मालूम पडा कि यह स्थान बिलकुल रहने के लायक नही है। कमरो को फिर से बाकायदा नैच कराके पेण्ट करवाने की जरूरत है। कुर्सी आदि मे घटिया वार्निश है। वह भी आँख को कष्ट देने वाली है, इत्यादि-इत्यादि। सभी बाबा आदम के जमाने की है। चार-पाँच हजार लगे तो किसी तरह निर्वाह हो सकता है। कन्या ने इसी प्रस्ताव को पिता के सामने रखना चाहा। मिस्टर रे उस समय एक पण्डितजी के साथ बातचीत कर रहे थे, परिचय कराते हुए बोले—ये हमारे पुरोहित-वश के है, इन्होने हमारे ही एक इलाके मे एक पाठशाला खोली है। इन्हे प्रणाम करो।

आलेख्य को यह आदेश अच्छा नही मालूम हुआ, क्योंकि वह बहुत निकट के गुरुजनों के अतिरिक्त और किसी को प्रणाम करने की अभ्यस्त नही थी। एक तो अपरिचित, और तिस पर पुरोहित, जिनके विरुद्ध वह बचपन से इतना अधिक सुनती आ रही थी। उसने किसी प्रकार पिता की आज्ञा का पालन

किया, और आगन्तुक के प्रति अवज्ञा दिखाती हुई बोली—पिताजी आपने देखा है इस घर के कमरो की क्या दुर्दशा हो रही है ?

मिस्टर रे बोले—ठीक तो है ।

आलेख्य बोली—इसे आप ठीक कहते है । इन्हे फौरन नये सिरे से पेण्ट कराने की जरूरत है । ये लोग इतने दिनो से कर क्या रहे थे । पुराने आदमी कामचोर होते है । मै इन्हे निकालकर तभी मानूँगी ।

मिस्टर रे बोले—यहाँ पर रहना तो है नही, रहना हो तब तो बात दूसरी है ।

—मैने समझ लिया अब बिना रहे काम नही चलेगा ।

मिस्टर रे ने अमरनाथ से कहा—तब तो अच्छी बात है, क्यो अमरनाथ ? इतने दिनो मे यह समझ तो आई ।

अमरनाथ ने कुछ नही कहा । मिस्टर रे बोले -जो रहना ही है, तो धीरे-धीरे सुधार किया जायगा ।

—किया जायगा नही, अभी करना पडेगा ।—कहकर उसने हाथ के अंग्रेजी उपन्यास के अन्दर से एक तार निकालकर दिखलाया कि मिस्टर घोष के परिवार के कई लोग जल्दी ही यहाँ आ रहे है ।

मिस्टर रे बोले—तो कितने पैसे चाहिएँ ?

—मै कह नही सकती, पर चार बड़े रूमो मे चार ड्रेसिंग टेबिल, और कम-से-कम दस आराम कुर्सियाँ चाहिएँ ।

सुनकर मिस्टर रे की फूँक सरक गई, वे अमरनाथ से बोले—भई मै बहुत दुख के साथ कहता हूँ कि शायद मै तुम्हारी पाठशाला की कुछ सहायता न कर पाऊँ ।

—मालूम तो ऐसा ही होता है—कहकर अध्यापक, अमरनाथ हँसे ।

आलेख्य के बदन मे जैसे आग लग गई, उसने आगन्तुक की सम्पूर्ण रूप से अवज्ञा करके यह गिनाना शुरू किया कि चाय और डिनर के कितने सेट अवश्य और फौरन चाहिएँ । बोली—जब वे आएँगे तो आप राइट रायल इण्डियन स्टाइल मे केले के पत्ते और सकोरे लेकर पेश नही कर सकते । मै सब-कुछ ठीक कर लूँगी, आप चिन्ता न करें । इतने दिनो तक बहुत बेकार खर्च होते रहे । बेकार के लोग पलते रहे, मै इन सबको निकाल बाहर कर रही हूँ । नौजवान कार्यकर्ताओ को नियुक्त करूँगी जिससे कि आधे पैसे पर डबल काम मिले । न मालूम कितने मन्दिर है, इनमे कितने रुपये बेकार खर्च होते है । एक इसी मद से मै समझती हूँ सालाना दस-बारह हजार रुपये बच सकते है ।

मिस्टर रे कुछ अन्यमनस्क हो गए थे, पर यह सुनकर एकदम चौक पडे, बोले—किस मद मे बचाओगी ? देव-सेवा मे ? वह तो पुरखो के जमाने से होती चली आ रही है, उसमे हाथ कैसे डालोगी ?

—मै आपको दोष थोडे ही दे रही हूँ। पुरखे जिस अपव्यय का सूत्रपात कर गए, उसे रोकना तो चाहिए। आपको स्मरण होगा कि माताजी बराबर इस बात पर कितना जोर देती रही थी।

मिस्टर रे सुनकर चुप रहे, तब आलेख्य बोली—पिताजी क्या आपको मूर्ति-पूजा मे विश्वास है ?

—बेटी मेरे विश्वास या अविश्वास पर इनकी प्रतिष्ठा नही हुई।

—तो आप इसका खर्च क्यो उठायँगे ?

—मै तो खर्च नही उठा रहा हूँ। जो लोग इन मूर्तियो को सिर पर रखकर ले आए और प्रतिष्ठित किया, वे ही इनके खर्च की व्यवस्था भी कर गए। बेटी, तुम भले ही उनमे विश्वास न रखो, पर मै उनको वञ्चित होने नही दे सकता।

इसके उत्तर मे आलेख्य कोई कडी बात कहने जा रही थी, पर उसने आश्चर्य के साथ देखा कि अध्यापक अमरनाथ, जो अभी तक चुप बैठे थे, एकाएक लपककर आगे बढे और उन्होने रे साहब के पैर की धूल अपने माथे पर लगाई। जब रे साहब ने कारण पूछा, तो बोले—आपको प्रणाम नही किया था, उसी को सुधार लिया। अनजाने मे मनुष्य से न मालूम कितनी गलतियाँ हो जाती है।

—मै तो करीब-करीब ब्राह्मण ही नही रह गया।

आलेख्य को इस बात से बहुत क्रोध आया, बोली—अब तो आपको इनकी सहायता करनी ही पडेगी।

मिस्टर रे व्यग को अनसुनी करते हुए बोले—करनी तो चाहिए, पर कर कहाँ पा रहा हूँ ?

—आप ऐसी सहायता करे तो कुछ छिपाकर करें।

—क्यो, इसमे क्या बात है ?

—नही तो विपत्ति होगी।

मिस्टर रे ने कहा—विपत्ति कैसी ?

अध्यापक जोर से हँस पडे, बोले—डरिये मत, सारी विपत्तियाँ ड्रेसिग-टेबल आदि के नीचे दब जायँगी।

आलेख्य तिलमिला गई, बोली—सम्भव है दब जायँ, पर आपने जो बूट की

धूल ली, और कुछ न हो उसका दाम भी तो चुकाना पडेगा।

कहकर वह स्वय ही स्तब्ध हो गई।

रे साहब ने कहा—बेटी तुमने ठीक बात नही कही, अमरनाथ तुम जरा बैठो, मै बाहर लोगो से मिलकर अभी-अभी वापस आता हूँ।

कमरे मे दो ही रह गए। आलेख्य ने फौरन ही शरमाते हुए कहा—मैने जो बात कही, वह उचित नही थी।

—हाँ उचित नही थी।

अध्यापक की यह बात भी उसे अच्छी नही लगी, बोली—पिता की मर्यादा करने पर कन्या को खुश होना चाहिए, मेरे पिता बहुत ही सज्जन है, पर उनके साथ धोखा करना भी आपके लिए अनुचित रहा।

अध्यापक ने प्रतिवाद किया, तो वह बोली—इस प्रकार आडम्बर के साथ उनके पैर छूने का और क्या अर्थ हो सकता है।

अध्यापक बोले—हो सकता है।

—तो फिर मुझे कुछ कहना नही है—कहकर वह चली जा रही थी, पर ठिठककर बोली—पिताजी की कमजोरियो का फायदा आपको नही उठाना चाहिए।

—मै उन्हे कमजोर नही मानता। मै उन्हे कमजोर तभी मानता जब वे स्नेह के कारण आपको तरह देते, या अपने अविश्वास के कारण जो कर्तव्य है, उससे च्युत हो जाते।

—याने आपका वक्तव्य यह है कि अपना विश्वास चाहे जो कुछ भी हो, जैसा चला आ रहा है उसे उसी प्रकार चलने देना चाहिए।

—मै यह नही कहता। आपकी युक्ति विलायती ढग की हुई। अपने विश्वास के तकाजे को मै स्वीकार नही करता, पर उससे भी परे कुछ है, आप जब इस बात को नही मानती, तब तर्क से केवल कडवापन ही पैदा होगा। मूर्तियो को यदि उपवास कराया जायगा, तो वे रोने नही आयगी, इस अर्थ मे उन्हे चाहे सत्य समझ लीजिये चाहे असत्य, पर इतने रुपयो के आइने तथा विलायती मिट्टी के बरतन आदि खरीदे जायँगे, तो कुछ लोग ऐसे है जो इस पर आवाज उठायँगे, शायद जोर से ही आवाज उठायँ।

आलेख्य ने ध्यान से देखा तो यह महाशय खद्दरधारी ज्ञात हुए। उसने ध्यान से देखा।। बोली—आप शायद असहयोगी है ?

अध्यापक ने उत्तर दिया—हाँ ?

—वटुकदेव किसका नाम है ?

—वह मेरा ही प्रचलित नाम है।

आलेख्य बोली—तब तो मैं सारी बात समझ गई। आप हमारी चीजो का खरीदना किस प्रकार बन्द करेंगे ? शायद लगानबन्दी करायें।

—कोई असम्भव बात नही है। किसानो की गाढी कमाई के रुपये है।

आलेख्य बोली—पर मेरी भी सुन लीजिये, पिताजी निरीह व्यक्ति है, पर मैं निरीह नही हूँ। पुलिस मे मुझे कुछ प्रेम नही है, पर मेरे निजी मामलो मे हस्तक्षेप किया जायगा, किसानो के साथ मेरा विरोध कराया जायगा तो मैं मजबूर होकर आत्मरक्षा तो करूँगी ही।

कहकर जाने लगी, पर अमरनाथ ने कहा—पर आप ही यदि गलती पर हो तो ,

आलेख्य बोली—सम्भव है कि क्या सही और क्या गलत है इस सम्बन्ध में आपकी और मेरी धारणा अलग हो।

जमीदारी के कामो मे कन्या का उत्साह देखकर मिस्टर रे बहुत खुश हुए। बूढो और बेकारो को निकालने का कार्यक्रम जारी हुआ। आलेख्य ने ऐसे लोगो की एक सूची बनाकर मैनेजर ब्रजसुन्दर को दी। वे उस सूची के एक-एक नाम को पढते जाते थे और उनका गला सूखता जाता था। एक नाम पर पहुँचकर बोले—यह नयन गाँगुली बडा ही गरीब है, बडा ही गरीब है, इनका और कोई नही •

गरीबो के लिए और उपाय है।

—पर देखिये··· •

—मैं इस सम्बन्ध मे तर्क करना नही चाहती।

इस कारण ब्रजसुन्दर बाबू ने इन लोगो को निकालने का नोटिस दे दिया, पर जैसा कि होता है ये लोग सभी एकाएक दरख्वास्त लेकर पहुँचे, जिसमे प्रत्येक ने अपने परिवार की लम्बाई-चौडाई तथा और कोई उपाय न होने का दीर्घ वर्णन किया था। पर उनका कोई असर नही हुआ। आलेख्य बैठकर डाइनिंग-रूम के पेंटिंग की डिजाइन पसन्द करने मे लगी हुई थी, इतने मे उसे ऐसा अनुभव हुआ कि कोई अपरिचित व्यक्ति उसके सामने खडा है। आँख उठाकर देखा तो एक बहुत ही सुन्दर पतला फटा चीथडा पहने हुए बूढा दिखाई पडा। आलेख्य ने चौककर पूछा —कौन है ? इसके उत्तर में वह बूढा तुतलाकर बोला—मेरा नाम नयन गागुली है। इस पर वह बोली—तुम यहाँ क्यो ? तुम यहाँ क्यो ? बूढा बोला मेरी लडकी का नाम दुर्गा है, उसने मुझसे कहा, 'बाबा तुम उनके पास जाओ नौकरी अवश्य लग जायगी।'

आलेख्य समझ गई कि यह यह निकाले हुए व्यक्तियो मे है। बोली—आप जाइए, मुझसे कुछ न होगा—कहकर उसने इगित किया।

वह आदमी फिर भी नही, हिला बोला कि इन्ही तेरह रुपयो पर उसकी, लडकी का तथा नाती का गुजारा होता है, दामाद आसाम मे नौकरी करने गया था, तब से उसका पता नही लगा। ब्राह्मणी मर चुकी।

आलेख्य बिगड़ पडी, उसने कह दिया कि ऐसी बाते सुनने के लिए उसके निकट अवसर नही है। फिर भी वह आदमी अपने घर का वृत्तान्त सुनाता गया। अन्त में उसे चपरासी के द्वारा घर से निकाला गया तब छुट्टी मिली।

इसके कई दिन बाद आलेख्य घर सजाने मे लगी हुई थी, इतने मे मैनेजर साहब एक लडके को साथ लेकर आए, बोले—आपने कहा था कि गैर-हाजिरी के लिए नयन गाँगुली के जो पाँच रुपये काटे गए थे, उस पर पुनर्विचार करेगी, सो अब आप क्या कहती है ? नयन गागुली को न जाने क्या समझ आई, उसने किसी फूल के बीज को खाकर आत्म-हत्या कर ली। उसकी लाश घर मे पडी है। पुलिस आएगी तब कुछ होगा।

यह सुनकर आलेख्य के पैर के नीचे से जैसे जमीन खिसक गई। लाश की व्यवस्था आदि तो हो ही गई, पर आलेख्य के निकट कमरे को सजाना तथा उसकी पेंटिंग आदि बिलकुल अर्थहीन हो गई। अरे, यह क्या हुआ। बढई और कारीगर डाँट खाकर लौट गए। नये ढङ्ग से काम करने पर यह विपत्ति हुई ? उस व्यक्ति ने आत्म-हत्या करके इस प्रकार बदला लिया ? केवल तेरह रुपयो के लिए आत्म-हत्या। उसके असख्य जूतो मे से किसी का भी दाम उससे अधिक होगा।

इस समय मिस्टर रे बाहर गये हुए थे। आज उनके लौटने की बात थी। आलेख्य आज किसी काम मे जी न लगा सकी। अमरनाथ आए, आलेख्य ने उन्हे हाथ उठाकर नमस्कार किया, पर अमरनाथ ने प्रतिनमस्कार नही किया। वे बोले—काम से आया हूँ, मै जानता हूँ कि आपको बहुत दुख पहुँचा है, पर यह आपने क्या किया कि हाट के दिन शहर से पुलिस बुला ली ?

आलेख्य चौंक पडी। यहाँ आने के अगले दिन ही उसने बिना कुछ समझे बूझे पिताजी को बिना बताये हुए मैजिस्ट्रेट को एक पत्र लिख दिया था। उसकी तामील में देर होते देखकर वह यह धारणा बना चुकी थी कि शायद वह पत्र पहुँचा ही नही या उस पर ख्याल नही किया गया। बोला—जाने दीजिए क्या नुक्सान है ?

अमरनाथ बोले—आप बाहर रहती है, आपको पता नही है, पुलिस

आयगी तो कुछ-न-कुछ ज्यादती करेगी, मीन-मेख निकालेगी और ताज्जुब नहीं कि हम लोगो मे से दो-चार अपनी जानो से हाथ धो बैठें।

आलेख्य ने पूछा कि ऐसा क्यो होगा, इसके उत्तर मे अमरनाथ बोले कि लोग जिन बातो को पहले मान लेते थे, अब वे उन्हे मानने के लिए तैयार नही है। पर आलेख्य बोली कि उसे झूठ-मूठ डराया न जाय, वह डरती नही है।

अभी-अभी सन्ध्या हुई थी। आलेख्य परेशान बैठी हुई थी, इतने में एक व्यक्ति पर्दा हटाकर भीतर घुसा और बोलने लगा—डरो मत बेटी, मै भीख माँगने नही आया हूँ, ईश्वर की कृपा से मेरी हालत कुछ बुरी नही है। मुझे पढी-लिखी विलायत से लौटी हुई स्त्रियो के सम्बन्ध मे बडा कौतूहल है, इसलिए····

मै आज थकी हुई हूँ, इसी कारण ···

उस व्यक्ति ने कहा—मेरा नाम निमाई है, मैने अमरनाथ से सारी बातें सुनी है। नयन गाँगुली वृद्धावस्था मे सारी बाते सह न सका, इसलिए उसने आत्म-हत्या कर ली। अभी तक वे श्मशान से नही लौटे। उसकी लडकी डाढ मारकर रो रही है। लघुपाप मे गुरु दण्ड कितने ही लोगो को होता है। जो हुआ सो हुआ। फिर भी परिताप तो होता ही है।

आलेख्य एक अपरिचित के अयाचित उपदेशो से मन-ही-मन बिगड रही थी, बोल उठी—यह आपको किसने कहा ?

—अमरनाथ ने कहा।

—पर मै तो अपना इसमे कोई अपराध नही देखती। क्या बेकार आदमी को निकालना अपराध है ?

—अमरनाथ ने अपराध के विषय मे कुछ नही कहा। तुम समझती हो कि मैने कर्तव्य किया। पर कर्तव्य की बात कहकर तुम इस बूढे को चुप नही करा सकती। वह दुखिया बूढा तुम्हारे ही अन्न से आजीवन पलता रहा, अन्त में तुम्हारे ही भय से कोई रास्ता न सूझने के कारण उसने आत्म-हत्या कर ली। अब उसकी लडकी पितृ-शोक मे निरुपाय होकर रो रही है, नाती रोते-रोते श्मशान गया है। यहाँ कर्तव्य की बात कहकर असलियत को कैसे रोका जा सकता है।

अब तक आलेख्य किसी तरह रुकी रही, पर अब उससे रुका नही गया, और वह एकदम फुफकारकर रोने लगी। बूढे निमाई ने सान्त्वना देने की कोई चेष्टा नही की। पाँच-छः मिनिट बाद बोले—बेटी यह तो मुझे मालूम था। नही तो काहे की शिक्षक है और काहे की विद्या ?

आलेख्य बोली—मैं आपके देश मे रहने के लिए आई थी पर अब तो मुँह दिखाने की भी गुञ्जाइश नही रही।

बातचीत होती रही। आलेख्य ने बातचीत के दौरान मे कहा कि नयन गाँगुली से सहानुभूति रखते हुए भी वह यह समझने मे असमर्थ है कि उसने कोई गलती की है। इस पर निमाई बोले—मैं बूढा हो चुका हूँ। शायद वह दिन देखकर न जा सकूँ, पर इस बात को बेटी तुम निश्चित रूप से जान लो कि आज जिन पर अकर्मण्य और बेकार होने का फतवा तुम जारी कर रही हो, कल उन्ही के बाल-बच्चो के सामने तुम्हे इस बात का जवाब देना पडेगा कि तुम स्वय किस लायक हो। उस दिन मानवता की कचहरी मे जमीदार होने के नाते तुम्हारी अर्जी नही सुनी जायगी। दुनिया मे बुद्धिमानो ने अब तक इन्हे अफीम खिलाकर सुला रखा था, पर आज अकस्मात् भूख की ज्वाला से उनकी नीद खुल गई है। यदि उसका पेट नही भरा तो नीति-शास्त्र के वचन और पुराने कानूनो के रौब मे आकर वे शान्त होगे, ऐसा नही ज्ञात होता।

इसी प्रकार दोनो मे बातचीत होती रही। दोनो अपनी-अपनी हाँकते रहे आलेख्य एक समय बोली—असली बात तो यह है कि आप पण्डित लोग अँग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध है। इसलिए आप लोग अपनी सब बातो को अच्छी और दूसरो की सब बातो को बुरी समझ लेते है। जब तक आप उनकी विद्याओ तथा विज्ञान को पढ और समझ नही लेते, तब तक आप निष्पक्ष होकर किसी बात पर विचार नही कर सकते। ऐसा स्वाभाविक ही है।

बूढे पडित कुछ देर तक सिर झुकाकर सोचते रहे, फिर बोले—आत्म-गोपन से अपराध हो रहा है। तुम्हे यह बता देना चाहिए था कि मै अपने जमाने मे कालेज का नामी अध्यापक था। मेरे ही मातहत शिक्षा पाकर अमरनाथ ने एम ए. पास किया। तुम जिस विद्या और विज्ञान की बात कर रही हो, उस पर सम्पूर्ण अधिकार तो क्या होता, पर बिलकुल अनभिज्ञ हूँ ऐसा भी कहना गलत होगा।

सारी बात सुन कर आलेख्य चौक पडी, जैसे किसी ने उसको मारा। बूढे पडित उसके चेहरे की तरफ देखकर सारी परिस्थिति समझ गए, बोले—बेटी तुम थकी हुई हो, जाओ, यदि अमरनाथ पर कोई विपत्ति न पडी हो तो कल आकर दोनो तुम मे फिर मिलेगे—कहकर वे चले गए।

अगले दिन रे साहब जब घर पर लौटे, तो उन्हे नयन गाँगुली की आत्म-हत्या की बात का पता लगा। कन्या से कुछ भी न पूछकर वे सीधे उसके घर गये और घण्टो बाद जब लौटे, तब उनका चेहरा पहले से प्रसन्न था।

लौटकर भी उन्होने कन्या से कुछ नही पूछा । जब उधर से कोई बात नही आई, तो आलेख्य ने ही पूछा—उनकी कोई व्यवस्था कर आये पिताजी ?

—नही, कोई विशेष व्यवस्था नही की ।

—क्यो, कर क्यो नही आये ?

—बेटी, सम्पत्ति तुम्हारी है । तुम्हारे हाथो मे सब-कुछ सौपकर मैने छुट्टी ले ली है । इसकी अच्छाई-बुराई सब तुम पर छोडी हुई है ।

आलेख्य ने करुण कण्ठ से कहा—यदि नासमझी मे मैने कोई गलत बात कर डाली है, तो क्या उसका प्रतिकार आप नही करेगे ?

—नही, मै ही कौन सा बड़ा बुद्धिमान हूँ । कम-से-कम इसका प्रमाण तो मै आज तक न दे सका । यदि नासमझी मे तुमने कोई गलती की है, तो जो बुद्धि देने के मालिक है, वे ही तुम्हे बुद्धि देगे ।

आलेख्य धीरे से बोली—पिताजी जब तक आप मौजूद है, तब तक इसका बोझ मुझ पर मत डालिये ।

थोडी देर दोनो चुप रहे । फिर आलेख्य बोली—लौटने के बाद से आपने मुझसे बात नही की । मै सौ बार मानती हूँ कि मैने बहुत गलत काम किया, पर मै यह स्वप्न मे भी नही सोच पाई थी कि वे हमे इतनी बडी सजा दे जायँगे ।

रे साहब लडकी को पास खीचकर सान्त्वना देते रहे—बोले—तुम तो जानती हो बेटी की दुनिया मे मै तेज कदम से चल नही पाता, इस कारण सबसे पीछे रह जाता हूँ । मुझे तो सुस्ती का ही रास्ता आता है ।

—मुझे वही पसन्द है ।

—पसन्द है तो चलो, पर यह कभी न समझो कि मेरे रास्ते को कबूल करने के लिए तुम मजबूर हो ।

आलेख्य बोली—अब मै आपको देखकर यह समझ रही हूँ कि दौडकर चलना ही आगे बढना नही है । आप जब पीछे रह जाते थे, तो हम यह समझती थी कि आप पीछे है, पर अब मै समझ गई ।

आलेख्य ने निमाई पण्डित की बात कही । इस पर रे साहब बोले—अच्छा वे जीवित है ? ऐसा असली आदमी तो दुर्लभ है । बेटी उनकी किसी तरह हमारे यहाँ अमर्यादा तो नही हुई ?

आलेख्य ने कहा कि नही । बात-बात मे फिर नयन गाँगुली की बात आ गई । रे साहब बोले—पहले के युगो मे भी एक दूसरे पर निर्भर होना था, पर ऐसा नही था कि एक अवलम्बन जाते ही आत्म-हत्या करने की नौबत

आये। उस जमाने मे दो मुट्ठी अन्न तो सबको ही अपने घर मे मिलता था।

आलेख्य बोली—दुनिया मे धनी और दरिद्र रहे, तो रहे, पर इस तरह से एक का दूसरे पर इतना निर्भर होना किसी भी तरह मङ्गलकारक नही हो सकता। न तो धनी के लिए ही यह मङ्गलकारक है, और न दरिद्र के लिए ही। लोग कहते है कि नयन गागुली का दिमाग कुछ फिरा हुआ था, हो सकता है, पर मै इस बात को भूल नही सकती कि मेरे एक दर्पण मे उनके पाँच साल की आयु सचित है। न मालूम और कितनो की मृत्यु का इतिहास हमारे जूतो, ब्लाउजो आदि की परतो मे लिखा हुआ है।

इन बातो को सुनकर रे साहब डर गए, बोले—जाने भी दे। ऐसी बाते सोचने पर गृहस्थी एक मिनट के लिए चल नही सकती।

आलेख्य बोली—पिताजी आप ऐसा कह रहे है क्योकि आपके माथे पर किसी बूढे की मृत्यु की कलङ्क-रेखा नही है।

इतने मे ज्ञात हुआ कि आज ही सन्ध्या समय इन्दुमती और कमलकिरण आ रहे है। तैयारी तो थी ही, और तेजी हो गई। डिनर बडे ठाट से लगा। इतने मे खबर आई कि कोई रे साहब से फौरन मिलना चाहता है। मालूम हुआ कि अमरनाथ है। रे साहब ने कहा—उसे यही ले आओ।

आलेख्य—शङ्कित हुई, पर वे वही बुलाये गए। अमरनाथ के सिर पर एक बैण्डेज बँधा हुआ था। रे साहब ने पूछा—मामला क्या है ?

अमरनाथ ने कहा—नही पुलिस ने नही मारा। गाँव के कुछ लोगो ने ही मारा है। कुछ भी नही मेरा थोड़ा सा रक्त-पात हुआ है।

रे साहब ने कहा—हुआ तो हमारे हाट मे ही न ? अच्छा तुम कुछ खाये-पीये नही मालूम होते हो ? यहाँ तो शायद तुम्हारे खाने की कोई व्यवस्था न हो सके, क्यो क्या कहते हो ?

अमरनाथ मुस्कराये बोले—नही।

रे साहब ने अमरनाथ को विदा कर दिया। अब कमलकिरण आदि ने उस पर बातचीत शुरू कर दी। कमल ने पूछा—यही शायद आपके किसानो को भडकाता रहता है। यह हाट मे गया क्यो था ?

—विलायती कपडे की बिक्री रोकने।

—याने असहयोग का छोटा-मोटा पडा है।

—हाँ।

कमल बाला—अब इस पर मुकदमा चलाना चाहिए। कम-से-कम मेरा

मारकेट होता तो मैं ऐसा ही करता।

रे साहब कुछ देर चुप रहकर बोले—उससे जितना लाभ होता, उससे अधिक क्षति होती।

इसी प्रकार और भी आलोचना होने लगी। नतीजा यह हुआ कि रे साहब को डिनर मे कोई रस नही आया।

अमरनाथ फिर आया, और अपना दृष्टिकोण समझाने लगा। उसने कहा—मुझ पर जिन लोगो ने हाथ उठाया है, मैं यह चाहता हूँ कि उन पर किसी तरह की कार्रवाई न की जाय।

आलेख्य बोली—यह आप हम पर छोड़े।

कमल ने कहा—और क्या ? जो हमारी जिम्मेदारी है, हम उसे देखेंगे। क्यो मिस्टर रे ?

रे साहब कुछ नही बोले। सबका मुँह ताकने लगे। बोले—इस पर शान्त चित्त से विचार हो।

अमरनाथ बोले—जमीदार और किसान के अतिरिक्त दुनिया मे और लोग भी है, और कोई उनकी बात पसन्द करे या न पसन्द करे, उनका अस्तित्व लुप्त नही हुआ जाता।

आलेख्य का चेहरा कड़ा पड गया, बोली—अग्रेजी मे एक लफ्ज है 'बिजी बोडी, ये सर्वत्र मिलते है। हम अपने किसानो के सम्बन्ध मे क्या करेगी, यह हमारा कार्य है, पर यदि कोई व्यर्थ मे हस्तक्षेप करे, तो उसको ठीक रास्ते पर लाने के लिए हमे अपना कर्तव्य करना पड़ेगा।

कन्या की बात सुनकर रे साहब बहुत क्षुब्ध हुए, बोले—बेटी, तुम लोगो के कार्यो से तुम लोगो की बातचीत कही अधिक कडवी हो रही है। विशेष कर जब कि अमरनाथ तुम्हारे घर पर आये हुए है।

—अमरनाथजी सम्भ्रान्त व्यक्ति है, यदि मुझे कोई बात कहनी है, तो मैं अपनी बात और कहाँ कह सकती हूँ। इसकी क्षमा उनसे अवश्य मिल जायगी और यदि अपराध हुआ ही हो, तो उसे सम्पूर्ण कर देना चाहिए। अमरनाथ बाबू के साथ हमारे विचार नही मिलते, इस कारण वे हमारे किसानो को हमारे विरुद्ध भडकायँगे, इसे मै उचित नही समझती।

आलेख्य ने उस व्यक्ति का नाम जानना चाहा, जिसने अमरनाथ पर प्रहार किया था। पर अमरनाथ ने यह कहकर के बताने से इन्कार कर दिया कि इस कौतूहल को दमन करना हो पड़ेगा। आलेख्य बोली—यदि वे हमारे किसान न होते तो मैं नाम न पूछती।

—आप उन्हे सजा देना चाहती है और मै यह समझता हूँ कि सजा देने से प्रतिकार नही होता।

—अन्याय का प्रतिकार सजा से ही होता है।

अमरनाथ बोला—मै इस विषय पर आपसे तर्क करना नही चाहता। इतना मै जानता हूँ कि अन्याय और अज्ञान ये दोनो एक चीज नही है। सजा देकर अज्ञान का प्रतिकार नही होता। उसके लिए कुछ और ही बात चाहिए।

अमरनाथ ने थोडी देर रुककर कहा—उन्होने हमे मारा जरूर है, पर इस पर उन्हे सजा देने से बढकर मूर्खता और कुछ नही हो सकती।—कहकर अमरनाथ उठ खडे हुए, और चलने के लिए उद्यत दिखाई पडे।

रे साहब ने अकस्मात् कमलकिरण से पूछा—क्यो कमल, तुम्हारी क्या राय है?

फिर रुककर स्वय ही अमरनाथ से बोले—जब तुम नही चाहते, तो फिर हम क्यो झगडा करे?

पर आलेख्य बोल उठी—बखेडा तो इन्होने खडा किया, और अब उसका खमियाजा कौन भुगते?

अमरनाथ ठिठककर खडे हो गए, बोले—अच्छी बात है। यदि आप लोगो को मेरी बात पसन्द नही है, तो अपने ढङ्ग से चलिये। मै तो सजा देना निरर्थक मानता हूँ।

आलेख्य बोली—जो एक बाहरी व्यक्ति के लिए निरर्थक है, वह जमीदार के रूप मे हमारे लिए निरर्थक शायद न हो, इतना तो आप समझते होगे।

कमलकिरण बीच मे बोल पडा—हम अपनी जिम्मेदारी को अपने ही हाथो मे रखेगे। एक थर्ड परसन को बीच मे पडने की कोई जरूरत नही है। क्यो मिस्टर रे, आपकी क्या राय है?

रे साहब सबके मुँह देखने लगे। कुछ देर सोचकर बोले—अभी इस बात पर अन्तिम फैसला कर ही डालना पडेगा, ऐसी कोई बात नही है। बाद को शान्त होकर इस विषय पर विचार हो सकता है।

अब अमरनाथ निकल गए। उनके जाने पर आलेख्य बोली—पिता जी जब तक आप मौजूद है, तब तक आप ही जमीदारी के मालिक है। यदि आप यह चाहते है कि मै ही सब काम-काज देखूँ, तो आप मुझे इस बात के लिए न कहे कि कभी इधर चलूँ कभी उधर। इससे तो अच्छा है कि पहले जैसा चल रहा था, अब भी वैसा ही चले।

पर मिस्टर रे ने कुछ नही कहा । इसका अर्थ दूसरो ने भले ही कुछ न समझा हो, पर आलेख्य समझ गई । बोली—इससे उन्हे प्रोत्साहन मिलता है। देश मे जो वातावरण उत्पन्न हुआ है, उसमे एकाएक कुछ लोग बुद्ध और ईसा बनकर बैठ गए है । न मालूम कैसे ये लोग ऐसा समझ बैठे है कि जिनका कुछ है, उनको नुक्सान पहुँचाया जाय जिनका कुछ नही है, उनका भला होगा ।

कमलकिरण अब तक अपने को रोके हुए था, बोला—जैसे पिता जी की गाडी के कॉच के जङ्गले तोड दिये गए ।

आलेख्य बोली—ऐसी बातो को सहन नही करना चाहिए।

कमलकिरण बोला—पिता जी की यही राय है ।

आलेख्य बोली—मुसीबत तो यही है कि हमारे पिता जी की यह राय नही है। पिता जी आप तो जानते है कि इतने दिनो तक न देखने के कारण ज़मीदारी की सारी पद्धति मे जङ्ग लग चुका है । यदि मै इसे साफ करना चाहूँ, और कोई इस कारण आत्म-हत्या कर ले, तो मै क्या करूँ? यदि ऐसा ही चलेगा तो हम लौट जायँ ।

रे साहब बोले—पर अमरनाथ तो ऐसा नही है कि वह किसी को व्यर्थ मे विपत्ति मे डाले ।

कमलकिरण बोल उठा—बल्कि मै तो यह समझता हूँ कि अमरनाथ की तरह अशिक्षित देहाती ब्राह्मण गॉव के लोगो को भडकाने के लिए ·

वह इतना ही कह पाया था कि उसने आलेख्य के मुँह की ओर देखा, तो उसकी बात बन्द हो गई । अब उत्तर-प्रत्युत्तर की जो धारा अनर्गल रूप से चल रही थी, वह रुक गई । कमलकिरण ने अपनी बातो की आलेख्य की ओर से जिस प्रतिक्रिया की आशा की थी, वह नही आई । अब जो बातचीत हुई वह अमरनाथ के कथित हस्तक्षेप से उत्पन्न परिस्थिति पर हुई । आलेख्य बोली—पिताजी कई बार आपने हमारा प्राप्य लगान माफ कर दिया ।

मिस्टर रे मुस्कराकर बोले—प्राप्य माने न्याय-सङ्गत नही, यह तुम समझ लो बेटी । जो हमारा प्राप्य है, वह किसानो के लिए न्याय-सङ्गत देय नही भी हो सकता है । कमलकिरण इसका अर्थ नही समझ सका, पर आलेख्य समझ गई । सौभाग्य से बात दूसरी ओर मुडी और आलेख्य ने प्रस्ताव किया कि नाव से जमीदारी की यात्रा की जाय । रे साहब ने कहा—वे घर पर रहेगे और दूसरे लोग जायँ ।

एक दिन रे साहब अपने एक मित्र की बीमारी की खबर पाकर चल पडे तो कमलकिरण की बहन इन्दु भी उनके साथ गई । दोनो पैदल चले ।

गाँव के घर आदि देखकर इन्दु ने बहुत कौतूहल प्रदर्शित किया, केवल यही नही, वह बोल उठी कि उसे गाँव का जीवन बहुत पसन्द है, यहाँ तक कि उसने कहा कि वह गाँव मे रहना पसन्द करेगी। इन्दु इसी तरह बहुत कुछ कहती रही, पर रे साहब कभी उत्तर देते थे, कभी नही देते थे। दोनो ने यह राय की कि रे साहब तो अपने मित्र के पास जायँ और इन्दु घूम-घूमकर गाँव और मैदान देखे। अलग होते समय रे साहब बोले—मैदान पार करने पर अमरनाथ की पाठशाला मिलेगी। यदि उधर निकल पडो तो अमरनाथ से कहना कि मुझसे मिले।

इन्दु उधर ही निकल पडी और अमरनाथ से मिली। अमरनाथ उसे अपने घर ले गए तो उनकी माँ तथा बहन ने उसका बडा स्वागत किया। इन्दु को ये लोग बहुत ही अच्छे लगे। कितने सरल और साफ-सुथरे थे, यद्यपि गरीब थे।

इतना ही लिखकर शरत बाबू और आगे न लिख सके। यह उपन्यास धारावाहिक रूप से मासिक 'बसुमती' मे निकल रहा था। इस विषय पर अनुमान लड़ाना व्यर्थ है कि शरत् बाबू इस उपन्यास मे आगे क्या करते, पर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे इस उपन्यास मे वैयक्तिक तथा पारिवारिक बातो तक अपने को सीमित न रखकर नई जमीन तैयार कर रहे थे। स्पष्ट ही यह एक राजनैतिक उपन्यास होता। राजनीति भी ऐसी कि उसमे साम्यवाद का पूरा पुट दिखाई पडता है। हमने कुछ विस्तार के साथ इस उपन्यास का सक्षिप्त विवरण तैयार किया, क्योकि यह कृति शायद हिन्दी-ससार के सामने अन्य किसी रूप मे न आ सके।

३६

# गोर्की-साहित्य का सिंहावलोकन

विश्व-साहित्य में मैक्सिम गोर्की का नाम प्रगतिवाद के प्रतीक रूप मे लिया जाता है । प्रेमचन्द अपने अन्तिम दिनो मे गोर्की के बहुत बडे प्रशसक हो गए थे । सच तो यह है कि गोर्की की मृत्यु पर 'आज'-आफिस में जो सभा हुई थी, उसमे उन्होने गोर्की पर जो भाषण दिया था, वही उनका अन्तिम भाषण प्रमाणित हुआ । प्रेमचन्द उन दिनो स्वय करीब-करीब मृत्यु-शय्या पर थे, उनकी पत्नी ने उन्हे मना भी किया कि वे भाषण तैयार करने के चक्कर मे न पडे, पर उन्होने नही माना । उन्होने भाषण तैयार किया और भाषण दिया । इस घटना का उल्लेख मैने इस कारण किया कि गोर्की के प्रति सम्मान की जो भावना भारत मे दृष्टिगोचर हो रही है, वह रूस के प्रशसक उग्रवादियो के प्रचार-कार्य का परिणाम नही है । प्रेमचन्द जैसे साहित्य-मर्मज्ञ भी बहुत वर्ष पहले गोर्की के प्रशसक बन चुके थे ।

मैक्सिम गोर्की का जन्म १८६८ मे नीजनी नोवोगराड में हुआ । यह रूस के अति प्राचीन नगरो मे है और यहाँ एक मेला लगता है, जो एशिया के सबसे बडे मेलो मे से समझा जाता रहा है । अब इस नगर का नाम गोर्की रख दिया गया है । गोर्की का जीवन बडा ही विचित्र रहा, जिसके कुछ सस्मरण वे लिख गए हैं । शायद ही कोई धधा उनसे छूटा हो । वे बचपन मे ही अनाथ हो गए थे । वे रसोइये के नौकर, चिडिया बेचने वाले, रोटी बनाने वाले, रेल के कुली सभी कुछ रहे । बात यह है, बहुत कम उम्र मे ही वे अनाथ हो गए थे ।

इस लेख मे मै उनकी जीवनी देना नही चाहता, पर दो-एक छोटी-मोटी बातो का इस कारण उल्लेख कर देना आवश्यक है, जिससे कि पता लगे कि किस प्रकार से वे जीवन को देखते थे । वे अपने सस्मरण को किस प्रकार से शुरू करते है, वह देखने लायक है । वे लिखते है

'एक छोटी-सी धुँधली कोठरी के जगले के नीचे फर्श पर मेरे पिताजी पडे हुए थे । वे अच्छे खासे लम्बे थे और इस समय उनके सारे वस्त्र श्वेत थे ।

उनके खाली पैरो की उँगलियाँ अजीब तरीके से दूर तक फैली हुई थी, इसी प्रकार से उनके कोमल हाथो की उँगलियाँ बिखरी हुई थी, और उनके हाथ उनके सीने पर एक दूसरे को पार करते हुए पडे थे। उनकी हँसती हुई आँखे ताँबे के सिक्को की अनुज्ज्वल गोलाइयो से ढकी हुई थी, उनका दयालु चेहरा पीला पडा हुआ था, और मै उनके लगे हुए दाँतो की चमक से भयभीत हो रहा था। मेरी माँ एक लाल स्कर्ट पहने हुई थी, और कुछ उनके शरीर पर नही था। वे घुटना टेककर पिताजी के नरम बालो को उस काली कघी मे पीछे की ओर फेरने मे लगी हुई थी, जिसे मैने तरबूज काटने के लिए इस्तेमाल किया था। वे भर्राई हुई आवाज मे कुछ आवृत्ति कर रही थी, उनकी भूरी आँखे सूजी हुई थी, और ऐसा मालूम होता था कि वे आँखे बडे-बडे आँसुओ मे पिघलकर रहेगी।

मेरी नानी ने मेरा हाथ पकड रखा था। वह एक बडे सिर वाली मोटी बल्कि गोल स्त्री थी। उसकी बडी-बडी आँखे थी, और उनकी मासल नाक की बनावट कुछ ऐसी थी कि अजीब मालूम होता था। वह भी रो रही थी, पर इस अजीब तरीके से कि मेरी माँ के रोने के साथ वह खप जाय। उसके सारे अग थर-थर काँप रहे थे, और वह बराबर मुझे मेरे पिता की ओर ढकेलती जाती थी, पर मै उधर बढ नही रहा था, और अपनी नानी के स्कर्ट मे छिप रहा था। मुझे डर मालूम हो रहा था और अच्छा नही लग रहा था।

इसके पहले मैने कभी बडो को रोते नही देखा था, और मेरी नानी जो बराबर मुझसे कह रही थी—जा अपने पिता से विदाई ले ले। अब कभी तू उसे नही देख सकेगा। मेरे बच्चे, वह अपनी घडी से पहले अपने समय से पहले मर गया है–' मै इसे समझ नही पा रहा था कि क्या कहा जा रहा है।"

इस प्रकार से गोर्की ने अपने पिता की मृत्यु के दृश्य से अपने सस्मरण को शुरू किया है। एक सद्योपितृहीन गरीब लडका भय चकित होकर अपने पिता के शव को देखता है। यही इस सस्मरण का पहला दृश्य है। इसी प्रकार की घटनाओ से उनका जीवन भरा पडा है। ऐसी घटनाएँ तो प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे घटित होती है, पर जिस प्रकार से वे उस घटना को देखते है, वह वह उस घटना को महान् तथा ऐतिहासिक बना देती है। एक तो वे घटना को बहुत ब्यौरे मे देखते है, दूसरे ठोकरे खाते-खाते वे यह समझते है कि इस प्रकार की अकरुण घटनाएँ केवल एक व्यक्ति के जीवन की नही है, इस कारण वे गहराइयो मे जाने के लिए विवश होते है।

इसी कारण जब गोर्की ने पहले-पहल कलम पकडी तो उनकी कलम से 'फोमा गोरदेयेफ' नामक एक उपन्यास निकला, जिसमे उन्होने ऐसे चरित्रो का निर्माण किया, जो आर्थिक व्यवस्थाओ के कारण कुचल दिये गए हैं। स्वाभाविक रूप से जार की सरकार ऐसे लेखक को पसन्द नही कर सकती थी। शुरू से ही रूस की स्वेच्छाचारी सरकार के साथ गोर्की का झगडा चला, पर वे दबे नही। बहुत जल्दी वे क्रान्तिकारी लेखक के रूप मे स्वीकृत हो गए।

उनकी 'माँ' नामक रचना ने रूस मे उथल-पुथल मचा दी। यह उपन्यास १९०६ के करीब सामने आया। १९०५ की असफल क्रान्ति के साथ जैसे इस उपन्यास का अगागी सम्बन्ध है। यह काफी बडा उपन्यास है, हिन्दी में भी इसके अनुवाद निकल चुके है, फिर भी हम बहुत सक्षेप मे इसका सार देने की चेष्टा करेगे। मजदूर-जीवन को लेकर इस उपन्यास का प्रारम्भ होता है। सार यो है—

प्रतिदिन सुबह मजदूरो की बस्ती मे कारखाने की सीटी वायु को चीरती हुई बजती है। मजदूर उसे सुनकर भद्दी भाषा मे, भर्राई हुई आवाज मे आपस मे बात करते हुए चल पडते है। दिन भर मशीनो के इर्द-गिर्द मे वे मशीन बने रहते है। सध्या समय लोग, जिनके चेहरे काले पड चुके है, भूख-प्यास से व्याकुल घरो की ओर चल पडते है। यद्यपि वे थके-माँदे है, और उनके शरीरो से मशीन के तेल की बू आ रही है, फिर भी इस समय उनकी आवाजो मे कुछ सजीवता यहाँ तक कि खुशी झलकती है। एक और दिन का काम हो चुका, अब घर मे विश्राम तथा रात्रि का भोजन होगा।

कारखाने मे दिन भर बीता। मशीनो से जितना बन पडा, मजदूरो की शक्ति चूस ली। रविवार को लोग दस बजे तक सोते थे, और इसके बाद उनमे जो दम्पति गण्यमान्य होते थे, वे अपने सबमे अच्छे कपडे पहनकर गिर्जो मे चल देते थे, और रास्ते मे उन नौजवानो की हँसी उडाते जाते थे, जो धर्म के प्रति उदासीन है।

इस प्रकार पचास साल जीने के बाद पुरुष मर जाते थे। इसी प्रकार का जीवन मिखैल व्लासौफ बिताता था। वह कुछ अधिक लोमश था, और उसकी घनी भौहो के नीचे से लोगो के प्रति अविश्वास और घृणा टपकती थी। बात यह है कि कारखाने मे वह सबसे अच्छा यन्त्र-मजदूर था, पर वह अपने बडो से चिडचिडेपन का बर्ताव करता था, इस कारण वह अच्छे पैसे नही बना पाता था। प्रति रविवार को वह किसी-न-किसी को मारता था, इसलिए उसे कोई पसन्द नही करता था। जब लोग उससे बदला लेने की चेष्टा करते थे,

तो वे सफल नही होते थे। वह हर समय मारने-मरने के लिए तैयार रहता था, इस कारण उससे कोई पार नही पाता था। कुतिया का बच्चा ये शब्द हर समय उसकी जबान पर लगे ही रहते थे। वह अपनी स्त्री को भी हमेशा कुतिया के नाम से सम्बोधित करता था। जब उसका लडका पावेल चौदह साल का हुआ, तो वह उसके बाल पकडकर मारना ही चाहता था कि पावेल ने एक बडा-सा हथौड़ा उठा लिया, और सक्षेप में कहा—"बस"। इस पर मिखैल ने कहा—"यह क्या ?" पावेल ने कहा—"मै बहुत पिट चुका, बस आज से खतम है।"

मिखैल ने अपने पुत्र को ध्यान से देखा, फिर उसने हाथ हटा लिया। बोला—अच्छी बात है।

फिर कुछ देर तक सोचकर एक गहरी साँस लेते हुए बोला—तुम कुतिया के बच्चे तो हो।

इसके कुछ दिनो बाद उसने अपनी स्त्री से कहा—आज से मुझसे पैसे न माँगना। अब पावेल तुम्हे खिलायगा।

और तुम शायद सारे रुपयो की शराब पियोगे ?

इससे तुमसे कोई मतलब नही। यदि मै चाहूँ तो मैं किसी औरत को भी रख सकता हूँ।

उसने औरत तो नही रखी, पर इसके दो साल बाद तक जब तक वह जिन्दा रहा, तब तक उसने अपने बेटे से बातचीत नही की। मिखैल के पास एक बाल वाला बडा-सा कुत्ता था। यह कुत्ता मालिक के साथ-साथ कारखाने जाता था, और फाटक पर उसकी प्रतीक्षा करता रहता था। छुट्टी के दिनो में जब मिखैल दिन भर इधर से उधर मानो किसी को खोजता हुआ घूमता था, तो यह कुत्ता उसके साथ रहता था। शराब पी चुकने पर वह कुत्ते को अपने बरतन से खिलाता था। अक्सर वह रात को खाने के बाद गाना भी गाता था, पर उसके गाने सुनकर लोगो के रोगटे खडे हो जाते थे। भाषा तो समझ में आती ही न थी, और सुर भी ऐसा था जैसे चीते जाडे की रातो में शोर मचाते है। फिर वह सो जाता था। कुत्ता उसके बगल मे रहता था।

वह एक चोट के कारण रक्तपात से मरा। पाँच दिनो तक वह बिस्तरे मे पड़े-पड़े उछलता-सा रहा, फिर वह मर गया। उसकी स्त्री ने डॉक्टर बुलाया था, और डॉक्टर ने कहा भी था कि आपरेशन करने पर ठीक हो जायेगा, पर उसने डाक्टर को बुरी तरह गालियाँ देकर कहा—कुतिया के बच्चे, मै तुम्हारी मदद के बिना ही मर सकता हूँ।

डॉक्टर के जाने पर स्त्री ने आँखो मे आँसू भरकर कहा कि वह आपरेशन करा ले, पर उसने घूँसा उठाकर कहा—जानती हो, मै अगर जिन्दा रहा, तो तुम्हारे लिए और खराबी ही रहेगी।

उसके शव को उसकी स्त्री, बेटा तथा कुछ दूसरे लोग मिलकर ले गए। कुत्ता भी साथ मे था। मरने पर लोगो ने उसकी और अधिक बुराई की। कुत्ता कब्रिस्तान में बना रहा, कभी इधर-उधर चला जाता। अन्त मे किसी ने उसको जान से मारकर उसे आवागमन से मुक्त कर दिया।

इसके दो हफ्ते बाद पावेल एक दिन रविवार को रात मे शराब से मतवाला होकर घर आया, और उसका पिता जहाँ बैठता था, वही धम से बैठकर उसी तरह से टाँगे फैलाकर बोला—खाना।

माँ पास मे आई, और लडके को अपनी ओर खीचने लगी, पर लड़के ने उसे पास नही आने दिया। बोला—मुझे पिता का पाइप दो। मै पिऊँगा।

पहली बार वह शराब पीकर घर आया था। यद्यपि पीने से उसका शरीर कमजोर हो चुका था, पर उसके मन मे प्रश्न उठ रहा था—क्या मै होश में नही हूँ?

माँ ने उसके बालो मे हाथ रखे, बोली—तुम्हे ऐसा करना नही चाहिए था बेटा।

पावेल को मतली आने लगी। कै करने के बाद कुछ हल्की हुई, और माँ ने उसके सिर पर एक भीगा तौलिया रखकर उसे लिटा दिया। इससे अवस्था मे कुछ उन्नति हुई। वह सोच रहा था कि इतने लोग पीते है, पर मै ही क्यो पस्त हो गया, इसका अर्थ यह है कि मै अभी कम उम्र हूँ। वह इस प्रकार सोच ही रहा था कि जैसे कही दूर से यह आवाज आई—बेटा तुम पियोगे, तो तुम मेरा पालन किस तरह कर सकोगे?

इस पर आँखो को अच्छी तरह बन्द करते हुए पावेल ने कहा—पीते तो सब लोग है?

माँ ने गहरी साँस ली। बात तो सच्ची थी। शराबखानो मे ही लोगो को थोडी-बहुत शान्ति मिलती थी। बोली—बेटा पीने की आदत मत डालो। तुम्हारे बाप अपने लिए और तुम्हारे लिए काफी पी गए। क्या उनके हाथो से जो कष्ट मुझे मिले, वे यथेष्ट नही है?—प्रश्न विलीन हो गया।

पावेल ने जब ये सुन्दर स्नेह मे पगे शब्द सुने, तो उसे स्मरण आया कि जब तक उसके पिता जीवित थे, तब तक घर मे माँ का कोई अस्तित्व नही था, वह मार पडने के डर से हमेशा सहमी हुई रहती थी। उसके माथे पर

दाहिनी भौह के ऊपर एक बडा-सा दाग था। वह कुछ-कुछ रोने लगी। पावेल बोला—रोओ मत माँ, मुझे शराब दो।

माँ बोली—ठडा पानी देती हूँ।

पर जब वह पानी लेकर लौटी, तब तक लडका सो चुका था। इसके बाद वह पानी रखकर देवी-देवताओ से बड़ी आकुल प्रार्थना करने लगी।

पावेल ने उन सब शौको को पूरा किया, जो एक नौजवान आशा से की जा सकती थी। उसने एक आकोर्डियन बाजा खरीदा था, कडी इस्तरी वाली एक कमीज खरीदी, रङ्गीन भडकदार टाई खरीदी, एक बैत खरीदा इत्यादि-इत्यादि, याने वह अपने ढग के नौजवानो की तरह हो गया। उसने नाचना भी सीखा, और रविवार को शराब से बेहोश होकर लौटने लगा। माँ बेटे पर देख-रेख रखती थी, जैसा कि एक माँ ही रख सकती है। एकाएक माँ ने देखा कि वह कुछ दुबला पड रहा है, उसकी आँखे गम्भीर मालूम होती है, और होठो पर निश्चय के चिह्न ज्ञात होते है। उसके दोस्त घर आकर लौट जाते थे, क्योकि इन दिनो वह घर पर मिलता नही था। माँ कई बार पूछ लेती थी कि बेटा तबियत तो ठीक है न ? इस पर वह कहता था कि हाँ, मै बिलकुल ठीक हूँ।

कभी-कभी वह किताबे भी लाने लगा, उन्हे वह सदा चुराकर रखता, और चुरा कर ही पढता, कभी-कभी वह उनमे से कुछ लिखता फिर उन लिखे हुए कागजो को चुराकर रख लेता। माँ बेटे मे अब बातचीत बहुत कम होती। वह चुपचाप चाय पीता, फिर कारखाने की ओर चल देता। छुट्टियो में वह सवेरे ही निकल जाता, और रात को घर लौटता। अब वह पहले की तरह छैला बनने की कोशिश न करके सफाई की तरफ अधिक ध्यान देने लगा। माँ और बेटे के सम्बन्ध मे भी परिवर्तन आए। अब वह मौका लगते ही घर की झाड-बुहार मे हाथ बँटाता, और छुट्टियो के दिनो मे तो वह अपना बिस्तरा आप लगाता। इस सारी बस्ती मे ऐसा तो कोई भी मर्द नही करता था।

एक दिन वह घर मे एक तस्वीर लाया, और उसे टाँग दिया। माँ से बोला—यह ईसा का चित्र है।

घर मे पुस्तको की सख्या बढने लगी, और घर अच्छा मालूम देने लगा। पर अक्सर वह रात को लौटता, न शराब पिये होता न और कोई बात। माँ मन में भय खाने लगी। दूसरे जैसा करते है, वह तो साधारण है, पर इस का व्यवहार तो साधुओ-जैसा है। तब वह सोचने लगी कि शायद कोई लडकी इसमे हो। पर लड़कियो के साथ दोस्ती मे तो पैसे लगते है, और यह तो करीब-

करीब सारा उपार्जन मुझे लाकर दे देता है ।

एक रात को पावेल पर्दा लगाकर कुछ पढ रहा था कि माँ बरतन माँजने से निवृत्त होकर बेटे के पास आई, बोली—बेटा, यह दिन-रात तुम क्या पढा करते हो ?

पावेल ने पुस्तक बन्द कर ली, बोला—बैठो माँ, मै निषिद्ध पुस्तको को पढा करता हूँ । इन पुस्तको मे हम मजदूरो के विषय मे सच्ची बातें लिखी है । यदि मै इन्हे पढता हुआ पाया जाऊँ, तो मुझे जेल भेज दिया जाय ।

माँ को ऐसा अनुभव हुआ, मानो वह किसी अजनवी से बात कर रही हो । पावेल का बोलना बतलाना, ताकना सब इस प्रकार का था, जिस से वह परिचित नही थी । वह अपने ही लडके से भयभीत सी हो गई, बोली—बेटा, तुम ऐसा क्यो कर रहे हो ?

—मै सत्य को जानना चाहता हूँ ।

माँ रोने लगी । वह जीवन मे सभी बातो को सहन करने की अभ्यस्त थी । पावेल बोला—माँ रोओ मत, पर माँ ने ऐसा सुना जैसे लडका विदाई माँग रहा हो । पावेल फिर बोला—देखो, हमारी ज़िन्दगी को तो देखो । तुमने अपने चालीस साल के जीवन मे क्या पाया ? पिताजी तुमको पीटा करते थे । अब मै समझता हूँ कि वे अपने जीवन के कडुवेपन को तुम पर डालते थे । वे तीस साल तक काम करते रहे, पर वे यह नही जान पाये कि यह कडवापन कहाँ से आ रहा है । जब उन्होने काम शुरू किया था, तो कारखाने मे केवल दो इमारतें थी, पर अब सात है, फिर भी उनका जीवन वैसा रहा ।

माँ बेटे की बात भय-चकित होकर सुनती रही, पर उसके हृदय के अन्दर एक अभूतपूर्व गुदगुदी पैदा हुई, बोलना चाहती थी—पर अकेले तुम क्या कर लोगे मेरे लाल—पर वह बोली—तुम क्या करोगे ?

पावेल बोला—पहले हम मज़दूरो को यह जानना चाहिए कि हमारी हालत ऐसी क्यो है, फिर हमे दूसरो को बताना चाहिए । जल्दी ही अधकार दूर हो जायगा । जाओ अब जाकर सो जाओ । मैने तुम्हे सब-कुछ बता दिया ।

माँ की आँखो मे आँसू आ गए । वह समझ गई कि उसका लडका विपत्ति मे है, पर कैसी विपत्ति है, इसका कुछ पता उसे नही था ।

इस घटना के बाद जीवन पहले की तरह चुपचाप चलने लगा । एक दिन पावेल ने माँ से कहा—शनिवारको हमारे यहाँ शहरसे कुछ लोग आयेंगे ।

सुनकर माँ सन्न हो गई। पावेल बोला—क्या बात है माँ ? क्या तुम डर रही हो ?

—हाँ मै डर रही हूँ। मै सारा जीवन डरती रही हूँ।

—डर ही तो हमारे विनाश का कारण है।

जब शनिवार को पावेल कारखाने जाने लगा, तो वह कह गया—कोई आये तो कह देना अभी आयगा।

यथा समय लोग आये। माँ ने डरते हुए उनका स्वागत किया। वे प्रतीक्षा करने लगे। पहले जो व्यक्ति आया, उसने माँ के साथ तरह तरह की बाते की। माँ को कुछ साहस हो गया, और वह बोली—चाय पीना हो तो तैयार है। दूसरे नम्बर पर एक ठिगनी-सी लडकी आई। उससे भी माँ की बातचीत हुई। माँ उसके लिए भी चाय तैयार करने लग गई। यह लडकी माँ को बहुत पसन्द आई। माँ चाय बनाती जाती थी, और उन दोनो की बातचीत सुनती थी। तीसरे नम्बर पर जो व्यक्ति आया, वह पुराने चोर डानीला का लडका निकोलाई था। इस व्यक्ति को देखकर माँ खुश नही हुई, पर उस ने देखा कि पहले आये हुए लोगो ने निकोलाई का स्वागत किया। इस के बाद और भी लोग आये, फिर पावेल आया, जो यह देखकर बहुत खुश हुआ कि माँ ने सबका स्वागत किया है, और उनके लिए चाय बना रही है। माँ ने पूछा—क्या यही वे निषिद्ध लोग है ?

—हाँ ये ही वे लोग है—कहकर वह चला गया।

माँ ने सोचा कि ये तो सब बच्चे है, ये भला क्या खतरनाक हो सकते है ? पावेल ने माँ को डराने के लिये कुछ अत्युक्ति से काम लिया होगा।

बगल के कमरे में कोई किताब पढी जाने लगी और उस पर आलोचना होने लगी। मा खुशी से सब को चाय पहुँचाती रही। जब उस ने इन नौजवानो को देखा, तो उस के हृदय मे एक एक ऐसी खुशी व्याप्त हो गई, जो अभूतपूर्व थी। आये हुये लोगो मे मजदूरो की दुर्दशा पर बातचीत होती रही। जब वह लडकी नाटाशा चलने लगी, तब मा बोली—तुम्हारे पैर मे जो मोजे है, वे इस मौसम के लिये उपयुक्त नहीं है, क्या मै तुम्हारे लिए मोजो का एक अच्छा जोडा बुन दूँ ?

सुनकर नाटाशा चुप हो गई, माँ समझी कि उसने कोई बेअक्ली की बात कह दी वह झेंप गई, पर नाटाशा ने माँ को आश्वासन दिया। जब सब लोग चले गए, तो माँ-बेटे मे बातचीत होने लगी। अन्त मे पावेल ने कहा—हम

कोई खराब काम नही कर रहे है पर किसी-न-किसी दिन हम जेल मे अवश्य पहुँच जायँगे ।

मॉ बोली—शायद ईश्वर तुम्हे बचा ले ।

—नही मै तुम्हे भ्रम मे नही रखना चाहता, जेल मे एक-न-एक दिन हमे अवश्य जाना है ।

मॉ की सारी खुशी का अन्त हो गया, और वह देर तक ईसा मसीह से प्रार्थना करती रही ।

लोग पावेल के घर मे आने जाने लगे । नाटाशा को मॉ ने एक जोड़ा मौजा बुनकर दिया । अब नाटाशा से अक्सर मॉ की बातचीत भी होती थी । इस बातचीत मे कभी तो बिलकुल व्यक्तिगत बाते होती, और कभी वह लडकी माँ को उद्देश्य समझाती । बाकी सब लोगो से भी मॉ की बातचीत होती । सब मॉ को बडे सम्मान की दृष्टि से देखते थे । नए-नए चेहरे भी दिखाई पडने लगे । एक दिन एक लडकी ने कहा, और माँ ने उसे सुन लिया—हम समाजवादी है ।

मॉ ने पावेल से उस दिन पूछा—क्यो बेटा, तुम समाजवादी हो क्या ?

पावेल ने कहा—हॉ, तुम क्यो पूछती हो ?

—मै इसलिए पूछती हूँ कि समाजवादी तो सम्राट् के विरुद्ध है, और एक समाजवादी ने तो एक सम्राट् को मार ही डाला ।

पावेल ने समझाया कि हमे उस तरह काम करने की जरूरत नही है । इस पर मॉ को तसल्ली हो गई । मॉ ने देखा कि एक लडकी शाशा हर-एक को हुक्म देती है, पावेल को भी आँख दिखलाती है । माँ को यह लडकी पसन्द नही आई । मॉ ने देखा कि कभी-कभी ये लोग बहुत खुश रहते है । ध्यान से देखने पर वह समझ गई कि जब दूसरे देशो के मजदूरो के सम्बन्ध मे कोई खबर आती है, तब ये लोग खुश होते है । कभी तो ये लोग इटालियन मजदूरो की जय मनाते है, तो कभी जर्मन-मजदूरो की । सारी दुनिया के मजदूरो की भलाई-बुराई से ये खुश अथवा नाखुश होते थे । ये लोग कभी-कभी गाने भी गाते थे, और इनमे से एक गाना मॉ को बहुत पसन्द आया । ऐसा मालूम होता था कि पुरानी दुनिया की गुलामी से यह गाना मुक्ति का सन्देश देता है ।

कारखाने के बाद ही लोग आकर जुट जाते थे । मुह धोने और चाय पीने की भी फुरसत उन्हे नही होती थी, और वे पुस्तक हाथ मे लेकर पढने और आलोचना करने मे जुट पडते थे । अब ये लोग अखबार निकालने की बात भी करने लगे । पर इन की आलोचना अब इतनी गूढ होने लगी कि मॉ के

लिए उनकी बातो को समझना कठिन हो गया। थोड दिनो मे एक साथी, जो माँ को बहुत पसन्द था, आकर उस घर मे रहने भी लगा।

माँ इधर-उधर बाजार मे हो जाती, तो अब उसे कई बार उसकी जान पहचान की स्त्रियो ने पावेल के सम्बन्ध मे चेतावनी देनी शुरू की। इससे माँ को कुछ भय हुआ, पर वह कुछ बोल न सकी। एक दिन आण्ड्रेई, जो पावेल के घर मे रहता था, पावेल से बोला कि मुझे नाटाशा पसन्द है। पावेल ने कहा कि इसी कारण नटाशा ने यहाँ आना छोड दिया। बात यही तक रह गई।

बस्ती मे लोग समाजवादियो के विषय मे कानाफूसी करने लगे, और यह कहने लगे कि यही लोग पर्चे बाटते है। कारखाने से मुनाफा बनाने वाले अधेड लोग कहने लगे कि इनका दमन होना चाहिए। मजदूर कहने लगे कि पर्चे बाँटने से क्या होता है। पर एक बार जब पर्चे बँटने मे देर हो गई, तो वे कुछ परेशान हुए। जब पर्चा देर से ही निकल गया, तो लोग खुश हुए। माँ को पावेल की भलाई के सम्बन्ध मे चिन्ता होने लगी। इतने मे एक स्त्री ने चुपके से उसे खबर दी कि उसके तथा कई अन्य साथियो के घर मे रात को तलाशी होने वाली है। सुनकर वह सन्न रह गई, पर लडके की भलाई के कारण वह उठ खडी हुई। उसने घर की सारी पुस्तको को जमा कर लिया। और उनको बटोरकर जलाने के लिए तैयार हो गई। पर कुछ समझकर वह उन पुस्तको को लेकर तैयार खडी रही, पर उन्हे आग मे नही झोका। जब पावेल तथा आण्ड्रेई आये, तो वह कुछ आश्वस्त हुई। पावेल बोला—यदि तुम यह दिखाओ कि तुम डर रही हो, तब तो मुसीबत आ जायगी। तुम तो जानती हो कि हम लोग कोई बुरा काम नही कर रहे है और न्याय हमारे साथ है। हम न्याय के लिए लड रहे है यही हमारा दोष है।

उस रात को तलाशी नही हुई। पर इसके एक महीने बाद जब तीन साथी रात को बात कर रहे थे तो पुलिस वाले आये। माँ लेट चुकी थी, पर उठ खडी हुई। पावेल ने माँ को सो जाने के लिए कहा। पुलिस वालो ने आकर पावेल को घेर लिया, और कहा कि तुम्हारे घर की तलाशी होनी है। पुलिस-अफसर ने पुस्तको को उठाकर देखना शुरू किया। वह एक-एक किताब देखता था और उनको फर्श पर फेकता जाता था। अन्त मे अफसर ने पूछा कि ये पुस्तके किसकी है? पावेल ने कहा कि ये मेरी पुस्तके है। अफसर ने आण्ड्रेई से पूछा कि तुम वही हो न, जिसने राजनैतिक मामलो मे जेल काटी है? उसने कहा कि हाँ मै वही हूँ, पर उन स्थानो मे, जहाँ मै पकड़ा गया था, पुलिस के अफ़सर अधिक भद्र थे।

आण्ड्रई को गिरफ्तार कर लिया गया। माँ ने इसका प्रतिवाद किया, पर उसका कुछ नतीजा नही हुआ। पुलिस वालो ने कुछ और क्रान्तिकारियो को गिरफ्तार किया, पर पावेल गिरफ्तार नही किया गया, क्योकि उसके घर में कुछ नही निकला था। पावेल ने अपने दो गिरफ्तार साथियो से विदाई ली, तो पुलिस-अफसर ने कहा—घबराओ नही, जल्दी ही सब का मिलन होगा।

पुलिस वाले गिरफ्तार लोगो को लेकर बूट चर्र-चर्र करते हुए चले गए। पावेल ने माँ से कहा—देखा, कैसे ये लोग काम करते है ?

पावेल गिरफ्तार नही हुआ था, इस कारण माँ को शान्त होना चाहिए था, पर उसके सामने जिस प्रकार पुलिस वालो ने व्यवहार किया, बात-की-बात मे वे लोगो को गिरफ्तार करके ले गए, उससे वह शान्ति नही पा सकी। पावेल का चित्त भी व्याकुल हो रहा था। माँ समझ गई, बोली—"बेटा क्या बात है ?" पावेल बोला—"मुझे पकडकर ले जाते तो ज्यादा अच्छा रहता।"

माँ ने अपने को कहते हुए सुना—प्रतीक्षा करो, व तुम्हे भी ले जायँगे।

इतना कहकर वह चुप हो गई। पावेल बोला कि हाँ मुझे वे ले जायेगे। इस पर माँ का हृदय एकाएक भर आया, बोली—तुम बडे कड़े हो। तुम्हे चाहिए था कि मुझे सान्त्वना देते, सो नही तुम मुझसे न मालूम क्या-क्या मनहूस बाते कहलवा रहे हो।

पावेल बोला—पर यह तो होना ही है, इसलिए तुम्हे इसका अभ्यस्त हो जाना चाहिए।

अगले दिन मालूम हुआ कि और भी क्रान्तिकारी साथी गिरफ्तार हुए है। यह देखा गया कि गिरफ्तारियो का असर साधारण मजदूरो पर बहुत अच्छा रहा। जो लोग कभी कुछ सोचते नही थे, वे भी सोचते हुए दिखाई पडे। एक पडोसी ने आकर माँ से कहा—उनके हाथ मे जो भी शस्त्र पड जाता है, उसी से वे हम पर बार करते है, उन्होंने हम पर एक झूठा ईश्वर भी लाद दिया है, जो उन्ही का मतलब सिद्ध करता है। उन्होंने उस ईश्वर में झूठ और बुरी बातो का ताना-बाना डाल दिया है, हमे इस ईश्वर को भी शुद्ध करना पडेगा, क्योकि उसकी सहायता से वे हमारी आत्मा को मारते है।

इस तरह वह कितनी ही बाते कहता गया, पर माँ बोली—ऐसी बाते सुनना मेरी शक्ति के बाहर है।

उस दिन माँ ने सोते समय प्रार्थना नही की। उधर वह व्यक्ति धर्म की और बुराई करता रहा। कहता रहा कि हमे विश्वास बदलना चाहिए, गिर्जे

तो मानो ईश्वर के कब्रिस्तान है। माँ ऐसी बाते प्रतिदिन और अधिक सुनती रही, और वह उनकी अभ्यस्त हो गई। कभी-कभी माँ को ऐसा प्रतीत होता था कि ये लोग जो ईश्वर को गालियाँ देते है, वे ही ईश्वर के असली भक्त है। ऐसी बात सोचते समय अनीश्वरवादियो के प्रति माँ के मन मे जो व्यथा थी, वह दूर हो जाती थी।

प्रति सप्ताह वह आण्ड्रेई के लिए पुस्तके और धुले हुए कपडे ले जाती थी। वह देखती थी कि जेल मे भी आण्ड्रेई उसी प्रकार से खुश है। इस से माँ को यही धारणा होती थी कि कष्ट तो अवश्य होता होगा, पर वह उसे चुपचाप सहन करता है और किसी को बताना नही चाहता।

बस्ती मे लोग पावेल के घर पर अधिक आने-जाने लगे। ऐसा अक्सर होता कि किसी को कोई शिकायत होती, तो वह दरख्वास्त बनाकर पावेल के पास आता, और कहता कि भाई तुम तो कानून पढे हो, बताओ ।
पावेल भी यथासाध्य सहायता देता।

कारखाने के पास एक दलदल थी, मालिक की जमीन मे यह दलदल पडती थी। उसने इसे दलदल से खेती के लायक जमीन बनाने का इरादा किया था। तो यह काम था उसके मुनाफे का, पर उसने ऐसा दिखाया मानो वह यह सारा काम मजदूरो की स्वास्थ्योन्नति के लिए कर रहा हो, इसलिए यह हुक्म दिया गया कि मजदूरी मे प्रति रूबल एक कोपेक कटौती की जायगी। पावेल उस दिन बीमारी के कारण छुट्टी पर था, इस कारण उसे कुछ पता नही लगा था। दो गण्यमान्य कारीगर जिनका क्रान्तिकारियो से कोई सम्बन्ध नही था, पावेल के पास इस सम्बन्ध मे आये। फौरन पावेल ने कुछ लिखा और माँ को देते हुए कहा—इसे पहुँचा दो।

—क्या यह खतरनाक है ?

—हाँ, मै तुम्हे वहाँ भेज रहा हूँ, जहाँ से हमारा पत्र निकलता है। कोपेक कटौती की बात फौरन समाचार रूप मे निकल जाने चाहिए।

यह पहला काम था, जिसे लडके ने माँ को दिया था। माँ बोली अच्छी बात है, और वह निकल पडी। बडी देर मे वह लौटी, वह थकी हुई थी पर खुश थी। माँ ने उन क्रान्तिकारियो को पसन्द किया था, जिनसे वह आज मिलकर आई थी। पावेल सुनकर खुश हुआ।

सोमवार को भी पावेल कारखाने नही गया। उस दिन लोग उसके पास आए, और बोले—सारा कारखाना विद्रोह मे उठ खडा हुआ है, चलो।

बिना कुछ कहे-सुने बीमार होते हुए भी पावेल चल पडा। कारखाने के

सब लोग सभा सी कर रहे थे । वह अनीश्वरवादी कह रहा था कि हम कौपेक के लिए नही लड रहे है, हम न्याय के लिए लड रहे है । सबने उसकी बात पसन्द की । पावेल पहुँचा तो माँ भी साथ मे थी । जब पावेल बोलने के लिए खडा हुआ, तो माँ ने देखा कि उसका चेहरा पीला है । उसमे इच्छा हुई कि वह बेटे के पास पहुँचे, इसलिए वह धक्के खाती और देती हुई बेटे के पास पहुँच गई । पावेल कुछ सहमा, हिचकिचाया, फिर बोलने लगा—हम ही वे लोग है जो गिर्जे और कारखाने बनाते है, हम जन्जीर और धन का उत्पादन करते है । पालने मे लेकर कब्र तक लोग जिस जीवित शक्ति के कारण जीते है, हम ही वह जीवित शक्ति है, फिर भी हमे कोई मनुष्य नही समझता ।

इस प्रकार से वह कहता गया । थोड़ी देर मे मालिक वहाँ आ गया, बोला—काम क्यो बन्द है ?

किसी ने कुछ नही कहा, तब पावेल ने कहा—हम मजदूरो के तीन प्रतिनिधि है । आपसे यह माँग करना चाहते है कि आप कोपेक-सम्बन्धी अपने फैसले को रद्द कर दे ।

मालिक समझाने लगा कि स्वास्थ्योन्नति के लिए यह काम किया जा रहा है । पर लोगो ने उसके तर्क को नही माना, तब मालिक यह धमकी देकर चला गया कि १५ मिनटो के अन्दर काम पर लौटो, नही तो जुर्माना किया जायगा । जब मालिक चला गया तो लोगो ने पावेल से पूछा कि अब क्या होना चाहिए, पावेल ने कहा कि हमे तब तक काम नही करना चाहिए, जब तक कि हमारी माँग पूरी न हो । इस पर कुछ लोगो ने कहा कि ऐसा करना तो हडताल करना होगा, इस पर आपस मे बडा मतभेद हो गया । पावेल दुखी होकर माँ के साथ घर लौट गया, बीमार तो वह था ही । उसी रात को पुलिस वाले आये और पावेल को गिरफ्तार कर लिया । माँ उस समय सो चुकी थी, वह हडबडाकर उठी और बेटे के मुँह की तरफ देखने लगी । माँ की यह इच्छा हो रही थी कि वह धाड़ मारकर रोये, पर उसने जो पुलिस-अफसर को देखा, तो उसे यह प्रतीत हुआ कि यह व्यक्ति इसी की प्रतीक्षा कर रहा है कि माँ रोये-धोये, तो वह खुश हो । इस कारण वह नही रोई । जब पावेल चलने लगा, तो अपनी सारी शक्ति बटोरकर माँ ने उस के हाथ को अपने हाथ मे लिया, और बोली—बेटा तुमने सब-कुछ ले लिया न ?

—हाँ, तुम गम न करना··

—ईश्वर तुम्हारी भलाई करे ।

जब पुलिस वाले चले गए तो वह एकदम से गिर पडी, पर धीरे-धीरे बेटे

के निर्भीक चेहरे की याद आई, तो वह सँभल गई और उसका मन उन लोगो के लिये घृणा से पूर्ण हो गया, जो माँ और बेटो को इस कारण अलग कर देते है कि बेटा न्याय का पुजारी है। वह यही सोचने लगी कि मुझे भी ले जाते, तो अच्छा रहता। भीतर से वह दुखी हुई, पर ऊपर से नही। उस दिन उसने खाना नही पकाया, चाय तक नही पी। जब वह रात को एक टुकडा रोटी खाकर सोने लगी, तब उसे ऐसा अनुभव हुआ मानो उसके लिए दुनिया सूनी हो गई। वह गया तो सब-कुछ गया।

वह आशा करती थी कि कोई आयेगा, पर कोई नही आया। रात को किसी ने जङ्गले पर टकटक किया, तो उसने दरवाजा खोल दिया, तो दो युवक घुस आए। उन्होने बताया कि पावेल के साथ जेल मे और भी पचास के करीब साथी है, और उसने माँ को सन्देश भेजा है कि वह गम न करे। उन क्रान्तिकारियो ने कहा कि पर्चे निकालना तो जारी रखना पडेगा, नही तो पुलिस यह समझेगा कि पावेल के गिरफ्तार होते ही सब काम ठण्डा हो गया, इसलिए पावेल को कभी न छोडा जाय। माँ भी इस बात को समझ गई।

आगन्तुक बोला—साहित्य तो है, पर सभी गिरफ्तार हो चुके, कारखाने मे उसे कैसे पहुँचाया जाय।

माँ समझ गई कि लडके उससे कुछ काम चाहते है। बोली—मुझे दो 'मै सब काम करूँगी। मुझे दो' अब रोजी के लिए कारखाने मे काम करना ही है। वे देखे कि पावेल के हाथ जेल मे भी पहुँच जाते है।

आगन्तुको ने माँ की तारीफ की। फिर उन्होने माँ को तसल्ली दी। माँ बोली—कभी वे मेरे बेटे को समझेगे।

अगले दिन माँ ने जाकर मारिया नामक फेरी वाली की सहायिका के रूद में नौकरी कर ली। ये दोपहर की छुट्टी के समय मजदूरो मे फेरी करती थी। जब वह काम पर गई तो किसी ने उसे भला कहा किसी ने बुरा। वह इस काम के बहाने कारखाने मे क्रान्तिकारियो के पर्चे पहुँचाने लगी। अब माँ को शाशा आदि कई लडकियो से साबका पडता रहा। शाशा जेल हो आई थी। जेल के सब कष्टो को सुनकर माँ बोली—इन सब कष्टो के लिए तुम्हे पुरस्कार कौन देगा?–फिर जैसे अपने प्रश्न का उत्तर आप ही देती हुई बोली—इसका पुरस्कार तो ईश्वर ही दे सकते है, पर तुम तो शायद ईश्वर मे विश्वास नही करती।

उस लड़की ने सिर हिलाते हुए कहा—नही।

माँ एकाएक जोश मे आकर बोल पडी—तब मै भी तुम्हारा विश्वास

नही करती ।—फिर कुछ सोचकर बोली—तुम अपने विश्वास के सम्बन्ध में स्वय ही नही जानती । यदि ईश्वर मे विश्वास न होता, तो तुम कैसे इस प्रकार का जीवन व्यतीत कर सकती थी ?

इसी प्रकार से माँ रोटी कमाती रही, और साथ-ही-साथ पावेल के द्वारा छोडे हुए कार्य को चलाती रही । माँ अपने स्वप्नो को कभी नही छोडती रही । एक दिन एक प्रधान क्रान्तिकारी येगोर ने माँ से कहा—यदि वे तुम्हारे पास से पर्चे बरामद करे, तो तुम क्या कहोगी कि कहाँ से मिले ?

माँ बोली—मै कहूँगी कि उनसे कोई मतलब नही ।

येगोर बोला—पर उनसे मतलब तो है । यदि तुम न बताओगी, तो वे पूछते ही रहेगे ।

—मै नही बताऊँगी । क्या वे मुझे मारे-पीटेगे ?

येगोर बोला—पर माँ तुमको कष्ट तो होगा ।

माँ बोली—कष्ट तो सभी को है । जो लोग समझकर काम कर रहे है, उनके लिए शायद काम करना ज्यादा आसान है, पर मै भी धीरे-धीरे चीजो को समझ रही हूँ ।

येगोर बोला—जब माँ तुम इतना समझती हो, तो यह जान लो कि सभी को तुम्हारी आवश्यकता है ।

इस पर माँ मुस्कराई । माँ बडी सावधानी से पर्चों को छिपाकर कारखाने मे जाती । हर एक की तलाशी ली जाती थी, और मजदूर बुरा-भला कहते थे । कोई कहता था तलाशी हमारे दिमाग की लेनी चाहिए, कोई और कुछ कहता था । माँ की भी तलाशी होती थी, पर वह बड़ी आसानी से तलाशी लेने वालो की आँखो में धूल डालकर चली जाती थी । वह अपने काम से बहुत खुश थी ।

एक दिन आण्ड्रेई छुटकर आ गया । माँ को खुशी भी हुई, और कुछ निराशा भी । आण्ड्रेई पावेल की खबर लाया था । पावेल अच्छी तरह था, और आण्ड्रेई ने कहा कि वह जल्दी ही छोड दिया जायगा । माँ ने यह भी बताया कि वह आजकल क्या काम कर रही है । वह बोली—पहले मेरी जिन्दगी मे क्या था ? मार और काम । मै यह भी नही जानती थी कि मै पावेल को प्यार करती हूँ । मेरा बस एक ही काम था कि अपने उस पशु को खुश रखूँ, कही उसके खाने मे देर न हो जाय जिससे मै मार से बची रहूँ । बीस साल तक मै ऐसा जीवन बिताती रही । मेरा पति मर गया, तब मैने लड़के की तरफ आँख फेरी, फिर उसे काम करते देखा, और मेरा मन

भय से भर गया कि कही कुछ उसका अकल्याण न हो। पर यह तो विशुद्ध प्रेम नही था, यह तो एक स्त्री का प्रेम था। पर जब मैने तुम लोगो को कष्ट झेलते हुए, जेल जाते हुए देखा, तो मुझमे एक और ही भावना हुई। मैने सोचा विशुद्ध प्रेम इन्ही लोगो मे है। पर मुझमे तो वैसा नही है। मै तो केवल अपने लोगो से ही प्रेम करती हूँ। तुममे वह प्रेम है, इसलिए वह जेल मे बैठा है, तुमने जनता के लिए अपना सुख छोड दिया।

अगले दिन जब माँ फाटक पर पहुँची, तो पुलिस वाले ने उसे रोका। बोला—सब समान उतार दो।

माँ ने प्रतिवाद किया। खाने की चीजे ठण्डी हो जायँगी, तो कोई नही खरीदेगा। इसी समय कुछ गडबडी हुई, और उस का फायदा उठाकर मा अपनी चीज़ो के नाम पुकारती हुई भीतर घुस गई।

माँ को धीरे-धीरे पता लगा कि ये क्रान्तिकारी अपनी मारी आमदनी भी इसी काम मे लगा देते है। इससे कुछ विशेष आश्चर्य तो नही हुआ, पर माँ को और भी विश्वास हो गया कि ये लोग अच्छा काम कर रहे है। पर साथ ही साथ बार-बार माँ के मन मे इस प्रकार के विचार भी उठते थे खैर मेरा जीवन तो गुज़र गया, मेरा पति तो काई से लदे हुए एक भारी और कष्टकर पत्थर की तरह था, पर आण्ड्रेई नाटाशा से और पावेल शाशा से शादी करे, तो कितना अच्छा रहे।

माँ तो अपने स्वप्नो मे विभोर रही, और आण्ड्रेई आदि अपने स्वप्नो मे विभोर थे। एक दिन आण्ड्रेई बोला—माँ जी, अब कुछ पढना लिखना सीखो, तो कैसा रहे ?

यद्यपि माँ ने आँख कमजोर है कहकर पढना अस्वीकार कर दिया, फिर भी समय-समय पर वह किसी कठिन शब्द का अर्थ पूछती रहती थी, जिससे आण्ड्रेई ने यह समझा कि वह गुप्त रूप से अध्ययन कर रही है।

कई बार वह पावेल के साथ मिलने गई, पर जेल कर्मचारी ने हँसकर कहा कि माँ तुम्हे कुछ दिन और प्रतीक्षा करने पडेगी। इस पर माँ एक दिन बोली—आदमी हँसमुख है।

आण्ड्रेई बोला—हाँ यह लोग सब बडे शरीफ और हँसमुख है। पर जब उनको हुक्म दिया जाता है कि यह आदमी बडा बुद्धिमान है, इसे फाँसी पर चढा दो, तो वे उसे हँसते हुए फाँसी पर चढाते है, और फिर हँसते ही रहते है।

—पर गिरफ्तार करने वाला व्यक्ति और किस्म का था, उसे देखते ही

कोई भी भाँप सकता था कि वह सुग्रर है ।

—इनमे से कोई ग्रादमी नही है । वे तो पुर्जे है ।

ग्रन्त मे पावेल से भेट करने की ग्रनुमति मिली । वहाँ पर ग्रौर भी लोग ग्रपने प्रियजनो से मिलने के लिए ग्राये थे । पावेल हमेशा की तरह शान्त था, पर कुछ पीला पड गया था । जेलर सामने खडा रहा । माँ बेटे से लिपटना चाहती थी, पर जेलर ने जमुहाई लेते हुए कहा कि दूर रहो । कुशल-प्रश्न के बाद माँ बोली कि शाशा ने नमस्ते भेजा है । पावेल की भौहे कुछ हिली, फिर वह मुस्कराया । माँ बोली—बेटा तुम्हे वे छोड तो देगे न ? वे पर्चे फिर कारखाने में बँटे ।

—ग्रच्छा ?—पावेल का चेहरा दमकने लगा ।

जेलर जैसे नीद से जगते हुए बोला—ऐसे विषयो पर बात करना मना है। केवल पारिवारिक कुशल पूछो ।

पावेल ने कहा—ग्रपनी बाते कहो ।

माँ नटखटपन की चमक ग्राँखो मे लाती हुई बोली—मै उन चीज़ो को कारख़ाने मे ले जाती हूं —कहकर कुछ रुकती हुई बोली—याने मे ख़ाने की चीज़े ले जाती हूँ ।

पावेल ग्रर्थ समझ गया । माँ बोली—जब पर्चे निकले तो मेरी भी तलाशी हुई—माँ के स्वर मे गर्व का पुट था ।

जेलर ने फिर दाँत दिखाये । फौरन ही बोला—समय समाप्त ।

माँ बेटा मिलकर ग्रलग हुए । पावेल ने कहा—जल्दी जाऊँगा ।

एक दिन सध्या समय माँ मोजा बुन रही थी, ग्रौर ग्राण्ड्रेई माँ को रोम के दासो के विद्रोह के सम्बन्ध मे पढकर सुना रहा था, तो उस समय एक साथी ग्राया ग्रौर बोला—सीधे जेल से ग्रा रहा हूँ, पावेल का नमस्ते ।

ग्रौर भी क्रान्तिकारी ग्राये, ग्रौर सब माँ की प्रशसा करते रहे । जीवन चलता रहा । एक दिन एक बाचाल लडकी माँ से विदाई लेते समय बोली—विदाई कामरेड ।

इस पर माँ ने हँसी रोकते हुए कहा—विदाई ।

जब वह लडकी जाने लगी । तो माँ बहुत दूर तक उसे देखती रही ग्रौर मन मे बोली—मेरी प्यारी बच्ची तुम्हे ईश्वर ऐसा कामरेड दे, जो तुम्हारे साथ जीवन की यात्रा करे ।

इस प्रकार से साथियो ने माँ का जीवन कटता रहा । वह ग्रब इन लोगो के जीवन को बहुत-कुछ समझती रही, ग्रौर यह ग्रनुभव करती रही कि दुःख

के मूल कारण को इन्होंने पा लिया है, और ये सही मार्ग पर चल रहे हैं। वह बराबर पर्चों को ले जाती रही। कई बार मा की तलाशी ली गई, पर कभी कुछ मिला नहीं। बात यह है कि जिस दिन पर्चे निकलते थे उस के अगले दिन तलाशी होती थी और उस दिन उसके पास कुछ होता नहीं था। जब माँ के पास कुछ होता नहीं था, तो वह जान-बूझकर इस ढङ्ग से चलती थी कि खुफियों का उस पर शक हो जाता था, और वे उसकी तलाशी लेते थे। बिना कारण तलाशी लिये जाने पर माँ बडबडाती थी, इस प्रकार एक तमाशा बनता था, जिसे वह खूब उपभोग करती थी।

माँ के घर में पहले की तरह क्रान्तिकारियों का अड्डा जमता था। एक रविवार को माँ जब दुकान से आई, तो चौखट पर से उसने पावेल की आवाज़ सुन ली, और माँ को ऐसा अनुभव हुआ मानो वह खुशी से बिखर पडेगी। माँ बेटा लिपट पडे। पावेल बोला—माँ धन्यवाद, माँ ने कहा भला क्यों, तो पावेल बोला—हमारे काम में सहायता देने के लिए, वह सुख न्यारा ही है, जब कोई कह सके कि वह और उसकी माँ एक ही तरह के विचार रखते हैं।

माँ बहुत खुश हुई, और लडके को रसोईखाने में ले गई। फिर वही रवैया चला, पावेल और दूसरे लोगों में वही अन्तहीन बहस और मन्त्रणा शुरू हुई, जिसका कुछ अंश माँ समझती थी, और कुछ अंश नहीं समझती थी।

मई दिवस की तैयारी शुरू हुई। नाटाशा भी जेल काटकर आ गई। शाशा भी कभी-कभी आती थी। एक दिन पावेल शाशा को घर के बाहर तक छोडने के लिए गया तो दरवाज़ा बन्द करना भूल गया, माँ ने यह सुना कि पावेल मई दिवस में झण्डा उठाना तय कर चुका है, और शाशा उसे मना कर रही है। माँ ने शाशा को मना करने में कुछ ऐसी गहराई पाई, जो ध्यानयोग्य थी। पर माँ को बेटे के सम्बन्ध में चिन्ता हो गई, क्योंकि पावेल ने शाशा की बात नहीं मानी। माँ ने बेटे से पूछा—तो पावल ने मान लिया कि वह जल जाने वाला है। बेटे ने पूछा—तो क्या मुझे रोक रही हो?

माँ बोली—नहीं तो, मैंने कुछ नहीं कहा—पर वह दुखी थी, और बेटे की उठी हुई आँखों के सामने उसकी आँखें झेंप गईं।

पावेल बोला—वैसी माँएँ कब होंगी, जो हँसती हुई अपने बेटों को मृत्यु के मुँह में भेज सकें?

—मैंने कुछ नहीं कहा। पर क्या करूँ मैं माँ तो हूँ।

माँ की सारी खुशी समाप्त हो गई, पर वह ऊपर से दृढ बनी रही। माँ

ने यह देखा कि आण्ड्रेई अपने मित्र पावल की अति दृढता को पसन्द नही करता और पावेल को समझाता रहा कि माँ से इस प्रकार का व्यवहार उचित नही है।

एक दिन जब पावेल और आण्ड्रेई कारखाने गये थे, तो माँ को एक स्त्री ने आकर खबर दी कि एक खुफिया को किसी ने मार डाला है। सुनकर माँ उसे अन्य स्त्रियो के साथ देखने गई। किसी को उस खुफिया से सहानभूति नही थी, यद्यपि वह मरा पडा था। जब लडके घर पर आये तो उस खुफिया की हत्या पर बात करते हुए पावेल ने पूछा—क्या तुम ऐसे व्यक्ति को मार सकते हो ?

आण्ड्रेई बोला—लक्ष्य के लिए मै बेटे को भी मार सकता हूँ।

मा ने इस पर प्रतिवाद किया, तब आण्ड्रेई बोला—अजीब बात है। हम लोगो से घृणा करते है, जिस से कि वह दिन नजदीक आवे, जब कि हम उन्हें प्यार कर सकते है। जो प्रगति के मार्ग मे खडा होगा, या अपने लिए मान और सुरक्षा प्राप्त करने के लिये धन के लिये लोगो को बेच देगा, हमे उन को मिटा देना है। फिर वे हमारे मालिक फौज-फाटा, जल्लाद, चकले और जेल क्यो रखते है। यदि वे हमारे सैकडो आदमियो को मारते है, तो क्या हमे उन पर हाथ उठाने का भी अधिकार नही है ? हमारे रक्त से सत्य का पौधा बढता है, जब कि उस रक्त को वर्षा की तरह चारो तरफ फैला दिया जाय। मै जीवन के लिए कुछ भी करने को तैयार हूँ—कहकर वह टहलते हुए बोला—मेरी आँखो के सामने यह हत्या हुई, मै इसे रोक सकता था।

माँ ने उसे आगे कुछ कहने से मना किया, पर वह रुका नही, बोलता गया—उस हरामजादे ने मुझसे कहा कि आण्ड्रेई तुम बहुत चालाक हो, हमें मई दिवस की सब बातें मालूम है। तुम खुफिया क्यो नही हो जाते ? मैने यह सुनकर उसे एक तमाचा मारा, और चला आया। इतने में शायद ट्रगुन-अफ उसके लिए प्रतीक्षा कर रहा था, और उससे बोला कि बेटा आज फँसे हो। मै पीछे को नही लौटा, यद्यपि मै समझ गया कि । इसके बाद ही मैने मार की आवाज सुनी। आज जब काम पर गया, तो लोगो ने कहा कि वह खुफिया तो मारा गया। तब से मेरे हाथ दर्द कर रहे है। ऐसा मालूम होता है जैसे लकवा मार गया।

इन बातो को कहकर वह नहाने चला गया। माँ और बेटे मे बातचीत होती रही। पावेल ने कहा—इस हत्या की अधिक चिन्ता न करो। असली

हत्यारे तो वे है ।

दिन बीतने गये, और काम के मारे माँ को मई दिवस के सम्बन्ध म सोचने की फुरसत ही नही रही । पर कभी-कभी हृदय के अन्दर एक ऐठन सी मालूम होती थी ।

पावेल और आण्ड्रेई अपने रोज के काम मे जाते थे । इन दिनो मजदूरो से मई दिवस मे भाग लेने का आह्वान करते हुए पर्चे प्रतिदिन निकलते थे । उधर से चारो तरफ खुफिया पुलिस के लोग घर-घर मे सूँघते फिरते थे । माँ यह समझती थी कि पावेल और आण्ड्रेई विपत्ति मे पडे हुए थे । न मालूम किस कारण से उस हत्या के सम्बन्ध मे पुलिस जो एक दिन तहकीकात करके ठण्डी पड गई थी । माँ को एक पडोसिन से पुलिस की राय भी मालम हो चुकी थी। वह राय यह थी कि हत्या के दिन कम-से-कम सौ मजदूरो ने उस खुफिया को देखा होगा, जिनमे से ९० तो उसका काम तमाम करना चाहते होगे । सात साल से वह सबको सताता आ रहा था ।

एक दिन आण्ड्रेई बोला--देख लिया ? वे जनता की बिलकुल परवाह नही करते, और उन लोगो की परवाह करते है, जिन्हे वे जनता के विरुद्ध कुत्तो के रूप मे इस्तैमाल करते है ।

इसी प्रकार आण्ड्रेई बराबर कुछ न कुछ मौलिक बात कहता था । अन्त मे मई दिवस भी आ गया । माँ ने सवेरे ही चाय का पानी रख दिया । फिर वह बडी देर तक ईश्वर से व्याकुल प्रार्थना करती रही । जब लडके चाय के लिए आए, तो माँ ने अलग से आण्ड्रेई से कहा—बेटा, तुम पावेल के साथ-साथ रहोगे न ?

आण्ड्रेई ने कहा--जरूर ।

पावेल ने पूछा कि माँ क्या कह रही है, तो आण्ड्रेई ने कहा—माँ कह रही है कि कान के पीछे अच्छी तरह साफ करना, बात यह है कि आज लडकिया मुझ पर कटाक्ष बाण फेकने वाली है ।

पावेल ने कहा—मजदूरो सग्राम के लिए उठो ।

माँ के मन मे भी शान्ति थी । देर तक दोनो मिल खाते रहे । खाना समाप्त होने पर भी वे वैठे रहे, इतने मे खबर आई कि मजदूर निकल रहे है । पावेल उठ खडा हुआ और माँ भी चलने को तैयार हुई । पावेल ने पूछा, तो माँ बोली कि वह भी चलेगी । इस पर पावेल बोला—मै तुम से कुछ नही कहता, और तुम भी मुझसे कुछ मत कहो ।

जब वे बाहर निकले तो चारो तरफ लोग जमा हो रहे थे । पावेल और

आण्ड्रेई चारों तरफ बिना देखे बढे चले जा रहे थे। वे शान्त थे। एक जगह एक मजमा-सा इकट्टा था। वक्ता को बोलना नही आता था, इस कारण आण्ड्रेई ने कहा—मैं चलकर बोलता हूँ।

कहकर आण्ड्रेई बोलने लगा। इतने मे पुलिस आ गई। पुलिस वाले आण्ड्रेई पर घोडा दौडाना चाहते ही थे कि माँ ने उसका हाथ पकडकर बचा लिया, बोली—तुम तो कहते थे कि पावेल के साथ रहोगे, और यहाँ तुम खुद ही दूसरो का झगडा मोल लेते फिर रहे हो।

इस पर आण्ड्रेई ने माफी माँगी, और दोनो चल पडे। अन्य स्थानो पर भी मजमे हो रहे थे। एक जगह पावेल बोल रहा था—साथियो! हमने यह तय किया कि आज हम खुलकर बता देगे कि हम क्या है, हम आज यह बताना चाहते है कि हम सुयुक्ति, न्याय और स्वतन्त्रता के झण्डाबरदार है।

यह कहना था कि एक सफेद डण्डा हवा में खडा हो गया, और उसमें से चिडिया के पर की तरह मजदूरो का लाल झण्डा लहराने लगा। पावेल ने उसका अभिवादन करते हुए कहा—मजदूरों की जय।

माँ की आँखो में आँसू आ गए, और चारो तरफ से जय नारे लगने लगे। आण्ड्रेई बोला—साथियो! हम सुयुक्ति, कल्याण और सत्य के लिए खड है। यह एक नया देवता है, हम उसके पूजक है। हमारा उद्देश्य बहुत बडा है, पर हमें काँटो के मुकुट तो अभी मिलने वाले है। हमारी बातों तथा आदर्शों में जिनको विश्वास नही है, वे हमारे साथ न चले।

कोई अन्तर्राष्ट्रीय गाना गा उठा, और लोग दौडते हुए लाल झण्डे का अभिवादन करने लगे। अफवाह फैल गई कि स्वय गवर्नर फौज लेकर आ रहे है। इस पर कुछ लोग पीछे हटने लगे। गाना गाने मे वह एका नही रहा। पावेल बोला—साथियो! फौजी भी हमारे भाई है, वे हमे क्यो मारेगे? अभी वे नासमझ है, इसलिए उनकी समझ को द्रुत करने के लिए हमें आगे बढते जाना चाहिए। आगे बढो, भाइयो आगे बढो।

भीड आगे बढी। एक जगह जाकर आ गया कि सामने फौजियो की दीवार सी बनी है। माँ का हृदय धक् से हो गया। केवल चार व्यक्ति झण्डे को लेकर फौज की तरफ़ बढे, जिनमे पावल और आण्ड्रेई भी थे।

किसी ने चिल्लाकर कहा—सुअर के बच्चे गा रहे है।

यद्यपि भीड रुक गई थी, पर वह उन चार गाते और आगे बढते हुए लोगो को ध्यान से देख रही थी। इतने मे सगीने चढाकर फौज को आगे बढने का हुक्म हुआ। माँ अपलक दृष्टि से घटनाओ को देखती रही।

आण्ड्रेई पावेल के सामनें खडा हो गया, पर पावेल नें हुक्म दिया—हट जाओ, झण्डा सबसे आगे रहता है।

कई सिपाहियो ने झण्डे को घेर लिया। एक अफसर ने झण्डा माँगा, पर पावेल ने झण्डा नही दिया, तब वे गिरफ्तार कर लिये गए। पावेल नें सिपाहियों के व्यूह के अन्दर से कहा—माँ विदाई······

आण्ड्रेई ने भी इसी प्रकार से विदाई ली। माँ के हृदय को बडी शान्ति मिली कि पावेल जिन्दा है, और वह माँ की याद कर रहा है। इतने में किसी ने माँ की छाती पर एक घूँसा मारा। माँ के हाथ मे लाल कपडे का एक टुकडा था। अफसर ने उसे छीन लिया, और फिर एक धक्का देते हुए कहा—जा ·· ··

सिपाहियो के व्यूह के अन्दर से वही गाना उठ रहा था। इतने मे किसी ने हुक्म दिया इनका गाना बन्द कराओ। उधर माँ को फिर एक धक्का देते हुए किसी ने कहा—बुढिया भाग, बुढिया जा।

सडक को भीड से साफ करने की कार्रवाई चलने लगी। माँ लडखडाती हुई चली। भीड मे तरह-तरह की टिप्पणियाँ हो रही थी। यद्यपि लोगो ने साथ नही दिया था, फिर भी वे पावेल आदि की प्रशसा कर रहे थे। माँ इन टिप्पणियो को सुनती हुई आगे बढ रही थी। थोडी देर मे माँ के अन्दर से वाणी फूट निकली, और माँ बोली—हमारे बेटे जनता के लिए चले गए। प्यारे लोगो, तुम लोग उन्हे अकेले न छोडो। वे अपने विश्वास के लिए, ईसा मसीह और सत्य के लिए मरने को तैयार है। उन पर विश्वास रखो।

जनता में जोश बढ गया, और लोग बोले—यह बुढिया सत्य कह रही है। सबने माँ की तरफ सम्मान के साथ देखा। माँ बोली—यदि लोग उन के गौरव को बढाने के लिए प्राण देने को तैयार न होते, तो ईसा मसीह होते ही नही—कहकर वह धीरे-धीरे अपने सूने घर में चली गई।

उसी दिन सन्ध्या समय पुलिस वाले आए और उन का एक अफ़सर बोला—मुँह बनाकर तैठी हो, यह सारा तुम्हारा ही दोष है कि तुम अपने पुत्र मे ईश्वर तथा सम्राट् के प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न नही कर पाईं।

इस पर माँ ने कुछ कहा, अफसर ने माँ को डाँटा और तलाशी शुरू हुई, फिर वे चले गए। माँ कपडे बिना बदले सो गई, और स्वप्न में भी अपने बच्चों को देखती रही। स्वप्न मे अन्तर्राष्ट्रीय गाना और ईसा मसीह का भजन एक रूप मे हो गए। वह स्वप्न से एकाएक फडफड़ाकर उठ पड़ी।

रसोईखाने में एक छोटा-सा डण्डा और उसका लाल कपडा अभी पड़ा हुआ था। अब माँ के सामने प्रश्न यह था कि क्या किया जाय। वह इधर-उधर भटकी। एक क्रान्तिकारी उससे मिलने आया। माँ फिर काम करने लगी। बोली—यदि हमारे बच्चे और हमारे जिगर के टुकडे अपना स्वार्थ बिना सोचे, बात-की-बात मे प्राण दे सकते है, तो हम माँ होकर क्या नही कर सकती ?

यह तब हुआ कि माँ निलोलाई नामक क्रान्तिकारी के घर पर रहेगी, जब तक मा वहाँ न जा पाये, तब तक के लिए कुछ पैसे दे दिये गए। चौथे दिन माँ अपने नये स्थान मे गई। निकोलाई अकेला रहता था। माँ ने जाते ही घर का चेहरा बदल दिया, पौधो मे पानी देने लगी इत्यादि। निकोलाई की विधवा बहन भाई के यहाँ रहने के लिए आई। पहले माँ डरी थी कि न मालूम यह स्त्री कैसी रहेगी, पर सोफिया तो बडी अच्छी निकली। माँ और सोफिया मे पावेल को भगवाने के सम्बन्ध मे बातचीत होने लगी। इस सम्बन्ध मे माँ के विचार स्पष्ट नही थे।

सोफिया और माँ के सम्बन्ध घनिष्ठ होने लगे। सोफिया अक्सर माँ को अपने क्रान्तिकारी कार्यो के सम्बन्ध मे सुनाया करती थी। सोफिया और माँ दोनो कुछ कार्य करने के लिए व्याकुल थी। दोनो छद्मवेश बनाकर मजदूरो का काम करने लगी। वे कुछ दिनो के लिए गाँव में भेजी गई। देहात के एक क्रान्तिकारी अड्डे मे दोनो पहुँची, तो उनका नीरव स्वागत हुआ। बात यह है कि खुलकर स्वागत तो हो नही सकता था। फिर यह सही मानो मे क्रान्ति-कारियो का अड्डा नही था और इसमे कई लोग ऐसे थे जो अभी कोई निश्चित विचार नहीं रखते थे। यह कोलतार के कारखाने मे काम करने वाले मजदूरो का अड्डा था। इन्ही मजदूरो को सही रास्ते पर लाना था। सोफिया और माँ चुपचाप अपना काम करने लगी।

माँ का मन पुत्र के सम्बन्ध मे चिन्ताग्रस्त था। इसमें तो सन्देह था ही नही, उसे साइबेरिया-निर्वासन या इसी प्रकार कोई कडी सजा मिलने वाली थी। पर माँ अब जब भी अपने पुत्र के सम्बन्ध मे सोचती, तो उसके साथ-साथ आण्ड्रेई और अन्य यूवको के विचार भी आ जाते थे। पावेल का चेहरा अब दूसरे इसी प्रकार के युवको के चेहरो के साथ एक हो गया था। मानो पावेल ही प्रसारित हो गया था। माँ की इन सब सन्तानो के सम्बन्ध में चिन्ता थी।

सोफ़िया की अजीब हालत थी, कभी दो-चार दिन के लिए गायब हो जाती

थी, फिर आती थी। माँ को सोफिया की गन्दगी से बहुत परेशानी थी, पर वह उसे साफ-सुथरी बनाने पर तुली हुई थी। इससे माँ का समय कट जाता था। माँ ने यह देखा कि निकोलाई बहुत-कुछ आण्ड्रेई से मिलता है, पर निकोलाई मे क्रान्ति की ज्वाला उतनी प्रखर नही थी।

माँ को सगीत से प्रेम हो गया था, और अब सुनते-सुनते उसके मन में उच्च सगीत के लिए प्रेम उत्पन्न हो गया था। वह किताबो को खोलकर अवसर के समय तस्वीरे भी देखा करती थी। पशुओ के सम्बन्ध मे पुस्तको में माँ को विशेष दिलचस्पी थी। एक दिन माँ ने निकोलाई से कहा बेटा यह जगत कितना बडा है। इस प्रकार माँ का जगत् बहुत बढता जा रहा था। देहात से जो लोग निकोलाई से मिलने आते थे माँ ने देखा कि वे उससे कुछ सहमकर मिलते है। एक दिन माँ ने निकोलाई की अनुपस्थिति में बाहर से आए हुए एक नौजवान से कहा—तुम डरते क्यो हो ? तुम मास्टर साहब के सामने सबक सुनाने थोड़े ही आते हो, फिर यह झिझक क्यो ?

उस नौजवान ने कहा—यह तो स्वाभाविक है, क्योकि वह हम लोगो मे से नही हैं।

शाशा भी कभी-कभी आती थी, पर वह निकोलाई से शुष्क ढग से काम की बाते करके चली जाती थी। वह पावेल के सम्बन्ध मे मा से जरूर पूछ जाती थी, और माँ कहती थी—ईश्वर को धन्यवाद है कि वह खुश है।

एक बार माँ ने शाशा से यह शिकायत की कि वे इतने दिनो से पावेल को बिना मुकदमा चलाये हिरासत मे रखे हुए है। इस पर शाशा के तेवर बदल गए, वह कुछ बोली नही, पर उसकी उँगलियाँ थर-थर काँपने लगीं।

एक दिन नाटाशा आई, और माँ से गले मिलती हुई बोली—मेरी माँ मर गई। अभी वह पचास साल की भी नही थी। पर यह भी मै बिना कहे नही रह सकती कि मेरी माँ के लिए मौत जिन्दगी से कही अच्छी रही। बडी सताई हुई थी। मेरे बाप ने माँ को इतना सताया कि हद है। मरना अच्छा रहा।

माँ बोली—यदि भविष्य मे भी कोई आशा न हो, तो सचमुच जीने मे कोई फायदा नही।

नाटाशा मजदूरो के बच्चो के एक स्कूल मे पढाती थी। माँ वेष बदलकर उसे समय-समय पर पर्चे आदि पहुँचा आती थी। इसमें माँ को बहुत आनन्द मिलता था। माँ ने ईसा के विषय मे जो कुछ सुना था, उससे उसकी यह धारणा थी कि ईसा बहुत मामूली कपडे पहनने वाले थे,पर गिर्जों मे उन्हे सोने

चाँदी से ढका हुआ दिखलाया जाता था । इस सम्बन्ध मे माँ को यह स्मरण हो आया कि राइबिन ने कहा था—इन्होने हमे ईश्वर के सम्बन्ध मे भी धोखा दिया है ।

अब अपने अनजान में माँ पहले से कम प्रार्थना करने लगी । माँ को ऐसा प्रतीत हुआ कि ये साधारण व्यक्ति ईसा के अधिक नजदीक है । जब भी वह पर्चे बाँटकर लौटती थी, तो वह बहुत खुश दिखाई पडती थी । माँ को ऐसा प्रतीत होता था कि ईसा से वह पहले से अधिक प्यार करती थी, पर ईसा अब दूसरे रूप मे दिखाई देते थे । सगीत आदि मे भी माँ की दिलचस्पी पहले से अधिक मालूम होती थी । निकोलाई अक्सर देखता था कि माँ पुस्तको को देख रही है ।

एक दिन निकोलाई रोज से अधिक देर मे काम से लौटा, और कुछ परेशान मालूम हुआ । पता लगा कि कोई फरार व्यक्ति है, और उसे आश्रय देने के सम्बन्ध मे निकलोई की यह परेशानी है । माँ बोली कि वह इस काम मे हाथ बटाएगी । वह सडक पर निकल पड़ी । भगा हुआ व्यक्ति भी आश्रय ढूँढता हुआ घूम रहा था, इतने मे माँ दिखाई पड़ गई, और उसे आश्रय मिल गया । अब प्रश्न यह हुआ कि इस भागे हुए व्यक्ति को कहाँ आश्रय दिया जाय । पावेल के सम्बन्ध मे पता लगा कि वह मजे मे है और जेल के अन्दर नेता बना हुआ है । माँ को इस पर बडी खुशी हुई, पर भीतर-ही-भीतर वह कुछ निराश भी हुई थी, क्योकि वह समझ रही थी कि शायद पावेल ही भागकर आया हो ।

माँ को इन दिनो येगोर नामक बीमार क्रान्तिकारी के सम्बन्ध मे बड़ी चिन्ता थी । अन्त तक उसे अस्पताल भेजना पडा । माँ भी उसी के साथ गई । येगोर अस्पताल में पहुँचकर बोला—माँ मै जल्दी ही मरने वाला हूँ । ठीक भी है, यदि काम नही कर पाता, तो जीने मे क्या मजे है ? इससे तो मर जाना ही अच्छा है ।

माँ ने उसे चुप रहने के लिए कहा । अन्त तक येगोर मर गया । लुडमिला नामक लड़की ने माँ से कहा—हम लोग साथ-ही-साथ निर्वासन मे थे । साथ-ही-साथ हमने जेल काटी । कई लोगो ने आत्मसमर्पण कर दिया, पर—कहकर वह रो पडी ।

माँ भी रोने वाली थी, पर उसने अपने को रोका । लुडमिला बोली—माँ वह कितना अच्छा था, भीतर से कष्ट उठाने पर भी वह हमेशा दूसरो के लिए हँसता रहता था । उसने मेरे साथ जो किया, उसका वर्णन सम्भव नही है ।

पर उसने इसके बदले मे कभी कुछ नहीं माँगा—कहकर वह अपने साथी की लाश की तरफ देखकर बोली—प्रिय साथी ! विदाई ! जैसा तुमने काम किया, वैसा ही मै आजीवन काम करूँगी ।

जो भी साथी आते गए, वे येगोर को श्रद्धाञ्जलि देते गए। शाशा नें कहा—वे मर चुके । इसका अर्थ क्या है ? क्या मरा ? क्या येगोर के लिए मेरी सम्मान-भावना या उनके विचारो की स्मृति मरी ? फिर क्या मरा ? उनके ओठ मूक हो गए, पर वाणी अमर है ।

माँ ने अन्त्येष्टि क्रिया की तैयारी मे पूरा भाग लिया। सबनें मिलकर क्रान्तिकारी ढङ्ग से येगोर का मृतक-संस्कार किया । बाहर के भी बहुत से लोग आये । खुफिया भी आये, और इसी हालत मे गाने भी हुए । क्रान्तिकारी मजदूरों के गाने । किसी ने खडे होकर कहना शुरू किया—साथियो...

इतने मे पुलिस-अफ़सर ने उसे रोका ।

उस व्यक्ति ने कहा—मै केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि हम अपने साथी की कब्र पर यह प्रतिज्ञा करे कि हम कभी उनकी शिक्षा को नही भूलेगे, और उस दमनकारी शक्ति की आजीवन कब्र खोदते रहेगे, जिसने हमारे देश को नष्ट किया है याने राजतन्त्र की कब्र खोदते रहेगे ।

अफ़सर ने कहा—इसे गिरफ़्तार कर लो ।

उधर से जनता से आवाज आई—राजतन्त्र मुर्दाबाद ।

पुलिस वाले दौड़ पडे, पर वह व्यक्ति बोला—स्वतन्त्रता की जय ।

माँ को किसी ने एक धक्का दिया, फिर तो चारो तरफ सीटी बजने लगी, उस व्यक्ति ने कहा—साथियो ! अपनी शक्ति का अपव्यय मत करो ।

इसका असर पड़ा, और भीड धीरे-धीरे छँट गई । एक बच्चे को इसमे चोट आई थी । न मालूम सोफ़िया ने कहाँ से आकर उस बच्चे का हाथ माँ के हाथ मे दे दिया और कहा इसे लेकर घर चली जाओ । माँ ने ऐसा ही किया। जब बच्चे को लेकर माँ घर पर पहुँची, तो वहाँ सोफिया घर पर पहुँच चुकी थी । वहाँ पर लडके के सिर पर अच्छी तरह बैंडेज आदि किया गया । जब यह सब किया जा रहा था, तो माँ के हाथ मे उस लड़के का सूखा खून आ गया । माँ ने दिल मे सोचा कि ऐसा तो पावेल के साथ भी हो सकता है । सोचते ही मा का हृदय धक् से हो गया । लडके को अस्पताल ले जाने की बात पर कोई फैसला नही हुआ ।

माँ के कपडो मे भी यत्र-तत्र खून के छीटे लगे हुए थे । जब माँ कपडे बदलने लगी, तो अपने कपडो को देखकर उसे ध्यान आया कि ये अजीब लोग

ह कि आदमी मर रहे हैं, खून-खराबी हो रही है, पर इन को कोई चिन्ता नही है। इस विचार से माँ को बडी शान्ति मिली।

यह तय हुआ कि सरकार द्वारा किये गए अत्याचारो का यथेष्ट प्रचार नही हो रहा है, इस कारण साहित्य-प्रकाशन के मोर्चे को तगडा किया जाय। पर इसके लिए कोई व्यक्ति नही मिलता था। माँ ने अपने को इस कार्य के लिये समर्पित किया। निकोलाई ने इस पर आपत्ति करते हुये कहा कि इस काम के लिये देहात मे रहना जरूरी है, और देहात में रहने से पावेल से मिलते रहना सम्भव न होगा। इस पर माँ बोली--पावेल इसे अनुभव नही करेगा, और जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, ऐसी मुलाकातो से हृदय फट जाता है। कुछ कहने-सुनने का मौका नही मिलना, और लोग अजीब तरीके से मुँह ताकते रहते है कि कही मै ऐसी कोई बात तो नही कह रही हूँ जिसे कहना मना है।

पर निकोलाई ने विषय बदल दिया। उस आहत लडके की बात होने लगी, फिर यह भी बात चल पडी कि पावेल और आण्ड्रेई को जेल से भगाना चाहिए। माँ वहाँ से उठकर चली गई, क्योकि उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसकी उपस्थिति मे लोग पावेल के सम्बन्ध मे उतनी स्वतन्त्रतापूर्वक बात-चीत नही कर सकते थे।

एक दिन माँ जल मे पावल से मिल रही थी कि मौका पाकर माँ ने कह दिया कि येगोर मर गया और उसको दफनाने के समय झगडे मे एक आदमी गिरफ्तार हो गया। जेलर ने फौरन टोका, तो इस पर माँ ने सरलता के साथ कहा कि मै राजनीति पर बात थोडे ही कर रही हूँ, मै तो झगडे के विषय में बात कर रही हूँ। जेलर बोला कि व्यक्तिगत विषयो के अलावा किसी विषय पर बात करना मना है। माँ ने पूछा कि मुकदमा कब हो रहा है, तो इसका उत्तर मिला कि जल्दी ही होगा। माँ ने मना किये जाने पर भी बहुत सी बातें कह दी।

छोटी-मोटी घटनाएँ और भी होती रही। राइबिन नामक किसानों में काम करने वाला क्रान्तिकारी गिरफ्तार किया गया, मौका पाकर जनता ने उसकी हथकडियाँ खोल दी। पुलिस-कप्तान आया, तो पुलिस वालो से मालूम हुआ कि जनता ने उसे मुक्त कर दिया—इस पर पुलिस-कप्तान ने पूछा—वह कौन-सी बला है? जनता कौन?

पुलिस-कप्तान ने चारो ओर देखा, और नाम ले-लेकर पूछा—क्यो चूमाकोफ़ तुम जनता हो? और कौन है? मिशिन तुम जनता हो?

यह कहकर उसने एक आदमी की दाढी पकड ली, और कहा—दोगले तुम लोग यहाँ से चलते-फिरते दिखाई पडो, नही तो मजे दिखाऊँगा।

जनता कुछ पीछे हट गई। कप्तान ने राइविन को हथकडी लगाने की आज्ञा दी, पर राइविन बोला—मै न तो भाग रहा हूँ, और न मै झगडा करूँगा, फिर इसकी क्या जरूरत है ?

इस पर कप्तान आगे बढा, तो राइविन बोला—जनता को तुम खूब सता चके। अब तुम्हारा घडा भर गया।

इस पर कप्तान ने कहा—कुतिया के बच्चे तुमने क्या कहा ?—कहकर उसने राइविन को एक घूँसा मारा।

राइविन बोला—घूँसे बाजी से सत्य की हत्या नही हो सकती, और तुम्हे मुझे मारने का कोई अधिकार नही है।

—मुझे अधिकार नही है ? मुझे ?—क कर उसने राइविन की तरफ एक घूसा ताना, पर वह बीच मे ही रोक लिया गया, और उल्टा पुलिस-कप्तान ही गिरते-गिरते बचा।

राइविन बोला—मुझे मारना मत, कह दिया।

इस पर पुलिस-कप्तान ने निकिटा नामक एक किसान से राइविन को मारने के लिए कहा। निकिटा आया और उस ने धीरे से एक धौल जमाई। इस पर भीड मे से किसी ने कहा निकिटा ईश्वर को न भूलो। कप्तान बोला—निकिटा मारो। पर निकिटा वहाँ से यह कहकर हट गया कि मैने बहुत मारा। तब कप्तान स्वय राइविन पर दौडा, और मारते मारते उसे गिरा दिया। जनता नाराज होकर आगे बढी इस पर कप्तान बोला—अच्छा यह विद्रोह है ?—कहने को तो उसने ऐसा कहा, और उसने तलवार भी निकाल ली, पर उस का चेहरा फक हो गया। वह धीरे-धीरे भीड से हट गया।

पुलिस वाले राइविन को हथकडी डालने लगे, पर जनता ने राइविन को उठाते हुए कहा—ठहरो। थोडी देर मे राइविन को होश आया, और वह बोला—मै दुनिया मे अकेला हूँ। सब सत्य कभी गिरफ्तार नही किये जा सकते। सब अण्डे भी नष्ट हो जायँ, तो सत्य पंख पसार कर उडेगा।

कप्तान लौट आया, बोला—मै तुम्हे मार सकता हूँ, पर तुम मुझे मार नही सकते।

राइविन ने चिल्लाकर कहा—तुम अपने को समझते क्या हो ? क्या तुम ईश्वर हो ?

पुलिस वाले राइबिन को उठाकर ले गए, और भीड़ धीरे-धीरे तितर-बितर

हो गई। माँ ने देखा कि लोगो की दृष्टि बदली हुई है। कोई माँ को नही जानता था, फिर भी माँ के पास लोग आये। राइबिन ने जेल जाते समय भी जनता से कहा—क्यो भूखे मर रहे हो ? स्वतन्त्रता मिल जाने पर तुम्हे रोटी भी मिलेगी, और न्याय भी मिलेगा।

माँ ने यह भी देख लिया कि राइबिन ने उसे पहचान लिया। माँ बहुत उत्तेजित थी, पर वह इतना समझ चुकी थी कि उत्तेजना प्रदर्शित करने से कुछ न होगा। नीरव सेवा तो वह कर ही रही थी। माँ ने यह देखा कि किसानो में राइबिन की गिरफ्तारी का अच्छा असर पडा है। वह काम करके लौट गई, पर बार-बार राइबिन का रक्त से सना उज्ज्वल आँखो वाला चेहरा याद पड रहा था।

इस बीच मे निकोलाई के घर मे तलाशी हुई थी, और निकोलाई सरकारी नौकर होने के कारण यह आशङ्का की जा रही थी कि उसकी नौकरी जायगी, पर वह इस पर खुश था। साथ-ही-साथ यह भी ज्ञात हो रहा था कि सरकार चौकन्नी हो चुकी है, क्योकि अब चारो तरफ तलाशियो का ताँता बँधा हुआ था। जनता मे कब्रिस्तान की लडाई के बाद से अच्छी जागृति उत्पन्न हुई थी। एक क्रान्तिकारी ने इस अवसर पर कहा कि बुरी शान्ति से अच्छी लडाई हमेशा श्रेष्ठ रहती है।

पर सरकार चुप बैठने वाली नही थी, और बराबर गिरफ्तारियाँ होती जा रही थी। माँ को यह आश्चर्य होता था कि दुधमुँहे बच्चो को सरकार क्यो गिरफ्तार कर रही है ? आखिर यह दुधमुँहे बच्चे कितने खतरनाक हो सकते है ? एक दिन माँ जेल मे पावेल से मिलने गई, तो पावेल ने जेल वालो की आँख बचाकर माँ के हाथ में एक पुडिया दे दी। इस पत्र मे पावेल ने जेल से भागने से इन्कार किया था, और कहा था कि इससे हम अपनी आँखो में गिर जायँगे। पर उसने यह लिखा था कि अभी जो किसान आया है, उसे हर प्रकार की मदद दी जाय। माँ को इस बात से खुशी नही हुई, पर साथ ही अपने लडके के साहस पर कुछ गौरव का अनुभव भी हुआ। लोगो ने यह कहा कि जब पावेल की ऐसी ही इच्छा है, तो मुकदमा हो जाय, और पावेल साइ-बेरिया से भाग सकता है। माँ की यह इच्छा थी कि पावेल और शाशा का मिलन हो जाय, पर वह पूरी होती नही दीखती थी।

यह तय हुआ कि राइबिन को भगाया जाय। शाशा इसमें भाग ले रही थी। माँ ने भी इसमे हाथ बटाना चाहा। माँ ने इस काम को जितना भयङ्कर समझा था, व्यवहार में वह उतना भयङ्कर प्रमाणित नही हुआ। माँ ने जब

देख लिया कि राइविन निकल गया, तो स्वाभाविक ढङ्ग से उसके मन में यह अफसोस हुआ कि पावेल क्यो न भागा ? माँ ने अड्डे पर लौटकर सुना कि सारा काम ढङ्ग से हो गया, पर माँ के मन मे यह शङ्का हो रही थी कि कही राइविन के भागने के कारण पावेल और आण्ड्रेई पर कोई विपत्ति न आये। माँ को यह डर हो रहा था कि कही अधिकारियो ने कुछ पूछा, और तुनुक मिजाज तो ये है ही, इन्होने नाराजी से जवाब दिया, तो न मालूम क्या बीत जाय। माँ ने दबी आवाज मे निकोलाई के निकट यह शङ्का प्रकट की, पर माँ ने देखो कि निकोलाई समझा नही।

जब मुकदमे का दिन आया, तो माँ वहाँ पर गई। माँ की ही तरह कई अन्य अभियुक्तो के प्रियजन भी आये थे। एक स्त्री माँ से बोली—तुम्हारे ही बेटे ने मेरी ग्रीशा का सर्वनाश किया।

पहले तो जज साहब आए फिर अभियुक्त बुलाये गए। माँ की बगल मे बैठे हुए एक व्यक्ति ने कहा—देखा माँ ? ये लोग कतई डरे हुए नही है।

जज और अभियुक्तो मे कुछ प्रश्नोत्तर-सा हुआ। माँ को कुछ सुनाई नही पडा। पर एक समय पावेल की दृढ आवाज सुनाई पडी—यहाँ न तो कोई अपराधी है, और न कोई जज। माँ केवल विजेता और विजित है।

आण्ड्रेई ने कहा—न मैने चोरी की है, और न किसी की हत्या की है। मै तो केवल ऐसी पद्धति के विरुद्ध हूँ, जिसमे लोग चोरी और हत्या करने पर मजबूर होते है।

अभियुक्त सीजाव ने कहा—मै इस मुकदमे को गैर-कानूनी समझता हूँ। तुम कौन हो ? क्या जनता ने तुमको हम पर मुकदमा चलाने का अधिकार दिया है ? नही, इस कारण मै तुम्हारी हकूमत मानने से इन्कार करता हूँ।

सरकारी वकील का वक्तव्य पेश हुआ, जिसमें पावेल को प्रधान अभियुक्त करार दिया गया। फिर गवाहो की गवाहियाँ होने लगी। जब गवाहियाँ हो चुकी, तो अभियुक्त भीतर ले जाये गए। अभियुक्तो के रिश्तेदार बाहर गये। उसी स्त्री ने जिसने कचहरी आरम्भ होते समय माँ को उलाहना दिया था, अब कहा—मैने तुम्हें दोष दिया था, पर शैतान ही जानता है कि इनमे से कौन अधिक दोषी है। देखा मेरी ग्रीशा को ?—यह स्पष्ट था कि हवा बदल चुकी थी।

सभी रिश्तेदार जो मुर्झाये हुए आये थे, अब अपने को गौरवान्वित समझ रहे थे। फिर कचहरी बैठी। सरकारी वकील ने अपना वक्तव्य फिर पेश किया। नाम के लिए एक सफाई का वकील भी खड़ा हो गया। पावेल ने फिर

से वक्तव्य दिया, और कहा—मैं इस अदालत को नहीं मानता। फिर भी अपने साथियो की इच्छा के अनुसार मैं कुछ स्पष्टीकरण करना चाहता हूँ हम लोगो के विरुद्ध यह कहा गया है कि हम लोग जारशाही के विरुद्ध विद्रोही है, पर मैं यह स्पष्ट कह दूँ कि जारशाही हमारे मार्ग का केवल एक रोड़ा है। इसे हटाने के बाद तभी हम अन्य रोडे हटा सकते है।

पावेल की आवाज से अदालत गूँज उठी। पावेल कहता जा रहा था—हम समाजवादी है। हम वैयक्तिक सम्पत्ति के विरुद्ध है। हम हर तरह की मानसिक गुलामी के विरुद्ध है। । सबको काम करना पडेगा। उत्पादन के साधन जनता के हाथ मे होने चाहिएँ। हम क्रान्तिकारी है, और तब तक रहेगे, जब तक हमारा कार्य पूरा न हो जाय। समाजवाद आकर रहेगा।—बार-बार बाधा पाकर भी पावेल ने अपने वक्तव्य को पूरा किया, और बैठ गया। उसके साथियो ने हाथ मिलाकर उसे अभिनन्दित किया।

आण्ड्रेई ने भी इसी ढङ्ग पर वक्तव्य दिया। अन्य अभियुक्तो ने भी अपनी-अपनी बातें कही। जज भीतर चले गए। रिश्तेदारो को यह मौका दिया गया कि वे अभियुक्तो से मिले। माँ पावेल से मिली, और दूसरे भी मिले। थोड़ी देर में जज लौट आए, तो सबको निर्वासन-दण्ड दिया गया माँ रोना चाहती थी। पर लज्जा के मारे रो न सकी। माँ अदालत से निकली, तो रात हो चुकी थी। माँ के सम्बन्ध मे किसी ने कहा कि यही पावेल की माँ है, बस वहाँ एकत्र जनता माँ को अभिनन्दित करने लगी। जनता मे से कोई बोल रहा था—साथियो! रूसी जनता को चर्वण करने वाले राक्षस ने फिर आज अपने जबड़े बन्द किये है, और हमारे बहादुर भाई उसमें समा गए।

क्रान्तिकारियो की ओर से पावेल का वक्तव्य तैयार हुआ और उसे बाँटने के काम में माँ ने भी हाथ बटाया। माँ ने जनता मे स्वय जाकर पर्चे बाँटे। इन पर्चों मे पावेल का वक्तव्य था। एक खुफिया ने देख लिया और माँ घेर ली गई। वह बोली—मै पावेल का वक्तव्य बाँट रही हूँ। यह एक ईमानदार मज़दूर का वक्तव्य है। माँ इस तरह बात कर रही थी कि खुफिया ने माँ को मारा। माँ का मुँह रक्त के नमकीन स्वाद से भर गया। जनता बीच में पड़ी, तो माँ पर और मार पडी। मारते-मारते माँ को एक दरवाज़े के अन्दर ढकेल दिया। माँ बोली—रक्त के महासागर मे भी सत्य को बोरा नही जा सकता।

इस पर माँ पर और मार पडी, तो वह बोली—मूर्ख लोग इससे हमारे मन में घृणा ही बढेगी और हम सब का दाम तुम्हे बाद को चुकाना पड़ेगा।

एक पुलिस वाले ने माँ का गला पकड लिया, और उसे घोटने लगा। माँ ने रुँधे हुए कण्ठ से कहा—अभागे कही के।

किसी ने इसका उत्तर फफक-फफक कर दिया।

× × ×

यही सक्षेप मे गोर्की की माँ नामक उपन्यास है। हमने कुछ विस्तार के साथ इसका सकलन इस कारण किया कि यह उपन्यास न केवल प्रगतिवादी साहित्य की दृष्टि से बल्कि ऐतिहासिक दृष्टि से भी एक बहुत महत्वपूर्ण रचना है। गोर्की द्वारा प्रतिपादित क्रान्तिकारी रोमासवाद के पुट से युक्त यथार्थवाद का यह एक अच्छा नमूना है। बाद को गोर्की ने समाजवादी नाम से अपनी कला का प्रचार किया। वे सोवियट लेखको के लिए आदर्श स्वरूप हो गए। जैसा कि ग्लेव स्ट्रूवे ने लिखा है कि गोर्की के ढङ्ग पर लिखना ही साहित्यिक उत्तमता का मानदण्ड हो गया।

समाजवादी यथार्थवाद के सम्बन्ध मे भी लगे हाथो दो-चार शब्द कह दिये जायें। पहले-पहल यह शब्द १६३४ के अगस्त मे होने वाली पैन सोवियट साहित्यिक कांग्रेस के अवसर पर सुनाई पडा। कहा जाता है कि स्टालिन ने ही इस शब्द की रचना की और ऐसा करते हुए उन्होने सोवियट लेखको को मानवीय आत्माओ के इजीनियर बताया। समाजवादी यथार्थवाद का अर्थ किसी एक विशेष शैली से नही, बल्कि हम बहुत-सी शैलियाँ हो सकती है। १६२४–२५ से सोवियट लेखको ने जिस प्रकार से लिखा और जिन शैलियो म लिखा, वे सब समाजवादी यथार्थवाद के अन्तर्गत माने जाते है। यह बताया गया है कि इस में साहित्य के स्वरूप तथा रूप के बजाय उस की अन्तर्गत वस्तु पर अधिक जोर किया जाता है, पर बात ऐसी नही है। यह आलोचना केवल इस बात को सूचित करती है कि जहाँ तक स्वरूप और रूप का सम्बन्ध है सोवियट लेखको को अभी सभी क्षेत्रो में वह उच्चता प्राप्त नही हुई है, जो बहुत से पूँजीवादी लेखको को प्राप्त हुई है। हम यहाँ पर और व्यौरे मे नही जा सकते।

इस सम्बन्ध मे यह बात भी बता देने योग्य है कि गोर्की ने शैली की सरलता पर जोर दिया। गोर्की ने अपने कई लेखो में इस बात की निन्दा की कि नवीन शैली की सनक से सोवियट नवीन लेखक कई बार गुमराह हो गए। गोर्की ने १६३३ मे भाषा की शुद्धता के सम्बन्ध मे भी एक आन्दोलन चलाया था।

'माँ' के अतिरिक्त गोर्की ने बहुत-सी पुस्तके लिखी। क्रान्ति के बाद भी

वे बराबर लिखते रहे । इन रचनाओ मे 'ओटामोनोफ' 'क्लिम सैमगिन की जीवनी' बहुत महत्त्वपूर्ण है । सभी इस बात को मानते है कि इन रचनाओ मे चरित्र-चित्रण बहुत सुन्दर हुआ है । 'क्लिम सैमगिन की जीवनी' मे रूस के चालीस साल का इतिहास आ गया है । विशेषकर क्रान्तिकारियो की कार्यावली दिखाई गई है । गोर्की की कहानियाँ तथा नाटक भी बहुत सुन्दर माने जाते है ।

इसमे सन्देह नही कि गोर्की का साहित्य बहुत उच्चकोटि का है और सबसे बडी बात यह है कि उन्होने साहित्य के जरिए जीर्ण पुरातन का तिरस्कार किया, तब निर्माण मे हाथ बँटाया, आत्म-समालोचना की' सक्षेप मे उन सब बातो को किया, जिनके कारण उन्हे मानवीय आत्माओ के इजीनियरो मे बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ । उनका साहित्य रूस मे समाजवादी निर्माण मे एक बहुत बडा सहायक उत्पादक सिद्ध हुआ । दुख है कि हम उनके साहित्य का इस से अधिक ब्यौरा इस प्रसङ्ग मे नही दे सकते ।

भारतीय लेखको का चाहिए कि वे गोर्की-साहित्य का अच्छी तरह अध्ययन करें, वे केवल 'माँ' पढकर न रह जायें । गोर्की की बहुत-सी कहानियाँ बडी महत्त्वपूर्ण है । सुज्ञ पाठक को यह देखकर आश्चर्य होगा कि गोर्की के सभी साहित्य को प्रचारकार्यमूलक नही कहा जा सकता । अवश्य सर्वत्र क्रान्ति और प्रगति के साथ उनका पक्षपात स्पष्ट है, (क्या इसे पक्षपात कहेगे ?) पर यह पक्षपात बहुत से क्षेत्रो मे परोक्ष है, बिलकुल सामने दिखाई नही पडता ।

# ३७
# आक्षेपों का उत्तर

अपने एक गीत-सग्रह की भूमिका लिखते हुए हिन्दी के स्वनाम-धन्य कवि श्री बालकृष्ण जी शर्मा 'नवीन' ने कई महत्त्वपूर्ण मौलिक प्रश्न उठाये है, जो प्रत्येक प्रगतिवादी के लिए एक चुनौती के रूप मे है। साधारण पाठक के लिए भी ये प्रश्न महत्त्वपूर्ण इस कारण हो जाते है कि आज हिन्दी मे ही क्यो सारे विश्व-साहित्य के क्षेत्र मे विचारो की जो उथल-पुथल बल्कि गडबडी मची हुई है, इन प्रश्नो से उसके परिष्करण मे सहायता मिलती है। यहाँ यह बता दिया जाय कि जिस गीत-सग्रह की अनुक्रमणिका के रूप मे नवीन जी ने यह सुबृहत् भूमिका लिखी है, वह उस लेख का आलोच्य नही है। जहाँ तक मेरी क्षुद्र बुद्धि जाती है, यह भूमिका उस गीत-सग्रह से अङ्गी रूप से सम्बद्ध भी नहीं है, याने इन दोनो का सम्बन्ध अधिक-से-अधिक दूर का है। मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि नवीन जी को कुछ कहना था, उन्होने उसे भूमिका के व्यप-देश से कह दिया।

यह बहुत ही अच्छा हुआ, क्योकि आज जहाँ प्रगतिवाद की तूती हिन्दी मे कुछ-कुछ बोल रही है, और दिन-ब-दिन उसके वक्तव्य हिन्दी-ससार के सामने प्रबलता के साथ आते जा रहे है, वहाँ उसके विरुद्ध मतवाद, बल्कि मतवादो की आवाज बहुत धीमी पड गई है, और सच तो यह है कि हिन्दी में उनका कोई पद्धतिगत रूप से नाम-लेवा पानी-देवा दिखाई नही देता है। जो लोग प्रगतिवाद से विरोध रखते हुए या मतभेद रखते हुए ज्ञात होते है, वे दिनकरजी की तरह eclectic उञ्छवृत्तिवादी है। वे कुछ हद तक प्रगति-वादियो के साथ है, तो कुछ हद तक अन्य मतो के मन्दिरो में भी यदा-कदा माथा टेक लेते है। ऐसे लोगो के वक्तव्यों से परिस्थिति का स्पष्टीकरण न होकर उससे विचार-धारा और भी उलझ जाती है।

इस परिस्थिति को देखते हुए नवीनजी की यह भूमिका जिसमें बिना किसी रू-रियायत के प्रगतिवाद का तिरस्कार किया गया है, बहुत सम्भव है, हिन्दी-ससार मे एक ऐतिहासिक वक्तव्य सिद्ध हो। जहाँ सारे ससार में अब जान मे या अनजान मे प्रगतिवाद की अन्तिम विजय होने ही वाली है, वहाँ क्या पता यह बुझने के पहले भाववाद की अन्तिम लौ और अन्तिम साँस सिद्ध

हो। प्रगतिवाद पर नवीन जी का यह आक्रमण इच्छाकृत है, इसमें कोई घुमाव-फिराव नही है, शत्रु के प्रति उनके हृदय मे कोई कोमल कोना नही है, यह प्रगतिवाद का निरवच्छिन्न विरोध है। वे खुलकर प्रगतिवाद के विरोध की कतार में खड़े है, और उनकी तलवार म्यान से बाहर है और लपलपा रही है। सबसे अच्छी बात यह है कि वे प्रगतिवाद पर आक्रमण करते हुए ऊपर-ऊपर सतही समालोचना करके निवृत्त नही होते, वे उसकी जड तक जाकर उस पर वार करते है, क्योकि उनका उद्देश्य उसे निर्वंश और निर्मूल करके तब दम लेना है।

वे स्पष्ट शब्दो में मार्क्स और एंगल्स-प्रतिपादित भौतिकवाद पर पहुँचते है, और उसकी आलोचना करने के बाद यह कहते है—

"इस दर्शन-सिद्धान्त पर जो भी साहित्य, कला, सौन्दर्य-शास्त्र आधारित होगा, वह पूर्ण रूप से ग्राह्य नही हो सकता। इस प्रकार का शास्त्र, उस अंश तक, जिस तक वह अपने को पदार्थवादी दर्शन का अनुगामी बना लेता है, मानव प्रगति को रोकने वाला अत मानवोन्नति-बाधक, गति-अवरोधक, अचल तथा प्रतिक्रियावादी सिद्ध होगा।"

कहना न होगा कि इस आक्रमण से कही किसी प्रकार की रियायत नही है। वह बहुत ही स्पष्ट और नि संदिग्ध है। यह एक चुनौती है, जिसे किसी भी प्रकार टालना सम्भव नही है।

साहित्य में प्रगतिवादी मत के कई प्रतिपादक शायद टैक्टिक्स के कारण इस बात को जहाँ तक हो सके सामने लाने से हिचकते है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के साथ प्रगतिवाद का अच्छेद्य सम्बन्ध है, पर नवीनजी ने उसे सामने लाकर रखा है, और फायरबाख, मार्क्स और ऐंगल्स से अपनी आलोचना का सूत्रपात किया है।

वे स्वाभाविक रूप से सभी दर्शन-शास्त्र के प्रथम प्रश्न ऐपिस्टेमोलोजी, ज्ञान-शास्त्र या विचार तथा अस्तित्व, वीग एंड बिकमिंग के प्रश्न से आरम्भ करते है। सारे दर्शन-शास्त्र का प्रधान आधारगत प्रश्न, विशेषकर आधुनिक दर्शन-शास्त्र का प्रधान प्रश्न, विचार और अस्तित्व मे क्या सम्बन्ध है, इसी पर एक पक्ष में मत देने से आरम्भ होता है। भौतिकवादियो का दोष यह है कि वे जगत् को विचार से उत्पन्न नही, बल्कि जगत् से ही विचारो को उत्पन्न मानते है। वे ज्ञान को सम्भव मानते है, पर वे साथ-ही-साथ यह मानते है कि इन्द्रिय-ग्राह्य ज्ञान ही ज्ञान का एक-मात्र रूप है। इसका अर्थ किसी भी रूप में यह नही है कि हमारे वर्तमान जगत्-व्यापार मे विचारो का कोई महत्त्व नही है, इसका वक्तव्य केवल इतना ही है कि विचारो की भी जड़े होती हैं,

अक्सर ऐसा भी हो सकता है कि एक विचार की जड दूसरे विचार में हो, पर अन्ततोगत्वा उस विचार की जड किसी-न-किसी भौतिक या सामाजिक आर्थिक परिस्थिति मे होती है। जो विचार सामाजिक शक्ति के रूप मे अपने समय मे प्रबल होते हैं, उनके सम्बन्ध मे तो यह निश्चित रूप से दिखलाया जा सकता है कि उस समय के उस समाज मे उस विचार के लिए गुन्जाइश थी, इस कारण वह विचार छा सका, और उस विचार के प्रबल प्रतिपादक के रूप मे जो व्यक्ति सामने आता है, वह महान् नेता अथवा कुनेता हो जाता है। सक्षेप मे भौतिकवाद का यही सार है।

यहाँ साहित्य के एक साधारण छात्र के मन मे यह प्रश्न उठ सकता है कि भौतिकवाद के इस घटत्व-पटत्व से साहित्य का क्या सम्बन्ध है ? जो नवीनजी के लेख को बिना पढे ही इस लेख को पढेगे, उनके मन मे इस प्रश्न का उठना बिलकुल स्वाभाविक है। इसका उत्तर बिना दिये आगे बढना उचित नही होगा, इसलिए यह बता दिया जाय कि उठाये हुए गूढ दार्शनिक तर्कों से साहित्य का क्या सम्बन्ध है।

साहित्य और कला विचार-धारा के अन्तर्गत है। इसलिए जो बात विचार-धारा के लिए सही होगी, वही बात साहित्य के लिए भी सही है। जैसा कि बताया गया विचार-धारा को अन्ततोगत्वा सामाजिक आर्थिक परिस्थितियो के साथ सम्बद्ध करना सम्भव है, यही बात साहित्य, कला तथा सगीत आदि पर भी लागू होती है।

प्रगतिवाद के मूल साध्य ये ही है। अब नवीनजी ने इसकी जड पर कुठाराघात करते हुए भौतिकवादी ज्ञान-शास्त्र पर ही आक्रमण किया है, याने उन्होने इस मत को स्वीकार नही किया कि इन्द्रिय-ग्राह्य ज्ञान ही ज्ञान का एक-मात्र रूप है। यहाँ यह बता दिया जाय कि इन्द्रिय-समर्थित तथा इन्द्रिय-समर्थनीय ज्ञान को ही ज्ञान मानने मे ज्ञान को केवल हमारी ज्ञानेन्द्रियो पर प्रत्यक्ष रूप से आश्रित नही रखा गया है। एक व्यक्ति, जिसे ज्वर आ गया है, वह दूसरे व्यक्ति के शरीर के उत्ताप का पता नही लगा सकता। पर इससे हमारा साध्य गलत नही पड जाता। प्रकृति मे शैत्य और उष्णता के सम्बन्ध मे केवल एक ही नियम लागू हो, ऐसी बात तो नही है। इन्ही नियमो की गडबड़ी से बचकर उत्ताप-ज्ञान के लिए मनुष्य ने तापमान-यत्र तथा अन्य अनेक यत्र निकाले है। पर दूरवीक्षण यत्र हो या अणुवीक्षण यत्र हो, चाहे वे यंत्र ऐसे हो कि परिणाम को स्वय रेकार्ड करने मे समर्थ हो, फिर भी वे किसी-न-किसी रूप मे हमारी ज्ञानेन्द्रियो के प्रसारित, स्थिरीकृत तथा जहाँ तक हो सके

सही रूप है ।

इस दृष्टि से देखने पर सारा विज्ञान इन्द्रिय ग्राह्य-ज्ञान-राशि है । विज्ञान में गणित का भी स्थान है, जिसे हम निरीक्षणो पर आधारित विचारो को एक नियमबद्ध रूप से आगे बढाना, और फिर आगे बढाना कह सकते है । कई बार गणित से भी हम निरीक्षण से अनुपलब्ध ज्ञान मे पहुँच जाते है । कई ग्रहो का आविष्कार इस प्रकार से हुआ कि आस-पास के ग्रहो के मध्याकर्षण के हिसाब में और निरीक्षण मे कुछ असामजस्य पाकर यह अनुमान किया गया कि अमुक स्थान पर कोई ग्रह अवश्य होगा । इसके अनुसार उस क्षेत्र का विशेष रूप से निरीक्षण हुआ, और सचमुच वे ग्रह मिल गए ।

इस प्रकार से विचार से विचार, फिर उससे विचार, और आगे फिर विचार के सिलसिले को हम अनिवार्य रूप से वैज्ञानिक नही कहते, पर आगे चलकर किसी-न-किसी सोपान मे निरीक्षण से उसका समर्थन होना चाहिए । निरीक्षण तथा निरीक्षण-जन्य समर्थन से बिलकुल स्वछन्द होकर गणित प्रतीक-वाद में बहक जाय, तो उसे हम विज्ञान नही कह सकते, इसलिए ज्ञान नही कह सकते ।

नवीनजी भौतिकवादी ज्ञान-शास्त्र के इस आधार पर बड़े जोर से आक्रमण करते है, और वे भौतिकवादी के सामने कई ऐसे प्रश्न उपस्थित करते है, जो चुनौती के रूप मे है । वे कहते है—

"बर्बर समाज की स्वप्नोदित छायाओ को आत्मा-विषयक विचार की जननी मानने-मनवाने का उपहासास्पद प्रयत्न करनेवाले जन क्या स्पष्टीकरण करते है उन विज्ञानोपरि घटनाओ का, जो चन्द्रशेखर वेंकटरमण-जैसे वैज्ञानिको को भी आश्चर्य मे डाल देती है ? पोटशियम साइनाइड विष के लघुमात्र से क्षण-भर में मृत्यु हो जाती है । कलकत्ता साइन्स इन्स्टीट्यूट मे डा० रमण के सम्मुख एक हठयोगी ने इतना साइनाइड विष खा लिया जिससे सैकडो मनुष्य मर सकते थे । और वह खडा व्याख्यान देता रहा । जब रमण महोदय से पूछा गया कि यह क्या बात है ? तो वे बोले—It is a challenge to science. यह विज्ञान को एक चुनौती है ।

प्रगतिवादी भौतिक दर्शन-शास्त्री अथवा उनके अनुयायी यह पढकर हँसेंगे । पर, अनुचित आग्रहपूर्ण हँसी मे वास्तविक घटना निमज्जित नही होगी । भौतिक प्रतिक्रिया को मानव-शरीर पर हलाहल विष की प्राण-घातक प्रतिक्रिया को—जो शक्ति अतिक्रमित कर दे, वह क्या है ? आधिभौतिक ? या अभौतिक, अतः आध्यात्मिक ? इतना ही क्यों ? हम अपने समाज में आये

दिन पूर्वजन्म के आश्चर्यजनक उदाहरण देखते-सुनते रहते है। क्या यह इन सब छोटे-छोटे बालको के मन पर अजान रूप से पुनर्जन्म विषयक-विचारो को थोपने का परिणाम मात्र ही है ? ऐसा कहना साहस का काम होगा—विशेष-कर उस अवस्था मे जब कि उन बालक-बालिकाओ द्वारा दूर के ग्राम-नगर का भूगोल बता दिया जाता है, वहाँ के एक विशिष्ट घर और कुटुम्ब का हाल बता दिया जाता है। और उस घर तथा कुटुम्ब के जनो के नाम भी बता दिये जाते है। इस देश मे ऐसी एक नही सहस्रो घटनाएँ घटती रहती है। इनको कपोल कल्पना कहकर टालना अवैज्ञानिक अथच प्रतिक्रियावादी, मनोवृत्ति का परिचय देता है।"

नवीनजी ने जिन घटनाओ की व्याख्या करने की चुनौती प्रगतिवादियो को दी है, वे प्रगतिवादियो के लिए चुनौती तो है ही, पर इससे पहले वे विज्ञान के लिए भी चुनौती है जैसा कि श्री रमण ने कहा है। इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखने योग्य है कि विज्ञान प्रति पग पर इस प्रकार की चुनौतियो का सामना करने का अभ्यस्त है, और सच कहा जाय, तो ऐसा चुनौतियो का सामना करते हुए वह बराबर आगे बढा है। विज्ञान मे बराबर ऐसा होता रहा है कि बहुत निरीक्षणो के बाद एक साधारण नियम स्थापित हुआ, पर थोडी दूर चलकर एक या एकाधिक अपवाद निकल आये, जो उसके लिए चुनौती के रूप में थे। बाद को चलकर इन अपवादो को अपने मे समाकर एक बृहत्तर साधारण नियम बना।

इसी प्रकार से विज्ञान की उन्नति होती रही है। नवीनजी ने पोटेशियम साइनाइड खाने का जो उदाहरण दिया है, तथा पुनर्जन्म के सम्बन्ध मे जिस प्रकार के उदाहरणो का उल्लेख किया है, उन्हे यह कहकर टालना अनुचित होगा कि वे घटनाएँ घटित ही नही हुई। अवश्य साथ-ही-साथ ऐसा मान लेने की भी आवश्यकता नही है कि जिन घटनाओं का नवीनजी ने विज्ञान को चुनौती के रूप मे उल्लेख किया है, उनके सम्बन्ध मे पूर्ण रूप से वैज्ञानिक वातावरण मे जाँच हो चुकी है। अध्यात्मवादियो ने अत्यन्त आदिम युग से बहुत सी जालसाजियाँ तथा धोखे किये है। ग्रीस के ओराक्लस से लेकर आधु-निक काल के स्पिरिचुअलिस्टो तक उन्होने कितने धोखे किये,यह हमे ज्ञात है। सेयास के नाम पर प्रेतात्मा से बातचीत करने की परिपाटी के सम्बन्ध मे सभी को ज्ञात होगा। इन अवसरो पर कैसे धोखा दिया जाता है, यह बीस-बीस साल के पुराने मीडियमो ने बाद मे स्वीकार किया है।

मै यह नही कहता कि रमण साहब के सामने जो व्यक्ति ढेर सा पोटे-

शियम साइनाइड खाकर व्याख्यान देता रहा, उसने हाथ की सफाई से पोटे-शियम साइनाइड के बजाय कुछ और खा लिया होगा, पर इतना मै अवश्य कहूँगा कि इस मामले में जितनी सावधानी होनी चाहिए थी, शायद उतनी सावधानी बरती नही गई। यदि सावधानी बरती जाय और फिर भी एक व्यक्ति ढेर सा पोटेशियम साइनाइड खाकर व्याख्यान देता रहे, तो वह अवश्य ही विज्ञान के लिए एक चुनौती है। पर यह कैसे मान लिया जाय कि उस व्यक्ति की यह शक्ति अभौतिक अतः आध्यात्मिक है ? हम सबने उस चीनी की कहानी सुनी है, जिसको विषैले साँप काटने पर साँप ही मर गए, वह नही मरा। हम लोग विष-कन्या से भी परिचित है, जिन्हे बचपन से क्रम वृद्धिशील मात्रा में विष खिला-खिलाकर इस प्रकार बना दिया जाता था कि वे बहुत अधिक मात्रा में विष झेल सकती थी, केवल यही नही उनके सम्पर्क में आने वाले पुरुष मर जाते थे। क्या इसके लिए कोई प्रमाण है कि जिस व्यक्ति ने ढेर सा पोटेशियम साइनाइड खाया था, उसने किसी उपाय से उस विष के सम्बन्ध में अपने को इम्यून या सुरक्षित नही कर लिया था ?

मेरा कहने का मतलब यह है कि चाहे जो कुछ भी हो उस व्यक्ति के पोटेशियम साइनाइड खाकर व्याख्यान देते रहने के पीछे कोई-न-कोई भौतिक कारण रहा होगा, इसमें आध्यात्मिकता कहाँ से घुस आती है, यह मेरी समझ में नही आता।

धर्म और अध्यात्मवाद ने बाकी स्थानो से विताडित होकर बराबर ऐसे अन्धकार कोनों में आश्रय लिया है, जहाँ विज्ञान की सर्चलाइट अभी पहुँच नही पाई। यदि उस व्यक्ति ने किसी प्रकार की हाथ की सफाई, कौशल या अज्ञात प्रतिशोधक का सहारा लेकर पोटेशियम साइनाइड खाया, या उसने विष-कन्या या उस चीनी की तरह क्रमवृद्धिशील मात्रा में विष-सेवन के द्वारा अपने को उस भयानक विष से सुरक्षित कर लिया, तो मेरा निवेदन यह है कि ये सब कारण भौतिक ही है। मै यह पूछना चाहूँगा कि जो लोग यह दावा करने के लिये उद्यत है कि उस व्यक्ति में कुछ आध्यात्मिक शक्ति है, क्या वे यह कहेगे कि उस व्यक्ति में बुद्ध से अधिक आध्यात्मिक शक्ति थी, जो बासी शूकर-मास खाकर मर गए या उसमें कृष्ण से अधिक आध्यात्मिक शक्ति है, जो एक साधारण तौर से मर गए ? मैने केवल दो स्वीकृत अध्यात्म गुण-सम्पन्न व्यक्तियो के नाम गिनाए। ऐसे सैकडो व्यक्तियो के नाम गिनाए जा सकते है जो पोटेशियम साइनाइड के मुकाबले में बहुत मामूली विष-क्रियाओ से मर गए।

मेरा नवीनजी-ऐसे अध्यात्मवादियो से निवेदन है कि वे ऐसी घटनाओ पर अध्यात्मवाद को निर्भर न रखे। इससे उन्ही की हानि है। हाईजनवर्ग के अनिश्चयता-सिद्धान्त की आड मे जब अध्यात्मवादियो ने आश्रय लिया था, उस समय आइनस्टाइन ने यह जो कहा था कि It is a temporary asylum of ignorance यह केवल सामयिक रूप से अज्ञान का शरण गृह है, इस सम्बन्ध मे याद करने लायक है। विज्ञान असंगतियो का समाधान करते हुए ही आगे बढ़ता गया है, और कोई कारण नही कि वह किसी असगति से परास्त होगा। सामयिक रूप से अज्ञान के शरण-गृह तो बहुत मिलेंगे, पर केवल उस सामयिक अज्ञान के बलबूते पर किसी वाद को बल पहुँचाने का प्रयास करना भ्रान्त और अन्ततोगत्वा उस मत के लिए खतरनाक है, जिसे इनके बूते पर खडा रखने की चेष्टा की जाती है।

मैने इस प्रसग मे विज्ञान और वैज्ञानिको के सम्बन्ध मे बहुत बातचीत की है, इसलिए यह चेतावनी दे दूँ कि बहुत से ऊंचे दर्जे के वैज्ञानिक धर्मवादी है, पर जैसा कि आइनस्टाइन, जो स्वय धर्मवादी है, कहते है कि हममे यह तमीज होनी चाहिए कि एक वैज्ञानिक वैज्ञानिक के रूप मे जो कुछ कहता है और साहित्यिक तथा निजी हैसियत से जो कुछ कहता है, उसमें फर्क कर सके। दूसरे शब्दो मे हम वैज्ञानिक के विज्ञान को प्रामाणिक मानते है, पर वह साहित्यिक या धार्मिक ताव मे आकर जो कुछ कहता है, उसे उसके गुण-दोषो की परीक्षा के बाद ही ग्रहण कर सकते है।

नवीनजी ने जन्मान्तरवाद को पुष्ट करने वाली जिन बातो का उल्लेख किया है, यदि वे सत्य भी हो, तो हम उनसे घबराकर अध्यात्मवाद या रहस्यवाद के चरणो मे माथा टेकने की कोई आवश्यकता नही समझते। क्लेरवोयास या मन की बात बता देना, जेब के अन्दर की चीज का पता बताना, इत्यादि बहुत सी शक्तिया है, जिनकी अभी व्याख्या करना सम्भव नही है, पर निराशा की कोई बात नही है, हम इस सम्बन्ध मे अधिकाधिक जानते जा रहे है।

एक व्यक्ति बहुत मामूली गुत्थियो को समझ नही पाता, पर आइनस्टाइन-ऐसे व्यक्ति मौजूद है, जो विश्व-ससार की गुत्थियो को अपने मस्तिष्क में सुलझा रहे है। कहा जाता है कि आइनस्टाइन प्रतिवादित सापेक्षवाद के गणित को समझ भी सके, ऐसे व्यक्तियो की सख्या ससार मे दो सौ से अधिक नही है, तो क्या हम इस बात पर यह मान ले कि आइनस्टाइन में आध्यात्मिक शक्ति बहुत अधिक है, याने रामकृष्ण परमहस, स्वामी रामतीर्थ आदि भी से अधिक है? हम ऐसे व्यक्तियो के लिए जीनियस या असाधारण

प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति शब्द प्रयुक्त करते है, और जैसा कि अभी एक लेखक ने लिखा था जब हम किसी व्यक्ति को समझ नही पाते, तो उसके सम्बन्ध मे इस शब्द का प्रयोग कर देते है, वैसे ही हम यह क्यो न थोडे समय के लिए मान लें कि जन्मान्तरवाद के कथित उदाहरणो में हम कई चीजो को अभी समझ नही पा रहे है, जिन्हे हम बाद मे समझ पायँगे।

नवीनजी के प्रतिपाद्य की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि उन्होने प्रगतिवाद की भर्त्सना करने के लिए विज्ञान की भर्त्सना की है। हम सभी जानते है कि यह भर्त्सना व्यर्थ है, और इससे प्रगतिवाद भ्रान्त प्रमाणित न होकर उसके विपरीत विज्ञान के साथ एक कोष्ठक मे आ जाता है। यह नवीनजी की ईमानदारी और सतता का परिचायक है कि वे इस रुख को साहसपूर्वक लेते है कि प्रगतिवाद को ढहा देने के लिए विज्ञान मे आस्था को ढहा देना आवश्यक है, और इस कारण जैसे भी बन पडता है वे उस पर सामने से आक्रमण करते है। इससे एक ओर तो समस्या की समग्रता के सम्बन्ध में नवीनजी का ज्ञान सूचित होता है, पर दूसरी ओर क्या यह सूचित नही होता कि वे ईंट की दीवारों पर पदाघात वर्षा कर रहे है, जिससे पद-पीड़ा, और अन्ततोगत्वा मनोपीडा की ही प्राप्ति होगी ?

मै समझता हूँ कि विज्ञान, वैज्ञानिक बुद्धि तथा प्रयोगलब्ध ज्ञान के विरुद्ध जेहाद व्यर्थ जाने के लिए बाध्य है। विज्ञान मे सैकडो सशोधित नये सिद्धान्त आयँगे और उनकी तुलना मे पहले के सिद्धान्त पुराने पड़ जायँगे, पर इन से विज्ञान उत्तरोत्तर उन्नत और पहले से अधिक विस्तृत होता जायगा। पोटेशियम साइनाइड खाकर व्याख्यान देते रहने वाले एकाध उदाहरण से विज्ञान व्यर्थ नही हो जायगा, भले ही उसके सामने एक नई समस्या और चुनौती खड़ी हो जाय।

प्रगतिवाद पर नवीनजी ने जो आक्रमण किया है, उसका सबसे कमजोर विन्दु यह है कि नवीनजी ने यह चेष्टा तो की है कि भौतिकवादी एपिस्टेमोलोजी या ज्ञान-शास्त्र में सशय उत्पन्न हो जाय, और उसमें उनका सबसे बडा तर्क वही पोटेशियम साइनाइड खाकर व्याख्यान देने वाला व्यक्ति है, पर उन्होने अपना वैकल्पिक ज्ञान-शास्त्र पेश नही किया है। यदि इन्द्रिय-गम्य और प्रयोग-लब्ध ज्ञान ही एक-मात्र ज्ञान नही है, तो ज्ञान का दूसरा तरीका क्या है, इसे वे बताने से चूक जाते है। कोई भी दर्शन केवल दूसरे दर्शनो के खडन करके खडा नही हो सकता, उसका एक अपना घनात्मक दृष्टिकोण और उससे भी पहले एपिस्टमोलोजी या ज्ञान-शास्त्र होना चाहिए।

नवीनजी के प्रति न्याय करने के लिए मै यह मान लूँगा कि उन्होने इस लेख मे विस्तार-भय से भारी बाते नही कही है। इसलिए इस ओर साधारण रूप से जो तर्क अध्यात्मवादियो की ओर से दिये जाते है, उनका सक्षेप मे उल्लेख करके हम आगे बढ जायँगे। अध्यात्मवादी आप्तवाक्य, रिविलेशन या इण्ट्यूशन को ज्ञान का एक साधन मानते है। जहाँ तक ये प्रयोग लब्ध ज्ञान के विपरीत नही आते, वहाँ तक इनसे झगडा मोल लेने का कोई कारण नही नही है, पर जहाँ वे इसके विरुद्ध जाते है, वही पर आकर झगडा पडता है। यदि इनको ज्ञान के साधन माना जाय, तो उससे विचार-क्षेत्र में बडी गडबडी पैदा हो जाती है। इसी की आड लेकर हरेक कनफडा यह दावा कर सकता है कि उसे विशेष ज्ञान प्राप्त है, और जैसा कि सभी लोगो को मालूम है ऐसा करने मे वे चूकते नहो है। मै समझता हूँ कि कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इस परिस्थिति को स्वीकार नही कर सकता। यहाँ पर फिर वही प्रश्न आ खडा होता है कि किस दावेदार का दावा सुना जाय, और किसका नही, याने फिर एक बार बुद्धि और प्रयोग से काम पडता है। किस कनफडे और योगी का सुना जाय और किसका नही, इसका निर्णय इण्ट्यूशन से नही बल्कि वैज्ञानिक बुद्धि से किया जाता है। इस प्रकार अन्त तक इण्ट्यूशन में भी बुद्धि से ही काम लिया जाता है। दुःख है कि इस प्रसग में इससे अधिक कहने के लिए स्थान नही है।

अब मै साहित्य के प्रश्न पर आता हूँ। सच तो यह है कि नवीनजी ने प्रगतिवाद पर आक्रमण करने के लिए ही दर्शन-शास्त्र के प्रश्नो को उठाया है। वे मौलिक प्रश्न है, और उन पर बिना कुछ निर्णय किये साहित्य के मूलगत प्रश्नो पर विचार नही हो सकता है।

साहित्य किसी जाति के विचार जगत् का एक अङ्ग है। इस कारण वह उस जाति की सामाजिक आर्थिक परिस्थिति से उद्भूत और उससे सम्बद्ध है। जब आधार मे परिवर्तन होता है, ऊपरी ढाँचे मे भी परिवर्तन होता है, अर्थात् आर्थिक, सामाजिक परिस्थिति के साथ-साथ विचार-जगत् मे इस कारण साहित्य मे परिवर्तन होता है। पर यह परिवर्तन तो यान्त्रिक रूप से होता है, और न यह आवश्यक है कि वह तुरन्त हो। कई परिस्थितियाँ बदलने पर भी रूढ़ियो के रूप मे पुराने विचारो का बोल-बाला रह जाता है। उसी प्रकार यह भी समझना चाहिए कि किसी एक वर्ग की समाज-पद्धति के भी विचार किसी न-किसी रूप मे रह सकते है। यह ऐसे कि प्रत्येक समाज-पद्धति में उससे आगामी पद्धति मे जो वर्ग क्रान्तिकारी रूप मे आगे आने वाला है, उसके

विचार भी क्रियाशील रहते हैं। एक ऐतिहासिक उदाहरण से इसको स्पष्ट किया जाय। फ्रेंच सामन्तवादी समाज मे रूसो और वाल्टेयर आदि के रूप मे ऐसे लोगो के विचार तथा साहित्य मौजूद थे, जो आगामी पूँजीवादी क्रान्ति के अग्रदूत के रूप मे थे।

इस प्रकार से एक ही समय मे (यद्यपि परिस्थिति एक ही है) कई प्रकार के विचार और साहित्य मौजूद रहते हैं। रूढियो के रूप मे पुराने मूल्य काम करते रहते हैं, उस समय मौजूद दो वर्गो और उनके उपवर्गो के विचार भी साहित्य मे प्रतिफलित हो सकते है। इस प्रकार से उसी समाज मे शासक-वर्ग के साहित्य के अतिरिक्त शोषित वर्ग का भी कुछ-कुछ साहित्य हो सकता है। वर्गहीन समाज मे भी साहित्य का एक अश बहुत दिनो तक पुरानी रूढियों से परिप्लावित रह सकता है।

इस प्रकार हम प्रगतिवादी साहित्य जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शोषक वर्ग के किसी भी अङ्ग या विचार पर आक्रमण करता है, उसे हास्यास्पद बनाता है, उसका तिरस्कार करता है, या क्रान्तिकारी विचारो को बल पहुँचाता है, वह प्रगतिवादी साहित्य है। इलियट ने कहा है—

"The greatness of literature cannot be determined solely by literary standard, though we must remember that whether it is literature or not can be determened by literary standard only."

अर्थात्—"साहित्य की महत्ता का निर्णय केवल साहित्यिक मानदण्ड से नही हो सकता, यद्यपि हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई रचना साहित्य है या नही, इसका निर्णय साहित्यिक मानदण्ड से ही हो सकता है।"

इलियट ने यह जो बात कही है, वह बहुत ही उच्च कोटि की है। मैने इसके पहले भी कई बार कहा है, और फिर भी कहता हूँ किसी रचना के प्रगतिवादी साहित्य होने के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले साहित्य हो। जब एक रचना साहित्य मान ली गई, तभी यह प्रश्न उठता है कि वह प्रगतिवादी है या नही ? प्रगतिवादी का अर्थ जैसा कि मै बता चुका केवल इतना ही है कि वह प्रगतिशील शक्तियो के मार्ग से रोडे हटाकर या अन्य किसी प्रकार की शक्तियो को बल पहुँचाय।

यह प्रमाणित किया जा सकता है कि प्रत्येक साहित्य किसी-न-किसी प्रकार की शक्तियो को बल पहुँचाता है। मोपासाँ या सार्त्र के साहित्य को भी वर्ग समाज में भाग लेता हुआ, पलायनवाद और अश्लीलता के द्वारा भाग लेता

हुआ दिखाया जा सकता है। साथ-ही-साथ उनमे अपने समय के समाज के शासक वर्ग को प्रतिबिंबित देखा जा सकता है। इन दोनो के साहित्य उस हद तक प्रगतिवादी उपादान से युक्त भी कहे जा सकते है, जिस हद तक वे एक सज्ञान पाठक के मन मे उन रचनाओ मे प्रतिबिंबित शासक वर्ग के प्रति घृणा उत्पन्न करते हैं। पर उनका कला भाग इतना प्रबल है कि साधारण पाठक सम्भव है बह जाय, और वह अश्लीलता मे आनन्द लेने लगे, इसलिए कुल जोड के रूप मे किसी हद तक उनके साहित्य को प्रगतिवादी कहना उचित न होगा।

जिस समय किसी समाज को अपनी सारी शक्ति को एकत्रित करके किसी समस्या के साथ लड़ने की आवश्यकता है, उस समय यदि कोई साहित्य हमारा ध्यान अवातर बातो की ओर आकृष्ट करे, हमे ऐसे विषयो की ओर आकृष्ट करे, जिनमे कोई तत्त्व नही है, हमे अश्लीलता की धारा मे बहाव, तो उस साहित्य मे शोषक-वर्ग के प्रति कोई स्पष्ट पक्षपात न होते हुए भी वह साहित्य प्रतिगामी कहलायगा। सम्भव है कि वह साहित्य केवल साहित्यिक मानदण्डो से नापे जाने पर बहुत अच्छा पाया जाय, फिर भी जैसा कि इलियट के द्वारा प्रतिपादित मत को मानते हुए हम प्रगतिवादी कह सकते है, वह कोई महान् साहित्य नही होगा।

साहित्य को महान् बनाने के लिए उसमे साहित्यिक गुणो के अतिरिक्त और भी गुण होने चाहिएँ। ये गुण क्या हो सकते है, इस सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से कहना पडता है कि जीवन के उच्च मूल्यो, स्थापनाओ तथा मान्यताओ के साथ पक्षपात ही साहित्य को बडा बनाता है। क्या इस सम्बन्ध मे कोई दो मत हो सकते है? इसलिए यदि लेनिन ने १६०५ मे, जिस समय प्रत्येक सम्भव उपाय से क्रान्ति की ज्वाला को भड़काकर उसमे सडी-गली शोषण-मूलक शासन-पद्धति को जला देने का नारा दिया, और यह कहा कि "जब वर्ग-भेद तीव्रतापूर्वक आगे बढ़ रहा हो, तब प्रत्येक कलाकार को अपनी वर्ग-मैत्री या वर्ग-लगाव को स्पष्टत प्रकट करना होगा, और उस संघर्ष मे अपना निश्चित स्थान ग्रहण करना होगा", तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है? क्या लेनिन ने इस प्रकार उसी बात को अपने ढग से नही कहा जिसे इलियट के सूत्र की व्याख्या कही जा सकती है? जैसा कि नवीनजी ने उद्धृत किया है लेनिन ने उक्त अवसर पर कहा था—

"पूँजीवादी प्रथा याने सामाजिक परिपाटी को कुठित करने के लिए, पूँजीवादी व्यापार-मूलक पत्रकारिता का विरोध करने के लिए तथा पूँजीवादी धन-

प्राप्ति तथा वैयक्तिक उन्नति-मूलक साहित्य-सेवा का प्रतिरोध करने के लिए समाजवादी सर्वहारा को पक्षपात-मूलक साहित्य के नारे को सामने रखकर आगे बढना पडेगा।"

यदि लेनिन समाजवादी शब्दावली प्रयुक्त बिना किये इसी को इस रूप म कहते कि इस समय का नारा यह होना चाहिए कि समाज के लिए हितकर मूल्यो और मान्यताओ को स्थापित करने वाले साहित्य को अपनाना चाहिए, तो शायद किसी को विशेष आपत्ति न होती। पर बात एक ही होती। रहा यह कि लेनिन की बातो मे स्पष्टता है, जब कि दूसरे ढग से कहने पर उसमे उतनी स्पष्टता नही होती।

नवीनजी इस बात को मानने से इन्कार करते है कि हमारा प्राचीन साहित्य वर्ग-पक्षपात-दुष्ट है। पर जिन लोगो ने हमारे प्राचीन साहित्य का गहराई के साथ अवगाहन किया है, उनका मत ऐसा नही है। हमारा वैदिक साहित्य वर्ग-पक्षपात से भरा हुआ है। कला उस समय शासक वर्ग की सेवा मे नियुक्त थी। ओल्डनबर्ग ऋग्वैदिक कविता के सम्बन्ध मे कहते है कि 'यह कविता न तो सौन्दर्य की सेवा मे सलग्न है और न इसमे प्रतिपादित धर्म आत्मिक उन्नति का प्रवर्तक है, यह तो वर्ग-स्वार्थ तथा वैयक्तिक स्वार्थ-मूलक और दक्षिणा वसूल करने के लिए है।' वैदिक कविता मे दान-स्तुति के नाम से चालीस ऋचाएँ है, जिनमे 'खुशामद मे आमद है' नीति का अनुसरण करके दाताओ का गुण-गान किया गया है। यदि यह देखा जाय कि ऋग्वेद मे १०२८ ऋचाएँ है, तो इन दान-स्तुतियो की सख्या बहुत कम प्रतीत नही होगी। एक ऋचा मे वर्ग-भेद का समर्थन इस प्रकार किया जाता है—

'दो हाथ समान होने पर भी समान नही होते, एक ही कोख से उत्पन्न दो गाये बराबर मात्रा मे दूध नही देती, जुडवें शिशुओ की ताकत समान नही होती, सब रिश्तेदार एक-से उपहार नही देते।'

ऋग्वेद मे दान-स्तुतियो के अतिरिक्त दस राजाओ के युद्ध, इन्द्र और सम्बर का युद्ध आदि प्रकरण मे उच्च वर्गो की गाथाओ का वर्णन है। इसमें महाकुल और मघवनो की प्रशस्ति है। यजुर्वेद तो ब्राह्मण और क्षत्रियो की उन्नति के लिए एक यज्ञशास्त्र के रूप में है। बाद के प्राकृत और पाली साहित्य में जातक, अवदान और अगादि पुस्तको मे जनसाधारण का कुछ परिचय मिलता है, इसका कारण यह है कि बौद्ध और जैन-विद्रोह जनता को लेकर उठा, यद्यपि बाद को चलकर वे भी जनता से दूर हो गए। जब अन्तिम मौर्य सम्राट् को मारकर उसके सेनापति पुष्यमित्र ने ब्राह्मणाधिपत्य स्थापित किया,

तो उस युग की शासक श्रेणी मे स्वार्थ को लेकर कथित 'मानव-धर्म-शास्त्र' या मनुसहिता का अन्तिम संस्करण बना। इसके बाद की शताब्दियो मे सस्कृत-काव्य-साहित्य बना। इनमे सामन्ती मूल्यो तथा मान्यताओ के इर्द-गिर्द ही सारा साहित्य बना। प्रभु-भक्ति, वर्णाश्रम धर्म, कुल और वश की महिमा, पुरुषो के गणिका-गमन के बावजूद स्त्रियो के सती-धर्म आदि सामन्ती मान्यताओ को बल पहुँचाया गया।

हम इस विषय पर बहुत ब्यौरे मे नही जायँगे, क्योकि इस सम्बन्ध मे मै अन्यत्र बहुत ब्यौरे मे लिख चुका हूँ। फिर भी इतना बता दूँ कि यद्यपि हमारे दर्शन तथा उपनिषदो मे बहुत ऊँचे आदर्श यत्र तत्र बघारे गए है, फिर भी हम-जैसे किसी व्यक्ति को उसके द्वारा बताये हुए उच्च सिद्धातो के आधार पर नही कूतते, हम उसके आचरण को देखते है, उसी प्रकार से जब हम आर्यों के आचरण पर आते है, तो हम देखते है कि अपने शत्रुओ को तो उन्होने अपने इतिहासो मे राक्षस आदि करके चित्रित किया ही, इसके अतिरिक्त उन्होने अपने समाज के लोगो मे इतना भेद-भाव बरता जो अकल्पनीय है। एक ही अपराध के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की सजाओ मे प्रभेद यह हमारे हिन्दू स्मृति-ग्रन्थो तथा सूत्र-ग्रन्थो की विशेषता है। हम यहाँ पर इस ब्यौरे मे भी नही जायँगे कि भारतीय समाज मे किस प्रकार वर्ण-भेद की पद्धति में ही वर्ग-भेद समा गया था यद्यपि यह एक बहुत ही दिलचस्प विषय है।

अतएव दिनकरजी का यह जो विचार है कि 'राजनीति ने अब एक नया नारा निकाला है कि साहित्य राजनीति का रण-वाद्य है', उतना नया नही है जितना कि दिनकरजी समझते है। दिनकरजी ने लिखा है—"राजनीति ने अब एक नया नारा निकाला है कि साहित्य राजनीति का रण-वाद्य है। एक बहुत ही प्रगतिशील देश ने अनुभवो से यह पता लगाया है कि राजनीति के सिद्धान्त अगर राजनीति के भीतर पचा दिये जायँ, तो वे मनुष्य के सस्कार बन जाते है और फिर उन्हे कोई हिला-डुला नही सकता। अतएव उस देश के शासको की दृष्टि मे साहित्य का मान बहुत कुछ बढ गया है और कहा जाता है कि वहाँ साहित्यिको का दल सबसे सुखी और सम्मानित है। किन्तु डूबकर देखने से पता चलेगा कि वहाँ भी गुलाब की प्रशसा के लिए जो पुरस्कार दिया जाता है, वह उस पुरस्कार से कही न्यून है जो गेहूँ के विकास के लिए अत्यन्त आदर के साथ प्रदान किया जाता है। ('गेहूँ और गुलाब' की सूक्ति के लिए बेनीपुरी जी को धन्यवाद) रूस की देखा-देखी अब हिन्दुस्तान मे भी राजनीतिक दल साहित्य का सहारा लेना चाहते है। हम मानते है कि यह उपेक्षा की अवस्था

से अच्छी अवस्था है। किन्तु इससे उस उद्देश्य की सिद्धि दुर्लभ होगी जिसके लिए साहित्य की आवश्यकता है।"

दिनकरजी जिसे रूस की देखा-देखी कहते है, यह रूस की देखा-देखी नही है। जब से वर्ग-समाज उत्पन्न हुआ, और साहित्य की उत्पत्ति हुई, चाहे वह लिखित साहित्य न हो, श्रुति और स्मृति के रूप मे हो, शोषक वर्ग साहित्य को अपने शासन का परोक्ष साधन बनाता रहा है। इसमे रूस की देखा-देखी केवल इतनी है कि रूस वाले इस बात को छिपाकर पक्षपात-हीनता के ढोंग की परिपाटी मे विश्वास नही करते। नही तो रामायण, महाभारत तथा हमारा सारा प्राचीन साहित्य वर्ग-पक्षपात से दुष्ट है, और उन कृतियो के रचयिताओ को यदि वे इस समय मौजूद होते तो रूस से कुछ सीखना नही पडता। सोवियट लेखको ने नात्सियो का जो चित्रण किया गया है, वह उनसे कही अधिक उदार और मानवीय है। इसके अतिरिक्त यह तो हम बता ही चुके कि रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों मे बराबर उन्ही मान्यताओ को ऊँचा उठाया गया है, जो उन दिनो की शासक वर्ग की मान्यताएँ थी।

नवीनजी आवेश मे आकर कह देते है कि—"जिसका मस्तिष्क यथा-स्थान है, वह तुरन्त देख लेगा कि मार्क्स, ऐंगल्स, लेनिन का वह पक्षावलम्बी सिद्धान्त भारतीय साहित्य की इन धाराओ पर लागू नही होता," पर यह कथन सत्य की कसौटी पर ठहरता नही है। रामायण को नवीनजी बहुत महत्त्व देते है इस कारण मै दो शब्दो मे यह भी बता दूँ कि उसमे आर्य-साम्राज्य-विस्तार की एक टेकनीक बार-बार सामने आई है, जो पाश्चात्य साम्राज्यवादियो के साम्राज्य-विस्तार की टेकनीक से बहुत मिलती है। पहले पादरी जाकर धर्म-प्रचार करते थे, फिर उनकी रक्षा के लिए गनबोट जाते थे। इसी प्रकार आर्य ऋषि आगे निकलकर कही यज्ञ आदि करते थे, फिर जब उन्हे उस देश के आदिम निवासियों की ओर से बाधा प्राप्त होती थी, तो आर्य राजा सैन्य-सामन्त लेकर पहुँचते थे। रामायण की कहानी आर्य-साम्राज्य विस्तार की कहानी है, उसमे शत्रुओ के साथ न्याय करना तो दूर रहा, उनमें अवगुण-ही-अवगुण दिखलाए जाते है। राम मर्यादा पुरुषोत्तम है, पर रावण राक्षस-राज है। मित्रतापूर्ण जातियो को भी वानर की आख्या दी गई, और उनकी पूँछो के लम्बे वर्णन किये गए। क्या इतने पर भी यह दावा किया जायगा कि जो लोग साहित्य मे पक्षपात को लागू देखते है, उनका मस्तिष्क यथास्थान नही है।

दिनकरजी पक्षपात वाले सिद्धान्त का इतनी कठोरता से वर्जन नही करते,

जितना नवीनजी करते हैं। वे एक मध्यम मार्ग लेकर कहते है—

"मैने कहा है कि राजनीति की ओर से साहित्य की जो आराधना शुरू हुई, वह कोई बुरी चीज नही है। किन्तु मै यह भी कहना चाहता हूँ कि साहित्य राजनीति की अनुचरता स्वीकार करके मनुष्य का कल्याण नही कर सकता। जनता साहित्य का विश्वास केवल इसलिए करती है, क्योकि झूठ बोलना अथवा मिथ्या प्रचार साहित्य के स्वभाव के विरुद्ध है। जनता के नवचेतन मे कौनसी कामनाएँ ऊँघ रही है, जनता के विकास की भावी दिशा क्या होनी चाहिए, ये बाते सबसे पहले साहित्य को ही मालूम होती है और इसीलिए साहित्यकार को यह आजादी रहनी चाहिए कि वह अपने हृदय की बात को निर्भीकतापूर्वक कहे और यह आजादी उन्हे भी नही अखरनी चाहिए जो साहित्य के प्रतिपालक पद पर आरूढ होते है। अगर कवि सघर्ष के भीतर बिठलाया जाता है तो सघर्ष से ऊपर वाली जगह भी उसी को होनी चाहिए। कवि की उदारता, कवि की सहानुभूति और कवि का रोने का अधिकार कही भी सीमित नही किया जा सकता। क्योकि इस भयकर ससार मे वही तो एक ऐसा जीव है जो "एक दल का पक्ष लेते हुए भी अपनी सहानुभूति का अर्द्धांश शत्रुओ के लिए भी सुरक्षित रखता है।"

दिनकर-वर्णित यह कवि, जो एक दल का पक्ष लेते हुए भी सहानुभूति का अर्द्धांश शत्रुओ के लिए सुरक्षित रखता है, केवल कल्पना मे ही मौजूद है। हाँ कोई कवि झक्की हो, मध्यममार्गी हो, इस पक्ष से उस पक्ष मे चला जाय तो उसकी बात और है। कवि भी अपनी श्रोतृ-मडली पर जीता है, इस कारण वह उनसे स्वतंत्र होकर न तो जी सकता है, न जीता है।

दिनकरजी तो पलायनवाद के साथ भी कुछ हद तक संधि करने को तैयार है। वे कहते है—

"जिसे आप पलायनवाद कहते है, उसका मै कटु आलोचक नही हूँ, क्योकि मैं जानता हूँ कि कल्पना के जब-तब बन्द हो जाने से कवि की शक्ति का विकास ही होता है, और उसकी वाणी कला के चमत्कारो से युक्त रहती है।"

दिनकरजी के इस कथन की विशेष आलोचना की आवश्यकता नहीं है, क्योकि पलायनवाद की जो समालोचना पहले आ चुकी है, वह इस पर भी लागू होती है। मालूम होता है कि दिनकरजी पहलवानो की वर्जिश और रियाज के रूप मे पलायनवाद मे विश्वास करते है। अस्तु।

साहित्य किसी-न-किसी धारा, वर्ग, विचार के साथ पक्षपात करता है, प्रगतिवादियो के इस कथन से लोग इतना चिढते क्यो है, यह समझ मे नही

आता। क्या यह सत्य नहीं है ? मजे की बात यह है कि रवीन्द्रनाथ, जिनका सारा साहित्य विशेषकर उपन्यास साहित्य-प्रचार-मूलक है, और जो पुराने सामन्ती समाज की मान्यताओ के विरुद्ध उदार पूँजीवादी वर्ग के झण्डे को लेकर आमरण लडे, वे भी एक स्थान पर 'साहित्य की मात्रा' नामक लेख मे कह जाते है, "कहानी की किताबो मे जिन्हे थीसिस पढने का मर्ज है, मै कहूँगा कि वे साहित्य के पद्मवन मे मत्त हस्ती की तरह है।" खैरियत यह है कि वे अन्य सभी स्थानो में दूसरी ही बात कहते पाये जाते है।

'साहित्य विचार' नामक लेख मे वे लिखते है—"साहित्य-विचार-सम्बन्धी किसी भी ग्रन्थ को पढते समय कमो-बेश यह बात दिखाई पडती है कि आलोचक कुछ विशेष सस्कारो के अधीन है। इन संस्कारो का उद्भव उसके दल, श्रेणी तथा शिक्षा के कारण होता है। कोई भी सम्पूर्ण रूप से इस प्रभाव से मुक्त नही हो सकता। कहना न होगा यह सस्कार सर्वकाल के आदर्श का अनुवर्ती नही है। न्यायाध्यक्ष के मन मे व्यक्तिगत सस्कार होते है, पर वह कानून के दड की सहायता से अपने को खडा रखता है। दुर्भाग्य से साहित्य मे यह कानून विशेष काल, विशेष पल, विशेष दल, विशेष शिक्षा या विशेष व्यक्ति की ताडना से बनते रहते है। यह कानून सार्वजनिक तथा सार्वकालिक नही हो सकता।"

इस प्रकार अन्य स्थानो मे भी कवीन्द्र ने इस सत्य को माना है, भले ही वे इसे एक आह के साथ मानते हों कि साहित्य तथा उसकी आलोचना मे पक्षपात होता है। फिर जिस न्याय के दण्ड को वे उपमेय के रूप मे लेते है, यदि मै यह कहूँ कि वह न्याय भी वर्ग-न्याय होता है, तो बात बहुत बढ जायगी, अस्तु। दिनकरजी ने जिस राजनीति के साथ साहित्य के गठबन्धन को आधुनिक माना है, वह न तो रूस का प्रसाद है न आधुनिकता का, यह तो देखा गया। साहित्य में किन्ही विचारो के साथ पक्षपात न केवल किया गया, बल्कि बराबर उचित माना गया है। हमारा सारा प्राचीन साहित्य यहाँ तक कि काव्य-साहित्य भी प्रयत्क्ष या परोक्ष रूप से धार्मिक तथा एक विशेष विचार-धारा का प्रतिपादक रहा।

आर्यों के साम्राज्य-विस्तार के साथ पक्षपात के विषय मे पहले ही कहा जा चुका है। प्राचीन भारत मे न केवल धार्मिक साहित्य को तरजीह दी जाती थी, बल्कि जो साहित्य धर्म के विरुद्ध होता था, उसका दमन भी किया जाता था। चार्वाक, वृहस्पति आदि के साहित्य को इतना दबाया गया कि वह लुप्त हो गया, और अब केवल उनके विरोधियो के साहित्य मे उनके जो उद्धरण

मिलते है, उन्ही से उनके मत का कुछ-कुछ पता मिलता है ।

नाट्य-शास्त्रकार ने यह स्पष्ट कह दिया कि "सर्वोपदेश जनन नाट्य खलु भविष्यति, और यह हम सभी जानते है कि उपदेश का अर्थ प्रचार है । नाट्य-शास्त्रकार और भी कहते है—

धर्मोधर्मः प्रवृत्ताना काम कामोपसेविनाम् ।
निग्रहोदुर्विनीताना विनीताना दमक्रिया ॥
क्लीबाना धाष्टर्य करणमुत्साात शूरमानिना ।
अबुधाना विबोधश्च वैदुष्य विदुषामपि ॥
ईश्वराणा विलासश्च स्थैर्य दुखार्दतस्यच ।
अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्न चेतसाम् ॥
दु खार्ताना श्रमार्ताना शोकार्ताना तपस्विनाम् ।
विश्राम जनन लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

याने "नाट्य धर्म मे प्रवृत्त लोगो को धर्म, कामोपसेवियो को काम, दुर्दान्तो को निग्रह, विनीतो की विनयबुद्धि, क्लीबो को साहस, वीरो को उत्साह, निर्बोधो को बुद्धि, विद्वानो को विद्या, धनियो को उचित विलास, दु.ख-पीड़ितो को धैर्य, अर्थोपजीवियो को अर्थ के उपाय, उद्विग्न चित्तो को ढाढस, दुखियो, श्रम-पीडितो, शोकानो तथा तपस्वियो को विश्राम प्रदान करेगा ।"

इस प्रकार से यह देखा गया कि लेनिन तथा अन्य प्रगतिवादियो ने यह कहकर विशेष अपराध नही किया है कि साहित्य सज्ञान रूप से किन्ही विचारो के साथ पक्षपात करे । अवश्य उन्होने नाट्य-शास्त्रकार की तरह अस्पष्ट शब्दो का प्रयोग न करके इस पक्षपात को एक वैज्ञानिक रूप दिया है, इसके लिए कोई उनको कितना भी कोस ले, ठीक है । हम पहले ही यह बता चुके है, और जिसे मुझे डर है कुछ अत्युत्साही प्रगतिवादी समझ नही पाते कि किसी साहित्य के प्रगतिवादी होने के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले साहित्य हो । मैने बार-बार इस उपमा का प्रयोग किया है, और इस अवसर पर फिर उसका उल्लेख करता हूँ कि यदि कोई व्यक्ति क्रान्ति के जोश में कनस्तर पीट दे, तो वह क्रान्तिकारी सगीत नही हुआ जाता ।

जार्ज डिमिट्राफ ने सोवियट लेखको मे बोलते हुए यह स्पष्ट कर दिया था कि "वह लेखक क्रान्तिकारी लेखक नही है, जो अपनी कृतियो मे बार-बार 'इन्कलाब जिन्दाबाद' कराता है ।" इसी प्रसग मे गोर्की ने अपने नाटक 'निम्नतर गहराइयाँ' के उद्देश्य के सम्बन्ध मे यह कहा था, "मञ्च पर जुलूस और झण्डो के साथ क्रान्ति दिखलाने का कोई अर्थ नही होता । हमे तो मनुष्य की आत्मा,

जीवित मनुष्यो के जरिये से क्रान्ति दिखलानी है। हमारा उद्देश्य है कि शासक वर्ग की मानसिक शान्ति को नष्ट कर दे, और उनका नातका बन्द कर दे। यह बहुत सुन्दर रहेगा।" (टेलीशोफ लिखित सस्मरण)।

नवीनजी ने स्टालिन की भाषा-शास्त्र-समस्या-सम्बन्धी लेख का उद्धरण-देते हुए यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि उसके अनुसार प्रत्येक जाति को एक सस्कृति है, अत भारत की एक विशेष सस्कृति है। इसमे तो सन्देह नही कि भारत की एक विशेष सस्कृति है। पर स्टालिन के वक्तव्य से नवीन-जी ने जो अर्थ निकालना चाहा है, वह भ्रान्त है। यह तो ठीक है कि प्रत्येक सस्कृति अपनी निजी विशेषताओ के द्वारा विश्व-सस्कृति को ऐश्वर्यशाली बना-यगी, पर नवीनजी यह भूल जाते है कि न तो स्टालिन और न अन्य कोई प्रगतिवादी ही किसी स्थानीय सस्कृति या विश्व-सस्कृति मे ऐसे उपादानो को रहने देना चाहेगे, जो शोषणात्मक हो, और न उसको सरक्षित करना चाहेगे। नवीनजी जिस विशेषता को भारतीय विशेषता कहते है, जिसे वे 'क्वासि' की टेर कहते है, दूसरे शब्दो मे भारतीय मार्का अध्यात्मवाद को वे विश्व को भारत के दान के रूप मे देना चाहते है। और यह सब वे स्टालिन के मत्थे पर करना चाहते है। इस सम्बन्ध मे मेरा पहला नम्र निवेदन यह है कि वे स्टालिन के इस सम्बन्ध के वक्तव्य के मथितार्थ को समझ नही पाये। स्टालिन तो किसी रूप मे भी धर्म और अध्यात्मवाद को रखना नही चाहते, क्योकि धर्म और अध्यात्मवाद जनता के लिए अफीम है। इस सम्बन्ध मे दूसरा वक्तव्य यह है कि अध्यात्मवाद को भारत की विशेषता समझना ऐतिहासिक रूप से गलत है। इसमे सन्देह नही कि भारत मे कई कारणो से सैकडो वर्षों से इसका बोल-बाला रहा, पर अन्य देश भी अध्यात्मवाद को उसना ही महत्त्व देते रहे। बात यह है कि अध्यात्मवाद एक विशेष विचार-धारा है और वह एक विशेष परिस्थिति मे पनपता है। इस तर्क-सूत्र का दूर तक अनुसरण करना यहाँ सभव नही है।

अध्यात्मवाद को भव्य, उदात्त, श्लाघ्य, चरम उन्नति प्रेरणादायक आदि विशेषण विभूषित करने पर भी नवीनजी अपनी ही लेखनी से अध्यात्मवाद का मृत्युदण्ड-पत्र इस रूप मे लिख देते है। वे कहते है—"वर्तमान विज्ञान-जिज्ञासा और भारतीय परम्परा की जिज्ञासा मे जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अन्तर है, वह यह है कि वर्तमान जिज्ञासा बहिर्मुखी है, और भारतीय परम्परा की जिज्ञासा भावना अन्तर्मुखी है।" हम इस वक्तव्य के गूढ अर्थ के उद्घाटन मे पडने की आवश्यकता नही समझते। हमारे उद्देश्य के लिए इतना ही यथेष्ट है कि

नवीनजी भारतीय परम्परा की जिज्ञासा की भावना को विज्ञान-विमुख, केवल यही नही विज्ञान की जिज्ञासा भावना से विपरीत पथगामी मानते है। न स्टालिन को और न अन्य किसी प्रगतिवादी को ऐसी किसी भी परम्परा या भावना की आवश्यकता है, जो विज्ञान के विरुद्ध जाती हो। मै नवीनजी को इसके लिए बधाई देना चाहता हूँ कि वे साहसपूर्वक यह मानते है कि जिस आधार को वे साहित्य के मूल के रूप मे लेना चाहते है, वह अनिवार्य रूप से विज्ञान-विरोधी है। वे आगे चलकर और भी साफ कह देते है "विज्ञान-सम्बधी जिज्ञासा और भारतीय जिज्ञासा की परम्परा को एक ही कोष्ठक मे बन्द नही किया जा सकता।"

इस आधार को रख कर नवीनजी सस्कृति की व्याख्या करने चल देते है। स्वाभाविक रूप से उनके निकट सस्कृति एक और अविभाज्य है। न तो उनके निकट वर्ग-सस्कृति है और न वर्ग-साहित्य। वे उपसहार के रूप में कहते है—

"मेरी मति के अनुसार सस्कृति गान्धी है, सस्कृति-विनोबा है, सस्कृति कबीर, तुलसी, सूर, जानदेव, समर्थ तुकाराम है।" इत्यादि-इत्यादि।

मै यह पूछना चाहूँगा कि भारतीय सस्कृति मे इन व्यक्तियो के अतिरिक्त गीता के कृष्ण, राम, चार्वाक, वृहस्पति, अकबर भगतसिह चन्द्रशेखर आजाद तथा आज के सैकडो ज्ञात और अज्ञात क्रान्तिकारी भी तो है। मैने केवल कुछ ही नाम गिनाए, क्योकि नाम गिनाकर सस्कृति का निरूपण सम्भव नही। इस-लिए एक विचार को लिया जाय जैसे अहिसा। यदि भारत में इसके प्रति-पादक बुद्ध से लेकर गाधी तक बहुत से महापुरुष हो गए, तो दूसरी ओर वैदिक आर्यो से लेकर कृष्ण, राम, लोकमान्य तिलक और चन्द्रशेखर आजाद तक कितने ही ऐसे महापुरुष हो गए, जो अन्यायी के बल के विरुद्ध बल-प्रयोग और युद्ध में विश्वास करते थे। प्रेम सृजनात्मक है, तो घृणा अन्यायी के प्रति भी एक सृजनात्मक शक्ति है। किसको हम भारतीय सस्कृति के प्रतीक मानेगे, बुद्ध और गाधी को या गीता के कृष्ण, राम और लोकमान्य तिलक को, जिन्होने गीता की व्याख्या की, और चापेकर बन्धु, खुदीराम की प्रशसा मे लेख लिखकर जेल काटी ?

इस कारण हमारे सुविस्तृत इतिहास मे से एक विशेष विचार को निकाल-कर उस पर भारतीयता का ठप्पा जबर्दस्ती लगा देने से कोई काम नही बन सकता। सच तो यह है कि भारतीय संस्कृति मे ऐसे बहुत से उपादान है, जो शोषणमूलक है, हमे उन्हे दूर करना पड़ेगा। इसके बाद भी हमारे पास

बहुत कुछ बचेगा जिसे लेकर हम विश्व-संस्कृति के सामने जा सकते हैं।

नवीनजी का अन्तिम वाक्य है—

'संस्कृति है आत्म-विजय, संस्कृति है राग-वशीकरण, संस्कृति है भाव उदात्तीकरण। जो साहित्य-मानव को इस ओर ले जाय, वही सत्साहित्य है।"

इस पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृति के और भी स्वरूप है, जैसे प्रकृति पर विजय, निरन्तर उत्पादन के साधनो मे उन्नति के कारण उच्चतर समाज-पद्धति मे गमन, वर्ग-संघर्ष इत्यादि। संस्कृति मे सबसे बडी बात है अपने ऊपर नहीं प्रकृति पर विजय का प्रयास, जो वर्ग-संघर्ष-मूलक शोषण-मूलक समाज के स्थापित होने के बाद भी कायम रहेगा, शायद हमेशा कायम रहे। जिसे नवीनजी आत्मविजय, राग-वशीकरण और भाव-उदात्तीकरण बताते है, वह कहाँ तक आवश्यकता तथा मनुष्यो के पारस्परिक Adjustment के कारण हुआ, और कहाँ तक 'आत्मा की पुकार' के कारण यह विचार्य है। क्या कारण है कि आदिम समाज मे मातृ-गमन और भगिनी-गमन नियम था, उस समय आत्मा की पुकार कहाँ थी, और अब क्यो इन बातो को गर्हित माना जाता है ? जिसे रागवशीकरण आदि कहा जाता है, क्या वह अन्ततोगत्वा सामाजिक आवश्यकता के दबाव के कारण विकसित नहीं हुआ ?

अन्त मे हम नवीनजी के उस संशय का निरसन करना चाहते हैं जो वर्तमान प्रगतिवादियो के विरुद्ध यह कहकर उठाया गया है कि स्वयं प्रगतिवादियो में एक मत नहीं है, उनमे कई मत और कई पथ है, एक रचयिता को एक प्रगतिवादी अच्छा कहता है तो दूसरा बुरा कहता है। इसमे सन्देह नहीं कि यह परिस्थिति श्लाघ्य नहीं है, और इससे जन-साधारण को वस्तु को समझने मे बडी दिक्कत होती है, संभव है इससे प्रगतिवाद के शत्रुओ की बन भी आती हो। पर क्या यह मतभेद अनिवार्य नहीं है ?

प्रगतिवादियो मे कई शेड का होना अनिवार्य इसलिए है कि एक सिरे पर तो वह प्रगतिवादी है जो क्रान्ति के जोश मे बजे हुए या बजाए हुए कनस्तर को संगीत मानने के लिए तैयार है, दूसरी तरफ वे लोग है जो दूसरी बातो को उतना ही महत्त्व देते है जितना उसके उद्भव स्थल को। एक तरफ वे लोग है जो दलगत साहित्य और प्रगतिशील साहित्य को करीब-करीब एक मानकर बैठे है, दूसरी तरफ वे लोग है जो दलेतर साहित्य मे प्रगतिशीलता देखने को तैयार है। रूस मे भी ये लहरे चली। वहाँ प्रथम युग मे गोर्की आदि कुछ लेखको के अतिरिक्त बाकी सब लेखक प्रतिक्रियावादी माने गए। मेरे पास टालस्टाय का एक सोवियट रूसी संस्करण था जिसमे उनको शुद्ध प्रतिक्रिया-

वादी कहा गया था, पर बाद को उनके दर्शन और कुछ रचनाओं को प्रतिक्रियावादी मानते हुए भी उनको उस्ताद माना गया। इसी प्रकार क्रमश उदारता की नीति को अपनाया गया। जैसे धर्म और धार्मिक दर्शनों म आपस मे फर्क होने से, एक मे ईश्वर मान्य होने से, दूसरे म उस पर चुप्पी साधने से, एक मे जन्मान्तरवाद मानने से, दूसरे अमान्य होने से, फिर भी धर्म और अध्यात्मवाद के मूलीभूत दृष्टिकोण एक ही है, उसी प्रकार प्रगतिवाद में कई मत-मतान्तर होने से भी वह न तो भ्रान्त प्रमाणित हो सकता है, और न उसका साहित्य-शास्त्र गलत हो सकता है। जहाँ तक मै समझता हूँ रूस की तरह यहा भी प्रगतिवादियो मे उन्ही लोगो की प्रधानता होती जायगी, जो उदार दृष्टिकोण को अपनाकर साहित्य की आलोचना करेंगे। प्रगतिवादियो मे कई ग्रेड होने से प्रगतिवाद की व्यर्थता सिद्ध न होकर बल्कि यही सिद्ध होता है कि उसमें जैसा कि उसके शत्रु सदा बताने के लिए लालायित रहते है उसमे 'रेजिमेण्टेशन आफ थाट' याने विचारो का सैनिकीकरण न होकर सोचने की स्वतन्त्रता है।